गीता-तत्त्व-मीमांसा

ग. वा. कवीश्वर

सूर्य भारती प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली-६

ISBN 81-87182-17-2

प्रकाशक : सूर्य भारती प्रकाशन
२५९६, नई सड़क, दिल्ली–११०-००६

दूरभाष : २३२६६४१२

टाइप सैटिंग : गीता कम्प्यूटर,
सी-४४६, गली न० १०, मजलिस पार्क, दिल्ली–३३

मुद्रक : स्वास्तिक ऑफसेट
नवीन शहादरा, दिल्ली–३२

प्रथम संस्करण : जुलाई, १९९२

मूल्य : १००.००

लेखक का पता–
३४-जानकी नगर
इन्दौर-१ (म०प्र०)

या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता ।
या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना ॥
या ब्रह्माच्युतशंकरप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता ।
सा माँ पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा ॥

प्रस्तावना

आद्यश्री शंकराचार्य, रामानुजाचार्य आदि एवं श्री अरविंद, तिलक, गाँधी, विनोबा, राधाकृष्णन् आदि आधुनिक भाष्यकारों का परामर्श लेकर, गीतारंभ समय अर्जुन की वास्तविक भूमिका एवं श्रीकृष्ण द्वारा दिए गीतोपदेश के नीति-दर्शन पर यह प्रबंध सर्वप्रथम मराठी में प्रकाशित हुआ। बाद में उसका अंग्रेजी संस्करण Ethics of the Gita प्रकाशित हुआ, जिसे आदरणीय डॉ. राधाकृष्णन का प्रोत्साहनपूर्ण प्राक्कथन तथा भारतीय विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की Learned Research Work के रूप में मान्यता प्राप्त है। अब उस प्रबन्ध का यह (कुछ परिवर्धित) हिन्दी संस्करण प्रस्तुत है।

इसके पूर्व खंड 'अर्जुन-मानस-मंथन' में मोहग्रस्त अर्जुन की मूल समस्या विस्तार से स्पष्ट की है। अर्जुन के बारे में कई भ्रामक धारणा (वह संन्यास मार्ग से प्रभावित था, सकामता प्रेरित था, दुर्योधन के प्रति आत्मस्नेह भाव से ग्रस्त था, भीष्मादि प्रबल शत्रुओं को जीत सकने में सांशक था, आदि) व्यक्त की गई है। इन सबका निराकरण कर, अर्जुन की वास्तविक समस्या स्पष्ट की है।

उत्तरखंड में श्रीकृष्ण के उपदेश का विवेचन, कुछ पश्चिमी नीतिशास्त्र से तुलना के साथ किया है। उसमें दो विशेष निष्कर्ष प्रतिपादित हैं। गीतोक्त आदर्श नैतिक कर्म 'निष्काम (अनासक्त) एवं निरहंकार होने के साथ कार्य' यानी परिणाम से वस्तुतः हितकारक भी होना चाहिए। इस सन्दर्भ में 'कर्म फल त्याग' का वास्तविक आशय स्पष्ट किया है। दूसरा निष्कर्ष यह है कि, गीतोक्त सर्वोच्च 'योग' न पूर्णतया कर्म संन्यास योग है और न हि आग्रहपूर्वक आमरणान्त कर्मयोग है। गीता इन दोनों का समन्वय कर 'बुद्धियोग' प्रतिपादन करती है।

आखिरी प्रकरण में गीता के कुछ सूक्ष्म स्थलों का अलग से स्पष्टीकरण दिया है। इस प्रबंध में गीता का कौन-सा श्लोक कहाँ उद्धृत एवं उल्लेखित है, यह सुलभता से जानने के लिए श्लोक-सूची भी अंत में दी है।

उपरोक्त अंग्रेजी संस्करण के प्रकाशनार्थ इंदौर के (स्व०) श्रीमंत यशवंत राव होलक महाराज द्वारा प्रोत्साहन प्राप्त हुआ था। अब इनकी सुपुत्री सौ. महारानी उषा देवी की अध्यक्षता में संचालित 'देवी अहिल्याबाई होलक शैक्षणिक न्यास', इंदौर, द्वारा इस हिन्दी संस्करण के प्रकाशन-प्रसारार्थ प्रोत्साहन प्राप्ति से मैं अन्तःकरण से कृतज्ञ हूँ।

जाते-जाते गीतोपदेश के संबंध में तीन आनुषंगिक तथ्य, जो मेरे 'महाभारत के गूढ़ रहस्य' पुस्तक में सिद्ध किए हैं, निवेदन करता हूँ। (१) गीतोपदेश की —गीता जयंती की—(अर्थात् महाभारत युद्धारंभ की) वास्तविक तिथि, वर्तमान में प्रचलित मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी न होकर उसके पूर्व की अमावस्या है। (२) गीतोपदेश के समय श्रीकृष्णार्जुन के रथ का मुँह, (जैसा कि प्रायः चित्रित किया जाता है। पूर्व में उदीयमान सूर्य की ओर न होकर, पश्चिम की ओर था। (३) हस्तिनापुर स्थित धृतराष्ट्र को संजय का गीता कथन, कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश दे रहे थे, उसी दिन उसी समय न होकर, उन्नीस दिन बाद हुआ था।

२४ जानकी नगर, इंदौर-२४२००१ (मध्यप्रदेश) —ग. वा. कवीश्वर

अनुक्रमणिका

पूर्वखण्ड : अर्जुनमानस मंथन

उत्तर खण्ड : ज्ञानोपदेश

श्रीः

गीतातत्त्वमीमांसा

पूर्व खण्ड

अर्जुन मानस मंथन

प्रकरण १

महायोद्धा का महा विषाद

प्रारंभिक

प्राचीन भारतवर्ष में कुरुक्षेत्र की रणभूमि पर भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा अपने प्रिय सखा अर्जुन को उपदेशित, तथा महाभारत महाकाव्य के रचयिता ने अपनी प्रासादिक वाणी में वर्णित, श्रीमद्भगवद्गीता इस देश में सदियों से अतीव श्रद्धास्पद रही है, तथा विदेशों में भी उसे आदर प्राप्त है। किन्तु कुछ स्थानों पर उसकी सूक्ष्म शब्दयोजना के कारण दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में भिन्न-भिन्न विचारधाराओं के अनुसार उसके श्लोकों के विविध अर्थ किये गये हैं।

अनेक पूर्व विद्वानों के प्रतिपादनों का परामर्श लेकर स्वतंत्र दृष्टिकोण से गीतोपदेश का विवेचन करने वाले इस प्रबंध में किसी को एक संदर्भ में आलोचना की हो, तो उसका अन्यत्र सहमतिदर्शक उल्लेख भी पाया जा सकेगा।

संजय का गीता कथन

महाभारत के अनुसार, कुरुक्षेत्र पर हुए कौरवपांडव महायुद्ध के पहले ही दिन लड़ाई के आरंभ समय श्रीकृष्णार्जुन का यह गीता-संवाद हुआ, जो संजय ने शेष युद्ध वृत्तांत के साथ राजा धृतराष्ट्र को कथन किया। अंध धृतराष्ट्र हस्तिनापुर में ही रहा था। महाभारत के कई अभ्यासकों में ऐसा भ्रम प्रसृत है कि, युद्धकाल में संजय भी धृतराष्ट्र के साथ हस्तिनापुर में ही रहा, तथा व्यास द्वारा प्रदत्त 'दिव्य दृष्टि' से दूरस्थ कुरुक्षेत्र की सारी घटनाएँ प्रत्यक्ष देखकर उसने धृतराष्ट्र को निवेदन की। वाराणसी से प्रकाशित 'हिंदी शब्दसागर' में संजय के विषय में लिखा है, "कहते हैं उसे दिव्य दृष्टि प्राप्त थी; अतः यह हस्तिनापुर में बैठा हुआ कुरुक्षेत्र की सारी घटनाएँ देखता था और उनका वर्णन अंधे धृतराष्ट्र को सुनाता था"।[१]

किन्तु महाभारत के अनुसार संजय स्वयं कुरुक्षेत्र में कौरवों की ओर से लड़ा था। इसके कई उल्लेख महाभारत में हैं; जो मैंने 'महाभारत के गूढ रहस्य' पुस्तक में दिये हैं। संजय को प्राप्त 'दिव्य दृष्टि' का प्रभाव इतना ही था कि, उस विशाल रणक्षेत्र पर वह किसी एक स्थान पर होता हुआ भी उसे सारे रणक्षेत्र की घटनाएँ ज्ञात होती थीं एवं योद्धाओं के मन के विचार भी ज्ञात होते थे।

यदि संजय स्वयं कुरुक्षेत्र पर लड़ता था, तो उसने राजा धृतराष्ट्र को युद्ध वृत्तांत कब निवेदन किया? इस संबंध में महाभारत कथा की सूक्ष्म योजना यह है कि, संजय ने वह वृत्तांत चार हप्तों में (हर बार हस्तिनापुर जाकर) धृतराष्ट्र से निवेदन किया; प्रथम वृत्तांत भीष्मपतन के बाद ('भीष्मपर्व'), फिर द्रोणवध के बाद ('द्रोणपर्व'), उसके बाद कर्णवध होने पर ('कर्णपर्व'), और अंत में शल्य एवं दुर्योधन का मरण होने पर ('शल्यपर्व')।

संजय के प्रथम वृत्तांत में युद्धप्रारंभ से (बल्कि उसके भी कुछ रोज पूर्व से) लड़ाई के दसवें दिन हुए भीष्मपतन तक की हकीकत आई है। इसी में संजय ने गीतासंवाद भी कथन किया। युद्धारंभ की (अर्थात् गीताजयंती की) वास्तविक तिथि (वर्तमान में प्रचलित) मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी न होकर उसके पूर्व की अमावस्या है तथा लड़ाई लगातार प्रतिदिन न होकर बीच में एक रोज छोड़कर होती थी, यह मैंने उपर्युक्त पुस्तक में बताया है। भीष्मका रणभूमि पर मरणोन्मुख अवस्था में पतन हुआ, उसके दूसरे रोज (जो बीचका एक विश्राम दिन था) संजय ने हस्तिनापुर जाकर धृतराष्ट्र को अपना प्रथम वृत्तांत निवेदन किया। तबतक श्रीकृष्णार्जुन का प्रत्यक्ष गीता संवाद होकर उन्नीस (१०+९) दिन बीत गये थे। इसी कारण महाभारतकार ने गीता में संजय के मुँह में 'आह' (१-२१), 'उवाच' (१-२५; २-१, १०), 'अब्रवीत्' (१-२८), 'उपाविशत्' (१-४७), 'बभूव' (२-९), 'अभाषत' (११-१४), ऐसे भूतकाल के प्रयोग रखे हैं। बल्कि, गीता को प्रारंभ करनेवाला धृतराष्ट्र का संजय से प्रश्न ही 'कुरुक्षेत्र पर मेरे पुत्र एवं पांडव क्या कर रहे हैं?' ऐसा न होकर भूतकालदर्शक है–

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१

"संजय, कुरुक्षेत्र की पावन भूमि पर एकत्रित हुए युद्ध करने को उत्सुक मेरे पुत्रों एवं पांडवों ने क्या किया?" तथा संजय भी अपना उत्तर भूतकालीन प्रयोग में आरंभ करता है–

संजय उवाच
दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥१-२
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३

(संजय बोला) "उस समय पांडवों की व्यूहबद्ध सेना देख राजा दुर्योधन आचार्य (द्रोण) के पास जाकर इस प्रकार बोला– २. 'आचार्य, आपके बुद्धिमान् शिष्य धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूह में खड़ी की यह पांडवों की विशाल सेना देखिये'–३".

गीता जन्म का समय

कौरवों ने पाण्डवों का इन्द्रप्रस्थ का राज्य द्यूत में कपट द्वारा छीन कर, बाद में वनवास एवं अज्ञातवास का निर्धारित समय पूर्ण होने पर भी, उसका तनिक भी अंश वापिस करने से इन्कार किया। अतः पाण्डवों के लिए युद्ध के अलावा कोई रास्ता नहीं बचा। दोनों ओर के योद्धा लड़ाई के प्रथम दिन सूर्योदयसमय कुरुक्षेत्र पर अपने अपने स्थानों पर पूरी तैयारी से खड़े थे। दुर्योधन आचार्य द्रोण के पास गया और दोनों पक्षों के प्रमुख वीरों के नाम गिनाकर (अध्याय १ श्लोक ४, ५, ६, ७, ८) अपनी सेना की प्रशंसा करते हुए बोला–

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥१-९
अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०

"(मैंने जो मेरे कुछ प्रमुख सेनानायकों के नाम लिये इनके अलावा) और अन्य अनेक शूर योद्धा मेरे लिये जीवन त्यागने को तैयार हैं, ये सभी कई प्रकार के शस्त्र चलाने में कुशल तथा युद्धविद्या के ज्ञाता हैं–९। जहाँ भीष्म द्वारा सुरक्षित हमारी सेना असीमित (अति विशाल) है, वहाँ भीम द्वारा सुरक्षित इन (पाण्डवो) की सेना सीमित है-१०"। अंत में दुर्योधन ने द्रोणसहित अपनी सारी सेना को यह आदेश दिया–

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११

'अपने सेनाविभागों में खड़े रहकर आप सब (सर्वोच्च सेनापति) भीष्म की ही सब ओर से रक्षा करते रहे'। उसके यह कहते ही–

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३

'उसे (दुर्योधन को) हर्षित करते हुए कुरुवंश के महाप्रतापी वृद्ध पितामह (भीष्म) ने सिंहनाद के साथ अपना शंख बजाया–१२. तब (कौरव सेना में) कई शंख, भेरी, पणवानक, गोमुख आदि (रणवाद्य) एकदम बजने लगे, जिनकी प्रचंड ध्वनि हुई–१३।' वह आह्वान स्वीकार कर पाण्डवों की ओर से भी वैसा ही उत्तर दिया गया–

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥१८
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९

'इसपर श्वेत अश्वों के भव्य रथ में बैठे श्रीकृष्ण एवं अर्जुन ने भी अपने दिव्य शंख बजाये–१४. श्रीकृष्ण ने पांचजन्य और अर्जुन ने देवदत्त तथा भीषण पराक्रमी भीम ने पौण्ड्र महाशंख बजाया–१५. कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय और नकुल एवं सहदेव ने सुघोष तथा मणिपुष्पक (शंख बजाये)–१६. राजन् (धृतराष्ट्र), इसी के साथ परमवीर काशिराज एवं महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न तथा विराट, और कभी पराजित न हुआ सात्यकि, द्रुपद, द्रौपदी के (पाँच) पुत्र, तथा महावीर अभिमन्यु, इन्होंने भी सब ओर से अपने अलग अलग शंख बजाये–१७, १८। वह नाद आकाश एवं (आसपास की सारी) भूमि में भी प्रतिध्वनित होकर प्रचंड हुआ, जिससे कौरवों के हृदय कंपित हो गये–१९।' किन्तु ऐसा नहीं कि कौरव सेना विचलित या भयभीत हो गयी, वह अपने स्थान पर वैसी ही व्यूहबद्ध व्यवस्थित खड़ी रही (२०)।

ऐन मौके पर अर्जुन की दयनीय अवस्था

इस युद्धोत्साह भरे वातावरण में लड़ाई प्रत्यक्ष आरंभ होने को ही थी, इतने में अर्जुन ने अपना धनुष उठाकर श्रीकृष्ण से कहा कि मैं शत्रुपक्ष पर एक अंतिम दृष्टिक्षेप करना चाहता हूँ, अतः रथ दोनों सेनाओं के ठीक मध्य ले चलिये (२०, २१, २२, २३) श्रीकृष्ण के तदनुसार करने पर, जैसे ही अर्जुन ने अपने इर्दगिर्द दृष्टि डाली, परस्पर वधार्थ उत्सुक अपने ही स्वजनों का वह समुदाय देखकर उस महापुरुष के मन में अकस्मात् परम विषाद उत्पन्न हो गया! अर्जुन के लिये लड़ाई कोई नई बात थी, ऐसा नहीं। कई दुर्दम्य शत्रुओं को जीतने वाला वह परंतप वीर था, किन्तु राज्यादि ऐहिक भोगों के हेतु अपने ही कुलबांधवादि से वह युद्ध उसे महापाप प्रतीत होने लगा और उसने उस युद्ध के लिये श्रीकृष्ण से, जो उसका सारथ्य कर रहे थे, घोर विषाद के साथ अपना इंकार व्यक्त किया।

इसी अर्जुनविषाद के निराकरणार्थ गीता का नीतिदर्शन प्रतिपादित होने से, गीतोपदेश का वास्तविक आशय निश्चित करने में अर्जुनमानस के विवेचन का महत्त्व स्पष्ट ही है।

गीता में अर्जुन-मानस-वर्णन

अर्जुन के उस विषादयुक्त मोह का गीता में यह मार्मिक विस्तृत वर्णन दिया गया है–

तान्समीक्ष्य स कौंतेयः सर्वान्बंधूनवस्थितान् ॥१-२७
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९

'वहाँ उपस्थित उन सब आप्तस्वजनों को देखकर वह अर्जुन-२७, अतीव कृपा (करुणा) से व्याकुल होकर विषाद करता हुआ इस प्रकार बोला (अर्जुन ने कहा), श्रीकृष्ण, युद्ध हेतु यहाँ एकत्र हुए इन स्वजनों को देखकर–२८, मेरे हाथपाँव शिथिल पड़ रहे हैं, मुँह सूख रहा है तथा मेरे शरीर में कंप होकर रोमांच खड़े हो रहे हैं–२९।'

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१

'हाथ से गांडीव धनुष्य खिसक रहा है, तथा त्वचा में जलन हो रही है; खड़ा रहना मेरे लिये मुस्किल हो रहा है, तथा मेरा मन भ्रमित सा हो रहा है-३०। हे केशव, मुझे (इस युद्ध के) लक्षण (परिणाम) अनिष्ट-जनक दीखते हैं; युद्ध में स्वजनों का वध कर मुझे कल्याण प्रतीत नहीं होता है-३१।'

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च
किं नो राज्येन गोविंद किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३

'कृष्ण, (इस परिस्थिति में) मैं विजय नहीं चाहता, न राज्य और न ही सुख चाहता हूँ। गोविंद! (युद्ध में स्वजनों का वध कर) राज्य से हमारा क्या भला होगा तथा भोगों एवं जीवित रहने से भी हमारा क्या भला होगा ?–३२। हमारा राज्य, भोग एवं सुख

साधनों का जिनके (रक्षणार्थ) लिये उपयोग करने की हमने इच्छा करनी चाहिये, वे ही ये (स्वजन) अपने प्राण एवं संपत्ति की चिन्ता छोड़कर इस युद्ध में (हमारे विरुद्ध) खड़े हैं– ३३।'

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥३४
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५

'आचार्य, पितृतुल्य ज्येष्ठ, पुत्रतुल्य युवक, तथा दादे, मामे, ससुर, नाती, साले एवं अन्य आप्तजन–३४, इनका, हे मधुसूदन, मात्र पृथ्वी (के राज्य) के लिये तो क्या, त्रैलोक्य के राज्य हेतु भी मैं वध करना नहीं चाहता, भले ही मेरी जान भी ले ली जाए–३५।'

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याजनार्दन
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७

'जनार्दन, धृतराष्ट्रपुत्रों का वध कर हमारा क्या भला होगा ? इन आततातियों का वध कर हमारे पल्ले तो पापही आयगा–३६। माधव, अतः इन कौरवों का, जो हमारे कुलबांधव हैं, वध करना हमारे लिये उचित नहीं; क्योंकि, स्वजनों का वध कर हम कैसे सुखी होंगे ?–३७।'

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९

"यद्यपि लोभ से बुद्धिभ्रष्ट हुए उन्हें अपनेही कुल का नाश करने में पाप तथा मित्रद्रोह का पातक नहीं दीख रहा है– ३८, फिरभी, जनार्दन, कुलक्षय का पाप स्पष्ट जाननेवाले हमको इस पापकर्म से निवृत्त होने का विचार न करना कैसा उचित होगा ?–३९"।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३
उत्संन्न कुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४

"कुल के क्षय से पुरातन काल मे चलते आये कुल धर्म नष्ट होते हैं, और धर्म नष्ट होने पर समग्र कुल पर अधर्म का प्रभाव हो जाता है–४०। कृष्ण, अधर्म प्रभावी होने पर कुलास्त्रियां दुराचारी होती हैं; और, कृष्ण, स्त्रियों के दुराचारी होने से वर्णसंकर होती है–४१। ऐसा वर्णसंकट स्वयं कुलनाशकों को तथा (समूचे) कुल को निश्चयही नरक में ले जाता है; और उनके (स्वर्गवासी) पितरोंका पिंडदान तर्पणादि क्रियाओं के अभाव में (स्वर्गसे) पतन होता है–४२। कुलघातकों के ऐसे वर्णसंकरजनक दुष्कर्मों के कारण सनातन कुलधर्म एवं सामाजिक आचारनियम नष्ट हो जाते हैं–४३। जनार्दन, जिनके कुलधर्म नष्ट होने हैं उन मनुष्यों को अवश्य नरकवास भुगतना पड़ता है, ऐसा हम सुनते आ रहे हैं–४४"।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६

"हा ! राज्यसुख के लोभ से हम स्वजनों का वध करने तैयार होकर कैसा घोर पाप करने उतारू हो गये हैं !–४५। शस्त्रहीन एवं प्रतिकार न करने वाले मुझे इस रणक्षेत्र पर शस्त्रधारी कौरव मार डालें, तो भी वह (मेरा इनका वध करने की अपेक्षा) मुझे अधिक कल्याणकारक होगा–४६"।

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७

"[संजय ने कहा,] इस प्रकार कहकर शोकाकुलचित्त अर्जुन धनुषयबाण त्यागकर रणक्षेत्र में रथ के पिछले भाग में (अपने स्थान पर) बैठ गया।"

द्वितीयोऽध्यायः

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥२-१

''[संजय ने कहा,] इस प्रकार करुणा से व्याकुल, आँखें आँसुओं से भरे डूबे, एवं विषादग्रस्त इस अर्जुन से श्रीकृष्ण यह वचन बोले।''

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥३

''[श्रीभगवान ने कहा,] अर्जुन, यह अनार्य, स्वर्गविरोधी, एवं अकीर्तिकारक हीन अवस्था इस बिकट (युद्ध) समय में तुझमें कहाँसे आ गई ?–२ वीर अर्जुन, नामर्दी की सो यह अवस्था त्याग दे, तुझे यह शोभा नहीं दे रही है; हृदय की यह क्षुद्र दुर्बलता त्याग कर (युद्ध के लिये) खड़ा हो जा–३''।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४
गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥५

''[अर्जुन ने कहा,] कृष्ण, पूजनीय भीष्म एवं द्रोण पर युद्ध में मैं उलटकर बाण कैसे डालूं ?–४''। महानुभाव गुरुओं का वध करने के बजाय इस पृथ्वीपर भीख माँगकर पेट भरना भी अच्छा होगा ! (कौरवों के) धन के बंधन में पड़े इन गुरुओं का वध कर मात्र ऐहिक भोग, और वे भी इनके खून से भींगे हमें प्राप्त होंगे (पारलौकिक तो अकल्याण ही होगा) –५।''

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥२-६
कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८

''(इस स्वजन युद्ध में) हमारा जीतना या जीता जाना क्या अच्छा होगा, यह हमारी (मेरी) समझ में नही आ रहा है; जिनका वध कर हम जीवित रहना नहीं चाहेंगे, वे ही ये धृतराष्ट्रपुत्र (युद्ध के लिये) सामने खड़े हैं–६। मेरी स्वाभाविक विवेक बुद्धि दैन्यता (दुर्बलता) से ग्रस्त होने से, धर्म (कर्तव्याकर्तव्य) के विषय में मेरे मन में मोह निर्माण होकर, मैं आपसे (मार्गदर्शन) पूछ रहा हूँ, वास्तव में क्या श्रेयस्कर होगा मुझे निश्चित बताइये, शिष्य होकर आपके पास आये मुझे मार्गदर्शन कराइए–७। क्योंकि, (समग्र) पृथ्वी पर एकमात्र एवं सुसंपत्र राज्य, या देवोंपर (देवलोकों पर) अधिपत्य प्राप्त होनेपर भी इन्द्रियों को सुखानेवाला यह मेरा (भीषण) शोक (विषाद) हटा सके ऐसा कुछ भी मुझे दीख नहीं रहा है–८।''

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९
तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०

''[संजय बोला,] वह महायोद्धा अर्जुन श्रीकृष्ण से ऐसा कहकर, तथा मैं युद्ध नहीं करूंगा बोलकर, चुप हो गया–९। राजन् धृतराष्ट्र, दोनों सेनाओं के मध्य इस प्रकार विषाद कर रहे उस (अर्जुन) से श्रीकृष्ण मानो मुस्कुराते यह बोले–१०''

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥२-११

''[श्री भगवान् बोले,] जिन बातों पर शोक करना उचित नहीं उनपर तू शोक कर रहा है, और (उलटे) ज्ञान की-सी बातें कर रहा है ! वास्तविक ज्ञानी प्राणों का जाना (मरना) तथा न जाना (जीवित रहना) इनपर शोक नहीं करते–११''।

इन श्लोकों पर मुख्यतः आधारित, तथा साथ में शेष गीता पर भी उचित ध्यान देकर, हमें अर्जुन की उस मानसिक अवस्था का विश्लेषण करना है। इस वीर योद्धा के हृदय में कर्तव्यपालन के ऐन समय पर उत्पन्न उस विषाद का वास्तव स्वरूप निश्चित

करने पर ही, उसके निराकरण में श्रीकृष्ण द्वारा दिये उपदेश का यथार्थ आशय ग्रहण किया जा सकेगा ।

---

१. श्री महादेव देसाई The Gita according to Gandhi में लिखते हैं (page 10). "Sanjaya was endowed with divine vision and without being on the battlefield narrated the happening to the blind king." कई अन्य भी ऐसाही लिखते हैं; उदाहरणार्थ देखिये "सुलभ विश्वकोश" (मराठी), संपादक दाते एवं कर्वे.

श्री :

प्रकरण २

अर्जुन और संन्यासवाद

अर्जुन पर संन्यासवादी होने का आरोप

गीतातात्पर्य निर्णय के, वैयक्तिक या गौण प्रयास छोड़कर, दो प्रमुख भिन्न पंथ या संप्रदाय हमारे सामने आते हैं– कर्मसंन्यासवादी एवं कर्मवादी। प्रथम पक्ष के अनुसार गीता का प्रमुख प्रतिपाद्य यह है कि, यद्यपि ज्ञानप्राप्तिपूर्व साधक के लिये चित्तशुद्धिकारक कर्माचरण आवश्यक है, ज्ञानोत्तर सिद्धावस्था में कर्म संपूर्ण त्यागना चाहिये। इसके विपरीत दूसरे पक्ष के अनुसार गीता का प्रमुख संदेश यह है कि, न केवल साधक मुमुक्षु अपितु सिद्ध मुक्त 'आमरणान्त' अनासक्तिपूर्वक कर्म करता रहे। प्रथम पक्ष के अध्वर्यु आद्य श्री शंकराचार्य हैं। द्वितीया पक्ष का नेतृत्व आधुनिक विद्वान् लोकमान्य तिलक को दिया जाता है। यद्यपि शंकराचार्य के भाष्य में गीता पर कुछ कर्मप्रधान भाष्यों का (पूर्वपक्ष के रूप में) उल्लेख है, वे अब उपलब्ध न होनेसे तिलक का ग्रंथ ही उस पक्ष का प्रमुख आधार माना जाता है[१]।

कर्मवादियों के अनुसार, सामने उपस्थित स्वजनयुद्ध से घृणा उत्पन्न होनेपर, अर्जुन कर्मसंन्यास की ओर झुकने लगा, तब श्रीकृष्ण ने उसे इस मार्ग से परावृत्त कर कर्मयोग का उपदेश दिया। तिलक लिखते हैं, "जब कुरुक्षेत्र में दोनों पक्षों की सेनाएँ लड़ाई के लिये सुसज्जित हो गई थीं, और जब एक दूसरे पर शस्त्र चढाने ही वाला था, कि इतने में अर्जुन ब्रह्मज्ञान की बड़ी-बड़ी बातें बतलाने लगा और 'विमनस्क' होकर संन्यास लेनेको तैयार हो गया, तभी उसे अपने क्षात्रधर्म में प्रवृत्त करने के लिए भगवान्ने गीता का उपदेश दिया है (उक्त पृ० २४ ; तथा देखिये पृ० ३१२)। "जिस सांख्य अथवा संन्यास-मार्ग के आधार को ध्यान में लाकर अर्जुन युद्ध छोड़ भिक्षा मांगने के लिये तैयार हुआ था · · · · ·" (पृ० ६३४)

किन्तु अर्जुन का संन्यासग्रहण की ओर झुकाव हो गया था, यह धारणा कर्मवादी ही नहीं, अपितु कर्म संन्यासवादी भी व्यक्त करते हैं। शंकराचार्य अपने भाष्य के आरंभ में अर्जुन के बारे में लिखते हैं, "शोकमोहाभ्यां ह्यभिभूत विवेक विज्ञानः स्वत एव क्षात्रधर्मे प्रवृत्तोऽपि तस्मात् युद्धादुपरराम। परधर्मं च भिक्षाजीवनादिक कर्तुं प्रवतृते" ('अर्जुन स्वयंही क्षत्रियधर्म के अनुरूप युद्ध को प्रवृत्त हुआ था, फिरभी शोकमोह से उसका

विवेकज्ञान दबाया जाकर वह उस युद्ध से निवृत्त होने लगा; तथा भिक्षा-जीवनादि परधर्म-संन्यासी ब्राह्मणों का धर्म-स्वीकारने वह प्रवृत्त हुवा')। इसमें आचार्य 'भिक्षाजीवनादिकं परधर्मं' कहते हैं। उनका भाष्य स्पष्ट करनेवाले आनंदगिरि उस 'आदि' शब्द में संन्यास समाविष्ट कर लिखते हैं, "आदिशब्दात् अशेषकर्मन्यासलक्षण परिव्राज्यम् आत्माभिज्ञानं इत्यादि गृह्यते" ('आदि' शब्द से संपूर्णकर्मत्यागस्वरूप संन्यास, आत्माभिज्ञान आदि किया जावे)। इसके अलावा, स्वयं शंकराचार्य ने गीता के तीसरे अध्याय को, एवं फिर उसके श्लोक १७ की, भूमिका स्पष्ट करनेमें बृहदारण्यक उपनिषद् उद्धृत कर, ज्ञानमार्गीयों के भिक्षाचर्याजीवन का कर्मसंन्यास से संबंध दिग्दर्शित किया है। इसी प्रकार कुलमिलाकर शंकराचार्य का संन्यास प्रधान दृष्टिकोण स्वीकार करनेवाले मधुसूदन सरस्वती 'गूढार्थदीपिका' में श्लोक २-६ के विवरण में लिखते हैं, "इति प्रदमामध्यायस्यार्थः स संन्यास-साधनसूचनम्, अस्मिंस्त्वध्याये 'श्रेयोभोक्तुं भैक्षमपि' इत्यत्र भिक्षाचर्योपलक्षितः संन्यासः प्रतिपादितः" (इस प्रकार जहाँ प्रथम अध्याय में संन्यासग्रहण की पूर्वतैयारी सूचित है, वहाँ इस अध्याय में 'श्रेयो भोक्तुं भैक्षमपि' शब्दों द्वारा भिक्षाचर्य से लक्षित प्रत्यक्ष संन्यास-अर्जुनद्वारा-प्रतिपादित है)।

अर्जुन के विषय में यह धारणा संन्यासवादी जो प्रमुख गीतातात्पर्य बताते हैं उससे सुसंगत प्रतीत नहीं होती। यदि शुरू से ही अर्जुन का झुकाव संन्यासमार्ग की ओर था, तो फिर सारी गीता कथन कर वही मार्ग मुख्यतः प्रतिपादन करने में क्या तुक था ? किन्तु यह आपत्ति उठायी जाने पर संन्यास पक्षीय भाष्यकार यह दलील देते हैं कि, यद्यपि अर्जुन आरंभ में संन्यास की ओर आकृष्ट हुआ था, वह पूर्ण ज्ञानसंपन्न न होने से श्रीकृष्ण ने उसे संन्यास के लिये अनधिकारी मानकर कर्म की ओर प्रवृत्त किया, फिरभी ज्ञानी के लिये गीता में अंततोगत्वा संन्यास ही प्रतिपादित है।

कई अन्य भी अर्जुन के विषाद एवं मोह का उद्‌गम संन्यास निष्ठा में देखते हैं। योगी अरविंद कहते हैं कि, मनुष्य प्रकृति के त्रैगुण्य से असंतुष्ट हो जाता है, तब वह या तो उसके 'बाहर' निर्गुणावस्था में, जहाँ सारी कर्मप्रवृत्ति का अभाव होता है, प्रवेश करना चाहता है; या फिर इस त्रैगुण्य के 'ऊपर' यानी त्रिगुणातीत अवस्था में (जहाँ अनासक्त अबंधक कर्माचरण संभव है) चला जाना चाहता है। इतना कहकर अरविंद अर्जुन की प्रारंभिक मनःस्थिति का कर्मसंन्यास की ओर झुकाव दर्शाते हुए लिखते हैं, "इनमें से पहले भाव की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है संन्यास की ओर और दूसरे भाव की प्रवृत्ति होती है प्रकृति की माँगों तथा उसकी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के चक्कर पर प्रभुत्व प्राप्त करनेकी ओर, और इसका सिद्धांत होता है समता की स्थापना तथा आवेगों और कामना का आंतरिक त्याग। अर्जुन के चित्त में पहले वही पहला आवेग हुआ था, जिसके कारण कुरुक्षेत्र में, अर्थात् युद्ध और हत्याकांड के घोर संहार-क्षेत्र में अपने वीर कर्म की दुःखद पराकाष्ठा से उसका मन फिर गया, अबतक उसका जो कर्म

संबंधी सिद्धांत था वह लुप्त हो गया और उसको ऐसा बोध होने लगा कि अकर्म अर्थात् जीवन और जीवन की मांगों का त्याग ही एकमात्र उपाय है। परन्तु भगवान् गुरु की वाणी उसे जो कुछ करने को कहती है वह जीवन और कर्म का बाह्य संन्यास नहीं है, बल्कि उनपर आन्तरिक प्रभुता की स्थापना है।"[2]

इसी प्रकार डॉ० राधाकृष्णन् कहते हैं, " गीता एक समस्या को लेकर प्रारम्भ होती है। अर्जुन युद्ध करने से इन्कार कर देता है और कठिनाइयाँ उपस्थित करता है। वह कर्म से दूर रहने और संसार को त्यागने के लिए ऐसी युक्तियाँ प्रस्तुत करता है, जो सुनने में ठीक जान पड़ती हैं। यह कर्म-संन्यास का आदर्श गीता की रचना के काल में कुछ सम्प्रदायों पर विशेष रूप से प्रभाव जमाए हुए था। अर्जुन के मत को परिवर्तित करना गीता का उद्देश्य है। · · · · सांख्य, जो गीता में ज्ञान का ही दूसरा नाम है, हमें कर्म का त्याग करने को कहता है। · · · · युंक्ति प्रयुक्त की गई कि मनुष्य को सब कर्मों को त्याग कर संन्यासी बन जाना चाहिये · · · ·"[3]। विनोबा भावे कहते हैं, "अर्जुन अहिंसा की ही नहीं, संन्यास की भाषा बोलने लगा । वह कहता है– ' इस रक्तलांछित क्षात्र-धर्म से संन्यास ही अच्छा है' "[4]।

अर्जुन-मानस के विषय में इस धारणा में कहाँ तक तथ्य है ? क्या अर्जुन वास्तव में संन्यास की ओर झुका था ?

संन्यास के विविध अर्थ

संन्यास शब्द के तीन स्थूल अर्थ प्रचलित हैं। एक अर्थ के अनुसार संन्यास यानी मुख्यतः निजी वैयक्तिक निवास त्याग कर, एवं गेरुए वस्त्र पहिन कर, हाथ में भिक्षापात्र (दंडकमंडलु) धारण करना ।

संन्यास का दूसरा अर्थ ऐहिक सुखोपभोगों के प्रति अंतःकरण में पूर्ण वैराग्य यह है। इस अर्थ से संन्यास जैसा सांख्यमार्गी कर्मसंन्यासवादियों में, वैसाही कर्ममार्गी योगियों में[5], शुकाचार्य समान मुनि में तथा जनक समान राजर्षि में, पाया जा सकता है। गीता का स्थितप्रज्ञ इस दृष्टि से संन्यासी ही होता है। श्रीकृष्ण कहते हैं–

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ५-३

"जो (किसी का भी) द्वेष तथा (किसी भी बात की) आकांक्षा नहीं करता उसे नित्यसंन्यासी मानना चाहिये; क्योंकि, अर्जुन, (इस रागद्वेष के) द्वंद्व से रहित हुआ वह सहजही (संसार के) बंधन से पूर्ण मुक्त होता है।"

'संन्यास' को तीसरा अर्थ है, ज्ञानोपासनास्वरूप सर्वकर्मत्यागात्मक सांख्यमार्ग निष्ठासाधक अवस्था में चित्तशुद्धि हेतु कर्म आवश्यक हुवा, तो भी जीवन का अंतिम लक्ष्य कर्मसंन्यास युक्त ज्ञानावस्था है, ऐसा इस पंथ का कहना है।

क्या इनमें से किसी भी आशय से अर्जुन के मन में उस समय संन्यासवाद प्रभावी था ?

क्या गीता में संन्यास की प्रशंसा एवं निंदा भी संभव है ?

युद्धारंभ के ऐन मौके पर अर्जुन की दृष्टि के सामने सांख्यप्रणीत संन्यास निष्ठा थी, इस धारणा पर चिकित्सक विचार पारंभ करने पर, प्रथम ही एक प्रश्न उपस्थित होता है, इसी सांख्य निष्ठा की श्रीकृष्ण ने गीता में प्रशंसा की है।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥५-४
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५

"सांख्य और योग को अज्ञानी भिन्न कहते हैं, ज्ञानी नहीं; इनमें से किसीभी एक का संपूर्ण पालन करनेवाला दोनों का फल प्राप्त करता है–४। सांख्य मार्ग से जो स्थान प्राप्त होता है वह योग से भी प्राप्त है; सांख्य एवं योग को जो एक देखता है वह वास्तविक जानता है–५।" श्लोक १३-२४ में भी सांख्य शास्त्र का सादर उल्लेख है। तथा सांख्य शास्त्र के प्रतिपादक कपिल मुनि का श्रीकृष्ण इस प्रकार गौरव करते हैं –

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥१०-२६

"सब वृक्षो में मैं पीपल तथा देवर्षियों में नारद हूँ; गन्धर्वों में मैं चित्ररथ एवं सिद्धों में कपिल मुनि हूँ ।" सांख्य दर्शन के प्रति प्रशंसा के ऐसे वचन कहनेवाले श्रीकृष्णही, यदि अर्जुन का उस ओर झुकाव होता, तो 'अनार्य', 'अस्वर्ग्य', 'अकीर्तिकर' (२-२) इस प्रकार, तथा इनसेभी अधिक तीव्र 'क्लैब्यं', क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं' इन तिरस्कार दर्शक शब्दों में, उसकी भर्त्सना करना क्या संभव था ?

किन्तु इसके अलावा हम अर्जुन के प्रारंभिक वचनों का ही विश्लेषण कर, क्या उनमें वस्तुतः संन्यास की ओर झुकाव दीखता है यह देखें। ऊपर उद्धृत इकतीस श्लोकों में संजय के जो प्रसंगवर्णनात्मक वचन है (१-२८ पूर्वार्द्ध, १-४७, २-१, २-९, २-१०) उन में अर्जुन पर सांख्यनिष्ठा प्रभावी होनेका कोई संकेत नहीं। तथा श्रीकृष्ण के वचनों में भी (२-२, ३, ११) वैसा संकेत नहीं; बल्कि ऊपर कहे अनुसार उनमें विपरीत संकेत देखा जा सकता है। शेष बचे स्वयं अर्जुन के २३½ श्लोक। इनमें शुरू के साढ़े तीन (१-२८ उत्तरार्ध, २९, ३०, ३१) श्लोकों में अर्जुन ने अपनी भीषण शरीरिक एवं मानसिक क्षुब्धता का चित्र खींचा है। उस अवस्था का कारण 'युद्ध हेतु यहाँ एकत्र इन स्वजनों को देखकर' (१-२८) यह बताया है; तथा वहां सांख्यनिष्ठासूचक कुछ भी नही।

अर्जुन के मन में वास्तविक वैराग्य नहीं था।

इसके बाद श्लोक १-३२ पर विचार करें। अर्जुन कहता है–

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥१-३२

किन्तु ये उद्‌गार मात्र उस विशेष परिस्थिति में भौतिक सुखभोगों के प्रति अर्जुन की सशर्त अनिच्छा दर्शाते हैं। इनका आशय यह नहीं कि, अर्जुन किसी भी परिस्थिति में राज्य, सुखभोग (बल्कि जीवित भी) हमेशा के लिये त्यागना चाहता था। कपिलवस्तु के राजपुत्र सिद्धार्थ (गौतम बुद्ध) ने रुग्णावस्था, वृद्धास्था एवं मृतावस्था के दृश्य एकबार ही देखने पर, उसके मन में सांसारिक भोगों के प्रति संपूर्ण वैराग्य जागृत हो उठा था। क्या अर्जुन के मानस में ऐसा कोई परिवर्तन उस समय हुआ था ? भाष्यकार मधुसदन अर्जुन के इस वचन में संन्यासग्रहण की पूर्व तैयारी स्वरूप 'ऐहिकफल विराग' देखते हैं ('गूढार्थदीपिका', श्लोक २-६ पर टीका)। किन्तु, अर्जुन के मन में भोगविषयक इच्छा मूलतः नष्ट नहीं हुई थी। किन्तु उसकी एक शर्त थी, जो उसने श्लोक ३५ व ३७ में दिग्दर्शित की है। स्वजनवध कर ऐहिक सुख भोगनेकी उसे इच्छा नहीं थी। उसमें उसे महापाप दीख रहा था। किन्तु इसका मतलब हुआ कि, वह पाप टालकर राज्यप्राप्ति का मार्ग स्वीकार करने अर्जुन राजी था। मेरे पिता की नाराजी स्वीकार कर मैं इस कन्या से विवाह नहीं करना चाहता ऐसा कहने वाले युवक के मन में क्या संपूर्ण ब्रह्मचर्य का उदय देखा जा सकेगा ? अपनेही आप्तजनों का वध करनेका पाप मोल लेकर राज्य उपभोग लेनेसे क्या भला होगा ? इस समस्या से चिंतित होकर, न कि ऐहिक भोगों के प्रति पूर्ण वैराग्य के कारण, अर्जुन ने उस क्षण राज्य आदि के प्रति अपनी अनिच्छा प्रकट की थी ।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन के मोह का यह स्वरूप बराबर पहचाना। अतः उन्होंने शुरु में ही अर्जुन से कहा कि, यह 'धर्म्य' (न्याय्य) युद्ध करने में कुछ भी पाप नहीं (२-३८), बल्कि यह तेरे लिये श्रेयस्कर है (२-३१)। तथा इसी विषय में अंत में फिर श्रीकृष्ण का स्पष्ट आश्वासन प्राप्त होनेपर (१८-६६), अर्जुन ने वह भीषण युद्ध अपनी खुशी से लड़ा।

अर्जुन का विरोध एक विशिष्ट कर्म को था

श्लोक १-३४ एवं ३५ में अर्जुन ने अपनी वास्तविक मनोव्यथा स्पष्ट की है।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥१-३४
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥१-३५

किसी भी हालत में तथा किसी भी लालच से अर्जुन वह 'महापाप' करने राजी नहीं था। तथा यह कहने बाद उसने श्लोक २-४ तक इसी भावना का विभिन्न प्रकार से विवरण देकर, स्वजनयुद्ध के दुष्परिणाम वर्णन किये हैं।

किन्तु इसमें भी सांख्यप्रणीत सर्वकर्मसंन्यास कहां सूचित होता है ? कर्म मूलतः ही बंधन कारक होता है, समस्त कर्मों का त्याग करना चाहिये, आदि कोई विचार अर्जुन के इस युक्तिवाद में नहीं। बात यह है कि, उसका विरोध मात्र एक विशिष्ट कर्म को था, सभी कर्मों को नहीं: तथा वह एक कर्म था, उस समय का स्वजनों से युद्ध। उसकी आपत्ति मात्र उस युद्ध से थी: सभी युद्धों से नहीं। और जहाँ तक युद्ध के अलावा अन्य लौकिक कर्मों का सवाल है, उनके त्याग की तनिक भी कल्पना उसके मनमें उस समय नहीं थी। भाष्यकार मधुसूदन श्लोक १-३१ के स्पष्टीकरण में कहते हैं, "अस्वजनमपि युद्धे हत्वा श्रेयो न पश्यामि। ···· एवमस्वजनवधेऽपि श्रेयसोऽभावे स्वजनवधे सुतरां तदभाव इति ज्ञापयितुं स्वजनमित्युक्तम्"। किन्तु अस्वजनों का भी युद्ध में वध अश्रेयस्कर है ऐसा अर्जुन का कथन नहीं है। स्वजनों के विरुद्ध, और वह भी अपने ऐहिक सुखोपभोग हेतु, शस्त्र उठाने में उसे महापाप दिखा। उस कल्पना से उसका मन तिलमिलाकर पीछे हटा, और मन पीछे हटते ही शरीर नीचे बैठ गया !

इस प्रकार अपनी प्रारंभिक भूमिका में अर्जुन का मानस कर्माचरण के क्षेत्र में ही घूम रहा था। केवल एक विशिष्ट कर्म के प्रति उसकी विपरीत धारणा हो गई थी। और वह कर्म उस समय उसका आवश्यक कर्तव्य होनेसे, अर्जुन सर्वकर्मत्याग नहीं, अपितु 'कर्तव्यत्याग' करने उद्यत हुआ था ऐसा कहना युक्तिसंगत होगा। गीता में आगे जाकर कर्मसंन्यास का उल्लेख होकर उसकी कर्मयोग से तुलना भी है; किन्तु अर्जुन का मन प्रारंभ से ही कर्मसंन्यास के प्रति झुक रहा था ऐसा कहना उचित नहीं।

क्या अर्जुन वास्तव में भिक्षाचर्य चाहता था ?

इसके बाद हम इस श्लोक पर आते हैं:

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥२-५

अर्जुन संन्यास आश्रम की ओर झुक रहा था ऐसा मानेवाले को इस श्लोक के 'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपि' इन शब्दों में आधार दीखता है। यहाँ अर्जुन कहता है कि, श्रेष्ठ गुरुजनों का वध करने के बजाय भीख मांग कर पेट भरना भी अच्छा ! किन्तु प्रथम बात यह कि, भिक्षात्रसेवन से हमेशा संन्यास-ग्रहण ही सूचित नहीं होता। सत्यपालनार्थ राजा हरिश्चन्द्र राज्यत्याग कर, किन्तु प्रत्यक्ष संन्यासग्रहण न करने, पत्नी एवं पुत्र सहित हीन जीवन व्यतीत करने निकले थे। पत्नी-पुत्रों का त्याग कर तथा मुंडन कर हाथ में

दंड-कमंडलु धारण करने का विचार अर्जुन ने व्यक्त नहीं किया है।

किन्तु भिक्षात्र सेवन यानी संन्यासाश्रम ऐसा भी माना, तो क्या गीतारंभकेसमय अर्जुन भिक्षात्र के लिये वास्तविक इच्छुक था? उसके अर्थवादात्मक-आलंकारिक-शब्दोंका यहाँ विस्मयजनक विपर्यास किया है। एक सुलभ दृष्टान्त अर्जुन का वास्तविक आशय स्पष्ट करका उपयुक्त होगा। यदि कोई व्यक्ति दप्तर में अपमानजनक व्यवहार से अति त्रस्त होकर "इस प्रकार काम करने के बजाय तो भूखा मरना 'भी' अच्छा" ऐसा कहे, तो क्या वह सचमुच ऐसा करने को इच्छुक होता है ? इन शब्दों को मात्र आलंकारिक रूप में लेकर, उस व्यक्ति को दप्तर के काम के प्रति अतीव तिरस्कार उत्पन्न हुआ है इतनाही समझना उचित होगा। इसी प्रकार जब अर्जुन तिलमिलकार कहता है कि, गुरुजनों के वध से राज्य प्राप्त करने के बजाय भिक्षात्र सेवन 'भी' अच्छा होगा, तब उसकी भिक्षात्र के प्रति वास्तविक चाह या तैयारी व्यक्त न होकर, केवल उस पारिवारिक युद्ध के प्रति अत्यधिक घृणा दिग्दर्शित होती है। फिरभी तिलक लिखते हैं, "स्वधर्म के अनुसार प्राप्त युद्ध को छोड़, भीख माँगनेपर उतारू होनेवाले अर्जुन को अपने कर्तव्य में प्रवृत्त करने के लिये गीता का उपदेश किया गया है" (पूर्व उल्लिखित, पृ० ८४८)। अन्य भी कई ऐसा ही विचार व्यक्त करते हैं।

'अपि' का आशय

अर्जुन द्वारा 'भैक्ष्यम्' (भिक्षात्र) के साथ 'अपि' याने 'भी' स्पष्ट कहने के बावजूद, अर्जुन के वास्तविक आशय का अनर्थ किया जाता है यह आश्चर्य है ! किसी वाक्य में प्रथम एक बात का उल्लेख करनेबाद कभीकभी वाक्य के उत्तरार्ध में 'अपि' ('भी') शब्द के साथ अन्य बात का उल्लेख होना है। जहाँ प्रथम विधान संमतिदर्शक हो, वहाँ 'अपि' के साथ आये दूसरे विधान से भी संमति व्यक्त होती है। किन्तु, यदि प्रथम विधान नकारात्मक हो, तो उस द्वितीय विधान में 'अपि' के साथ किया संमतिदर्शक उल्लेख मात्र अर्थवाद स्वरूप (आलंकारिक) होकर, उसमें वक्ता की वास्तविक संमति व्यक्त न होकर, केवल पूर्ववस्तु का इन्कार अधिक तीव्र सूचित होता है। आगे दिये वाक्य यह स्पष्ट करेंगे :

(१) कर्म 'क' अच्छा है; 'ख' भी अच्छा होगा ।

(२) कर्म 'क' अच्छा नहीं; इसकी अपेक्षा 'ख' अच्छा होगा।

(३) कर्म 'क' अच्छा नहीं; इसकी अपेक्षा 'ख' भी अच्छा होगा।

यहाँ प्रथम दो वाक्यों के उत्तरार्ध में 'ख' के लिये वास्तविक स्वीकृति है। इनमें से प्रथम वाक्यप्रयोग का उदाहरण गीता श्लोक ९-३०, ३१ में देखा जा सकेगा। वहाँ 'अपि' का प्रयोग कर यह आशय दर्शाया है कि, ईश्वरभक्ति करने से सदाचारी व्यक्ति का उद्धार होता है और दुराचारी का 'भी' होता है। द्वितीय वाक्य प्रयोग का उदाहरण श्लोक ३-२६ में मिलेगा, जहाँ कहा है कि, सकाम वृत्ति से क्यों न हो उचित कर्म करनेवाले सामान्य

जनोंका बुद्धिभेद कर उन्हें उन कर्मोंसे परावृत्त करना अच्छा न होकर, उसके बजाय वे उचित कर्म चालू रखने उन्हें प्रोत्साहित करना इष्ट है।

परंतु क्रमांक ३ के वाक्य में उत्तरार्ध मात्र अर्थवादात्मक है। उससे पूर्वार्ध में निर्दिष्ट 'क' का निषेध अधिक तीव्र होता है, किन्तु 'ख' के प्रति वास्तविक संमति नहीं है। ऐसे वाक्य के पूर्वार्ध में व्यक्त निषेध जितना अधिक तीव्र होगा, उतनीही उत्तरार्ध में दर्शायी संमति अधिक आलंकारिक एवं आभासस्वरूप होगी। उदाहरणार्थ —

(४) कर्म 'क' कतई अच्छा नहीं; इसकी अपेक्षा 'ख' भी अच्छा होगा !

यहाँ उत्तरार्ध में बतायी स्वीकृति पूर्णतया आलंकारिक होकर, उसका प्रयोजन पूर्वार्ध में 'क' के प्रति व्यक्त निषेध अधिक तीव्र करना है। अर्जुन का 'भैक्ष्यम्' सबंधी वचन प्रथम दो प्रकार का तो क्या, तीसरे सौम्य प्रकार का भी न होकर, चौथे तीव्रतम वाक्य के स्वरूप का है। फिरभी कितनेही अनुवादक इस श्लोक का अर्थ देने में उस 'अपि' का उल्लेख ही टाल देते हैं ! देखिये, राधाकृष्णन्, "It is better to live in this world by begging than to slay these honoured teachers" ('*The Bhagavadgita*', p.99); महादेव देसाई, "It were better far to live on alms in this world than to slay these venerable elders."[६] वस्तुतः 'भैक्ष्यम्' के प्रति अर्जुन के मन में कोई चाह नहीं थी, बल्कि घृणा ही थी। उसका वह वचन इतनाही दर्शाता है कि, जो कर्म करने की उसे बिल्कुल इच्छा नहीं थी, उससे भी वह स्वजनयुद्ध उसकी राय में अधिक हीन था; अर्थात् अर्जुन उसे बुरे से भी बुरा मानता था !

राजसूय यज्ञ के समय दिग्विजय करनेवाले, विराट-गोग्रहण युद्ध में अकेले ही विशाल शत्रुसमुदाय को पराभूत करने वाले, महाधनुर्धर अर्जुन के मन को घरघर भीख माँग कर पेट भरने की कल्पना कितनी दुःसह हुई होगी यह क्या कहना होगा ? 'भैक्ष्यम्' का 'अपि' के साथ उसने किया अर्थवादस्वरूप आलंकारिक उल्लेख स्वतंत्र अर्थवाहक मानकर, अर्जुन भिक्षाटन के लिये इच्छुक हो गया था ऐसा कहना पूर्णतया अन्यायपूर्ण है।

अर्जुन ने 'अपि' का ऐसा प्रयोग निम्न श्लोक में भी, और वह दो बार, किया है:

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥१-३५

यहाँ भी 'अपि' की ओर दुर्लक्ष्य कर क्या कहना युक्तिसंगत होगा कि, रणक्षेत्र पर अप्रतिकार अवस्था में शत्रु द्वारा मारे जाने की उसे वास्तविक इच्छा थी? इस श्लोक के उत्तरार्ध में अर्जुन के मन में उद्भूत (संन्यासग्रहण की पूर्व तैयारीस्वरूप) 'पारलौकिकफल विराग' दीखता है ऐसा भाष्कार मधुसूदन कहते हैं (श्लोक २-७ पर टीका)। किन्तु ऐहिक या पारलौकिक सुखोपभोगों के प्रति शुद्ध वैराग्य का उदय

अर्जुनमानस में उस समय नहीं हुआ था। उसका वास्तविक कहना यह है कि, त्रैलोक्य का राज्य मुझे इतना अभीष्ट होने के बावजूद, उसके हेतु भी मैं यह स्वजनयुद्ध का पाप करना नहीं चाहता हूँ।

अंत में, अर्जुन के शेष तीन श्लोकों में (२-६, ७, ८) उसने पुनः अपनी भीषण क्षुब्धता का चित्र खींचा होकर, उसमें सांख्य या संन्यास सूचक कुछ भी नहीं ।

स्पष्ट है कि, अर्जुन के मन में भिक्षान्न की वास्तविक इच्छा नहीं हुई थी। वह हुई थी ऐसा माना, तो भी उससे वह संन्यासाश्रम लेना चाहता था वह सिद्ध नहीं होता। इसके अलावा, उसके मन में संन्यस्त वृत्ति, संपूर्ण आंतरिक वैराग्यभावना, जागृत हो गई थी ऐसा भी नहीं ; बात इतनी-सी थी कि, स्वजनयुद्ध का पाप कर अर्जुन सुखोपभोग नहीं चाहता था। और अंतमें, सांख्य प्रणीत कर्मसंन्यास निष्ठा के कारण अर्जुन उस युद्ध का विरोध कर रहा था यह विधान भी निराधार है।

गीतोपदेश से परस्पर विरोधी तात्पर्य निकालने वालों ने भी अर्जुनमानस के बारेमें यह भ्रम व्यक्त करने में आश्चर्यजनक सहमति दिखाई है! पूर्व में दिये उद्धरणों के अलावा तिलक कहते हैं, "अर्जुन ज्ञानी पुरुष के सदृश बर्ताव करना चाहता था; और वह कर्मसंन्यास की बातें भी करने लग गया था।" (पूर्वउल्लिखित, पृ० ४४७)। इसी प्रकार शंकराचार्य के अनुयायी भाष्यकार मधुसूदन लिखने हैं, "भिक्षाचर्येऽर्जुनस्याभिलाषं", (श्लोक २-६ पर भाष्य, "अर्जुन को भिक्षाचर्या में 'अभिलाषा' उत्पन्न हुई")।

अर्जुन को उस समय मोह हुआ था इसमें संदेह नहीं; किन्तु उसका संबंध भिक्षाचर्य, संन्यास आदि के स्वीकार से न होकर, उसका विशिष्ट स्वरूप आगे स्पष्ट किया है।

---

१. तिलक का मूलग्रंथ "श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य" मराठी में है; मैनें यहाँ माधवराव सप्रे कृत हिंदी अनुवाद से उद्धरण दिये हैं।
२. मूल ग्रंथ अंग्रेजी में Essays on the Gita नाम से है। यहाँ उद्धरण जगन्नाथ वेदालंकार कृत हिंदी अनुवाद 'गीताप्रबन्ध' (पृ० ४९) से दिया है।
३. मूल ग्रंथ अंग्रजी में The Bhagavadgita नाम से है। यहाँ उद्धरण हिंदी संस्करण 'भगवद्गीता' (पृ० ७२-७३) से दिया है। तथा देखिये, अर्जुन है तो क्षत्रिय जाति का गृहस्थ, परंतु वह बातें संन्यासी की करता है" (पृ० ७५)
४. "गीता-प्रवचन" (पृ० १५)।
५. देखिये तिलक, पूर्व उल्लेखित, श्लोक १२-१९ पर टिप्पणी।
६. *The Gita according to Gandhi*, p. 146. किन्तु गांधीजी के मूल पुस्तक 'अनासक्तियोग' में 'अपि' का अनुवाद दिया है। इसी प्रकार श्री जयदयाल गोयंदका कृत 'तत्त्वविवेचनी' (हिंदी) टीका में भी वह दिया है।

श्रीः

प्रकरण ३

काम और मोह

अर्जुनमानस का विकार - काम या मोह ?

जहाँ पूर्व प्रकरण में उद्धृत कुछ विद्वान् अर्जुन मानस में संन्यास के प्रति अनुकूलता देखते हैं, वहाँ कुछ अन्य ऐसा तर्क देते हैं कि अर्जुन के मन में 'काम' प्रभावी हो गया था, और उस कारण श्रीकृष्णने उसे निष्कामता का उपदेश दिया। किन्तु स्वयं गीता में अर्जुन की उस समय की मनोव्यथा को 'काम' संबोधित न करके, विशेष रूप से 'मोह' कहा है। शुरूमें ही श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि, तेरा मन 'मोहकलिल' में लिप्त हो गया है (२-५२); इसके बाद भी श्रीकृष्ण कहते हैं,

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।४-३५

इसमें भी अर्जुन को उस समय 'मोह' हुआ था ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। तथा इसीके अनुरूप स्वयं अर्जुन कहता है–

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥११-१

"मुझपर अनुग्रह (कृपा) कर आपने जो अध्यात्म विषयक परम रहस्य ज्ञान कथन किया, उस आपके उपदेश से मेरा यह मोह दूर हो गया है।" इसके अलावा, गीतोपदेश के उपसंहार में भी श्रीकृष्ण अर्जुन के मोह का उल्लेख कर कहते हैं–

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥१८-६०

तथा–

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥१८-७२

"अर्जुन, क्या यह तूने एकाग्रचित्त से श्रवण किया ? धनंजय, क्या तेरा अज्ञानजन्य संमोह पूर्ण नष्ट हो गया ?" और इसपर अर्जुन उत्तर देता है–

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३

"श्रीकृष्ण, आपके कृपा से मेरा मोह नष्ट होकर मुझे (कर्तव्य की) स्मृति प्राप्त हो गई है; मेरे मन का संदेह नष्ट हो गया है, आपके उपदेश का मैं पालन करूँगा।"

काम और मोह में भेद

गीताकार 'काम' और 'मोह' में विशेष भेद बताते हैं। 'काम' का संबंध रजोगुण से है, तो 'मोह' का तमोगुण से है–

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥१४-७
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८
सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥९

"अर्जुन, रजोगुण आकर्षणयुक्त होकर तृष्णा एवं आसक्ति उत्पन्न करता है यह समझ ले; वह मानव को कर्मविषयक आसक्ति से बांधता है-७। किन्तु, तमोगुण अज्ञानजन्य होकर सब मानवों को मोह में फँसानेवाला जान ले; अर्जुन, वह प्रमाद (अनुचित कर्माचरण), आलस्य एवं (अति) निद्रा से ग्रस्त करता है-८. अर्जुन, सत्त्वगुण (श्रेष्ठ) सुख से, रजोगुण (उचित किन्तु सकाम) कर्म से, किन्तु तमोगुण ज्ञान को ढककर प्रमाद से संबद्ध करता है-९"।

इनमें से क्या रजोगुणात्मक तृष्णा एवं भोगासक्ति का तनिक भी अंश अर्जुन की उस अवस्था में दीखता है ? इसके विपरीत तमोगुण के लक्षण उसकी उस अवस्था में बराबर प्रतीत होते हैं; उसका ज्ञान ढक गया था; क्या उचित और क्या अनुचित है, यह उसके समझ में नहीं आ रहा था (२-६, ७), उसके मन पर मोह छा गया था।

गीता रज और तम में और भी यह भेद बताती है :

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१४-१२
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३
सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७

"अर्जुन, रजोगुण प्रबल होनेपर लोभ, (अ-निषिद्ध) कर्मों की ओर (सकाम) प्रवृत्ति, कर्मों की सतत इच्छा, लालसा, ये (लक्षण) होते हैं-१२। अर्जुन, तमोगुण बढ़ने से अप्रकाश (कर्तव्यज्ञान न होना), कर्मप्रवृत्ति का अभाव, प्रमाद (अनुचित कर्माचरण), तथा मोह, ये उत्पन्न होते हैं-१३। सत्त्वगुण से ज्ञान तथा रजोगुण से लोभ उत्पन्न होता

है, तमोगुण से प्रमाद एवं मोह होकर अज्ञान होता है–१७'' । इनमेंसे अर्जुन में इस समय लोभ प्रभावी नहीं था; बल्कि वह लोभ का विरोध कर रहा था (१-४५)। किन्तु उसके मन पर 'अप्रकाश' छा गया था; इस समय क्या करना उचित है, यह उसके समझ में नहीं आ रहा था (२-६, ७)।

'काम' का स्वरूप

स्थूल रूप से 'काम' में दो प्रकारकी इच्छा आती है– स्वयं के सुख प्राप्ति की तथा स्वयं का दुःख टालने की। गीता कर्मफल में अनासक्ति का आदेश देती है, तब उसका आशय स्वकर्म के सुखकारक फल की 'प्राप्ति' में, तथा दुःखदायक फल की 'अ-प्राप्ति' में अनासक्ति ऐसा है।

काम, आसक्ति, फलत्याग आदि शब्दों का मात्र सुखेच्छा से संबद्ध अर्थ करनेसे, सुखदायक कर्तव्य उसके सुखदायक परिणाम में आसक्ति न रखकर केवल कर्तव्यभावनासे किये जावे, तथा सुखदायक किन्तु अनुचित कर्म उसके सुखदायक परिणाम में आसक्ति न रखकर त्याग दिया जावे, ऐसा दोहरा आदेश तो प्राप्त होता है; किन्तु जो कर्तव्य कर्ता को दुःखदायी प्रतीत होता हो, उसके दुःखदायक फल के प्रति अनिच्छा या उद्विग्नता न रखते हुए वह किया जावे, यह गीतोपदेश का तीसरा महत्त्वपूर्ण सूत्र प्राप्त नहीं होता है। गीता मानव द्वारा स्वयं के दुःख के भय से उचित कर्म का त्याग नापसंद करती है (१८-८); तथा आदेश देती है कि, स्वयं को 'अकुशल' (दुःखदायक) प्रतीत होनेवाला उचित कर्म टालना नहीं चाहिये, तथा 'कुशल' (सुखप्रद) कर्म के प्रति आसक्ति नहीं हो (१८-१०)। सुख में आसक्त होकर अकर्तव्य न करे; तथा कर्तव्य दुःखदायक है इस कारण उसका त्याग न करे। बीमार व्यक्ति कुपथ्यकारी मिष्टान्न न खाये, तथा स्वास्थ्यकारक कटु औषध को अस्वीकार न करे।

इस प्रकार काम विकार के दो लक्षण हैं– स्वयं के सुख के लिये स्पृहा, तथा स्वयं के दुःख के प्रति उद्विग्नता। गीता इन दोनों पर नियंत्रण रखनेका आदेश देती है। इन्हें गीता में कहीं कहीं राग और द्वेष कहा है (२-६४, ३-३४, १८-५१)।

> मात्रास्पर्शास्तु कौंतेय शीतोष्णसुखदुःखदाः
> आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥२-१४
> यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ
> समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५

''अर्जुन, विषयों से (इन्द्रियों के) स्पर्श शीत-उष्णता एवं सुखदुःख के अनुभव करानेवाले, आरंभ तथा अंत होनेवाले, अनित्य होते हैं; अर्जुन, उन्हें निर्विकार मन से सहन कर–१४। अर्जुन, सुखदुःख में समान (उत्तेजना रहित) वृत्ति से रहनेवाले जिस विवेकी व्यक्ति को ये (विषयस्पर्श) क्षुब्ध नहीं करते वह अमृतत्व (मोक्ष) का पात्र होता है–१५''

स्वर्गसुख की इच्छा भी 'काम'

गीता पारलौकिक स्वर्गसुख की इच्छा भी 'काम' में समाविष्ट करती है। ''स्वर्गपर'' व्यक्तियों को श्रीकृष्ण ''कामात्मानः'' कहते हैं (२-४३)। तथा उसकी पुनरुक्ति कर उन्हें ''कामकामा'' कहते हैं–

> त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
> यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते
> ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
> मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥९-२०
> ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
> क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति
> एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
> गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१

''ऋग्वेद, सामवेद एवं यजुर्वेद इन तीनों वेदों के अनुयायी सोमरस का पान कर, पातकों से शुद्ध होकर, यज्ञोंद्वारा मेरा पूजन कर स्वर्गप्राप्ति करते हैं; एवं तदनुसार वे पुण्यवानों के देवेन्द्र लोक को जाकर वहाँ देवलोक में देवों को प्राप्त होनेवाले दिव्य भोग भोगते हैं–२०। वे उस विशाल स्वर्गलोक का उपभोग लेकर, (संचित) पुण्य समाप्त होनेपर (फिर) मृत्युलोक आते हैं (जन्म लेते हैं)। इस प्रकार वेदत्रयी में बताये मार्ग से जानेवाले वे कामभोगेच्छु बारबार आवागमन (जन्म-मरण) की अवस्था को प्राप्त होते हैं–२१''

'काम'स्वरूप न होने वाली इच्छा

अब 'काम' में समाविष्ट न होने वाली इच्छा देखें :

स्वर्गसुख की इच्छा 'काम' है, किन्तु 'मोक्ष' एवं 'श्रेय' की इच्छा 'काम' स्वरूप नहीं। गीता में कर्मफल के त्याग का उपदेश है, किन्तु उसका संबंध 'मोक्षरूप' 'फल' से नहीं (५-४)। उसे प्राप्त करने मानव सदा प्रयत्नशील रहे तथा यद्यपि अपने सुख के प्रति मानव को उदासीन रहना चाहिये, किन्तु मोक्ष के 'अक्षय' 'आत्यंतिक' सुख (५-२१, ६-२१) के परमानंद की इच्छा अवश्य करें।

इसी प्रकार यद्यपि अपने भौतिक दुःख के प्रति उद्विग्नता 'काम' विकार में आती है, नरक दुःख के विषय में उद्विग्नता उसमें नहीं आती है। यदि कोई कर्म वास्तव में नरक में ले जानेवाला हो, तो उसे त्यागना अनुचित नहीं। नरक के प्रति अपना निषेध व्यक्त करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं–

> त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः
> कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥१६-२१
> एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः
> आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२

"काम, क्रोध एवं लोभ ऐसे तीन स्वरूप से नरक के द्वार होकर, उसमें प्रवेश करनेवाला स्वयं का नाश कर लेता है, अतः इन तीनों का त्याग करना चाहिये–२१। अर्जुन, अंधकार (स्वरूप नरक) में ले जानेवाले इन तीन द्वारों से मुक्त रहकर (जो) अपने श्रेय के मार्ग का आचरण करता है, वह परम गति प्राप्त करता है–२२"। नरक को तीव्रतम नैतिक एवं आध्यात्मिक अधःपतन की अवस्था मानना युक्ति-संगत होगा।

'मोह' का स्वरूप

श्लोक १४-१३ में तमोगुण के चार परिणाम बताये हैं– अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह। 'अप्रकाश' यानी अच्छे-बुरे का कुछ भी निर्णय करने में बुद्धि की असमर्थता। अर्जुन कुलमिलाकर इस मनः स्थिति में था। 'अप्रवृत्ति' में कोई भी कर्म करने की तीव्र अनिच्छा होती है, जो अति निद्रा एवं आलस्य से आती है (१४-८)। ये तमोगुण के नकारात्मक अंग होकर इनमें कार्तव्य कर्म त्याग दिया जाता है। किन्तु 'प्रमाद' में प्रत्यक्ष दुष्कर्म करनेकी प्रवृत्ति भी आती है। अंत में 'मोह' याने तमोगुण के अन्य अंगों में कम-अधिक मात्रा में होनेवाली बुद्धि की भूल, कर्तव्य विषयक अज्ञान या भ्रम। आगामी प्रकरण में मोह का कुछ ऐसा व्यापक अर्थ लेकर उसके स्थूल भेद बताये हैं; तथा उस संदर्भ में अर्जुन के मोह का स्वरूप निश्चित किया गया है।

'मोह' एवं 'काम' में भेद फिर से स्पष्ट करता हूँ। जब व्यक्ति उचित कर्म, किन्तु फलासक्ति से करता है तब वह मोहवश न होने से केवल काम के अधीन होता है। यदि स्वार्थी हेतु न होते हुए भी वैचारिक भूल से वह अनुचित कर्म करे, तो यह काम-रहित मोह होगा। और यदि व्यक्ति अनुचित कर्म और वह भी स्वार्थवश करे, तो उसपर काम एवं मोह दोनोंका प्रभाव मानना होगा।

मोह 'काम' से ही होता है ऐसा नहीं

इस प्रकार काम के बिना भी मोह संभव होकर इस दृष्टि से अर्जुनमानस का विश्लेषण आवश्यक है। किन्तु उसके पूर्व यहाँ इन श्लोकोंपर भी विचार इष्ट होगा।

> ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते
> सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥२-६२
> क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः
> स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३
> आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा
> कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३-३९
> इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते
> एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०

"विषयों का चिंतन करनेवाले व्यक्ति को उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है आसक्ति से काम उत्पन्न होता है तथा काम से क्रोध उत्पन्न होता है, २-६२। क्रोध से संमोह उत्पन्न होता है, संमोह से विस्मरण, तथा विस्मरण से विवेकबुद्धि का नाश होता है; (अंत में) बुद्धिनाश के कारण (व्यक्ति का) पूर्ण विनाश (अधःपतन) होता है–६३"। "अर्जुन, ज्ञानियों का नित्य वैरी, मानो कभी तृप्त न होने वाला अग्नि, के सदृश इस काम द्वारा ज्ञान ढक दिया जाता है, ३-३९। इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि ये इसके आश्रय के (प्रभावित करनेके) स्थान हैं; ज्ञान आच्छादित कर इनके द्वारा यह मानव को मोहवश करता है–४०"। इसमें मोह की उत्पत्ति 'काम' से बताई होने से, अर्जुन को 'मोह' हुआ था, ऐसा गीता में कहा हो तो भी, उसके मोह के मूल में वस्तुतः 'काम' था ऐसा तर्क शायद कोई प्रस्तुत करे।

किन्तु इन श्लोकों में गीता ने 'मोह' का एक सर्वसामान्य प्रकार बताया होकर, मोह केवल 'काम' से ही संभव है ऐसा नहीं। 'काम' के अलावा भी 'मोह' संभव होकर, आगे बताये अनुसार अर्जुन का मोह उस अन्य प्रकार का था। 'मोह' बौद्धिक भ्रम होकर वह 'काम' द्वारा, या 'काम' बिना मात्र वैचारिक भूल से उत्पन्न हो सकता है। इसी लिये, आगे स्पष्ट किये अनुसार, गीता प्रतिपादन करती है कि, मानव का कर्म मात्र हेतु की दृष्टि से निष्काम इतना ही नहीं, अपितु इसके अलावा बुद्धि द्वारा यथातथ्य निर्धारित किये प्रत्यक्ष ब्यौरे में (उसके परिणामों से) 'कार्य' भी होना चाहिये ।

---

१. मुण्डक, "नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वा। इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति", १-२-१०.

श्री :

प्रकरण ४

अर्जुन का निष्काम मोह

मोह के प्रकार

गीतारंभ के समय अर्जुन की बुद्धि को मोह हुआ था यह निर्विवाद है। किन्तु मोह कामवासना से या कामवासना के बिना भी संभव होने से, क्या अर्जुन के मोह की जड़ में 'काम' (एवं क्रोध) था, ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है। उसके मोह का विशिष्ट स्वरूप क्या था ? इसलिये मोह के कितने प्रकार हो सकते हैं यह हम प्रथम देखें।

मोह के दो स्थूल भेद हैं– एक प्रकार, मात्र कर्तव्य कर्म के त्याग स्वरूप, जिसमें व्यक्ति अपना कर्तव्य त्यागता है, किन्तु उसके स्थानपर कोई विशिष्ट अनुचित कर्म भी नहीं करता; दूसरा प्रकार वह, जिसमें अकार्य कर्म का स्वीकार भी होता है। इन दो भेदों में से हर एक के उपभेद हैं। ये सब प्रकार इस तरह बनाये जा सकते हैं–

१. कार्य कर्म त्याग–
- (अ) बौद्धिक अज्ञान या भ्रम के कारण।
- (आ) निद्रा, आलस्य आदि के कारण।
- (इ) स्वयं के शारीरिक दुःख के कारण।

२. अकार्य कर्मस्वीकार–
- (अ) बौद्धिक अज्ञान या भ्रम के कारण।
- (आ) सकामता के कारण ।

अर्जुन का मोह

अर्जुन को मोह प्रथम १ (अ) प्रकार का था; वह बौद्धिक भ्रम के कारण एक कर्तव्य कर्म के त्याग स्वरूप था। ऐसे मोह में व्यक्ति वैचारिक भूल के परिणाम स्वरूप कर्तव्यपालन स्थगित करता है। फिरभी उसके बजाय किसी विशिष्ट अनुचित कर्म की इच्छा भी उसे नहीं होती। यह निष्काम मोह का नकारात्मक प्रकार है। अर्जुन काम-विकार से ग्रस्त होकर उस युद्ध का विरोध कर रहा था, ऐसा नहीं। किन्तु सामने खड़े कौरव दुष्ट आततायी है यह जानते हुए भी वे मेरे कुल बांधव होने से "पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः" (१-३६) ऐसी उसकी भ्रामक धारणा हो गई थी, जिसके कारण अर्जुन वह युद्ध टालना चाहता था।

अर्जुन के मोह का उल्लेख कर श्रीकृष्ण कहते हैं–

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥२-५२

"जब तेरी बुद्धि (इस) मोह के कीचड़ से बाहर आयेगी, तब तूने जो श्रवण किया है तथा श्रवण करना हो, उस (सब) के प्रति तेरी अनास्था (अनिच्छा) हो जायगी।" अर्जुन की बुद्धि के इस 'मोहकलिलं' का स्वरूप क्या था ? शंकराचार्य लिखते हैं, "येन विषयं प्रति अंतःकरणं प्रवर्तते" (जिसके कारण अंतःकरण विषय की ओर प्रवृत्त होता है)। किन्तु उस युद्ध से अर्जुन के इन्कार के मूल में विषयसुख की कौन-सी इच्छा थी ? वह तो त्रैलोक्य का राज्यसुख भी नकारने की बात कर रहा था। और फिर, अर्जुन पर संन्यासवाद प्रभावी हो गया था, ऐसा कहना, और दूसरी ओर उसके उस मोह में विषयोपभोग की इच्छा भी देखना कहांतक सुसंगत है ? पंडित सातवलेकर ('पुरुषार्थ बोधिनी भगवद्गीता', हिंदी संस्करण) इस 'मोहकलिलं' का संबंध प्रत्यक्ष कामवासना एवं लोभ से लगाकर, उसे दूर करने ब्रह्मचर्य आदि का भी उल्लेख करते हैं; किन्तु क्या अर्जुन स्त्री-सुख में आसक्ति के कारण उस युद्ध से परावृत्त होना चाहता था ?

उस 'मोहकलिलं' का कामस्वरूप अर्थ करनेवाले सहजही द्वितीय पंक्ति में 'निर्वेदं गन्तासि' में भोगों के प्रति वैराग्य की कल्पना करते हैं। उदाहरणार्थ, श्री जयदयाल गोयंदका (पूर्वोक्त) इस श्लोक का यह अर्थ देते हैं, "जिस काल में तेरी बुद्धि मोहरूप दलदल को भलीभाँति पार कर जायगी, उस समय तू सुने हुए और सुनने में आनेवाले इस लोक और परलोकसंबंधी सभी भोगों से वैराग्य को प्राप्त हो जायगा"। किन्तु अर्जुन का संदर्भ देखते यहाँ 'निर्वेद' का संबंध प्रत्यक्षतः ऐहिक या पारलौकिक भोगों से न होकर, अर्जुन ने पाप एवं श्रेय के बारे में जो सुना था ('इति अनुशश्रुम', १-४४) उससे है।

यही बात आगे चलाते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं–

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥२-५३

"कई सुने हुए वचनों से विचलित हुई तेरी बुद्धि जब (सत्य ज्ञान में) निश्चल (संशय रहित) हो जायगी, तथा समत्वभाव में स्थिर होगी, तब तू (परम) योग अवस्था को प्राप्त करेगा"। यहाँ प्रथम पंक्ति में अर्जुन के मोह के बारे में जो श्लोक ५२ में कहा था उसी को दोहराया है। नैतिकता के विषय में अर्जुन ने 'सुने' सामान्य वचनों से भ्रमित होकर, उसे वह धर्म्य युद्ध पापस्वरूप एवं श्रेयविरोधी लग रहा था। उस कारण विचलित हुई उसकी बुद्धि का वास्तविक ज्ञान ग्रहण कर संशय रहित 'निश्चला' होना आवश्यक था।

श्लोक ५२ में अर्जुन के 'मोहकलिल' का संबंध भोगेच्छाओं से लगानेवाले यहाँ भी 'श्रुति' का अर्थ ऐहिक तथा पारलौकिक भोगों का वर्णन करनेवाले शास्त्रवचन ऐसा करते है।लिक तथा कुछ अन्य यहाँ 'श्रुति' का अर्थ वेद कर ''श्रुतिविप्रतिपन्ना ते बुद्धिः'' का आशय 'गीता के श्लोक २-४२, ४३, ४४ (तथा ९-२०, २१) में उल्लिखित भोगैश्वर्यप्रेरक 'वेदवचनों से विचलित हुई तेरी बुद्धि' ऐसा लेते हैं।

किन्तु, वैसे भोगैश्वर्यदर्शक कामप्रेरक वेदवचनों से यदि अर्जुन की बुद्धि विचलित हुई होती, तो देवलोकों का साम्राज्य प्राप्त होनेवाला हो तो भी मैं यह युद्ध नहीं करना चाहता, ऐसा वह नहीं कहता।(१-३४, २-८)। ऐहिक या पारलौकिक किसी भी सुखभोग की आसक्ति से वह उस समय विचलित नहीं हुआ था। उसे चिंता थी निःश्रेयस याने वास्तविक आध्यात्मिक कल्याण की। सामान्य भाषा में नरक से बचना याने स्वर्ग में जाना ऐसा माना जाता है। इसलिये अर्जुन की नरक के प्रति अनिच्छा याने उसकी स्वर्गसुख की इच्छा, ऐसा अर्थ कई लेखक करते हैं। किन्तु अर्जुन नरकवास के प्रति घृणा व्यक्त करने के साथ ही, 'श्रेय' विरोधी स्वर्गसुख भी अमान्य करने को तैयार था। तथा श्रीकृष्णने भी अर्जुन के नरकभय को अनुचित नहीं बताया, किन्तु इस युद्ध से अर्जुन नरक में जायगा उसकी इस कल्पना का निराकरण किया। श्रीकृष्ण ने उसकी 'श्रुतिविप्रतिपन्नता' दूर की, वह यह थी।[१]

अर्जुन की वह विशिष्ट भ्रामक धारणा दूर करने के अलावा, श्रीकृष्णने उसके वास्तविक कल्याण हेतु उसे मात्र स्वर्गसुख का नहीं (यद्यपि अर्जुन चाहता तो उसे वह भी प्राप्त होता, २-३२, ३७), अपितु सर्वोच्च 'योग' द्वारा अंतिम मोक्ष प्राप्ति का मार्ग बताया। जहाँ श्लोक २-५३ की प्रथम पंक्ति में अर्जुन की मोहग्रस्त बुद्धि यथार्थ ज्ञान में 'निश्चला' (संशय रहित) करनेका आदेश है, वहाँ द्वितीय पंक्ति में बुद्धि आंतरिक निष्कामता एवं निरंहकारिता के साथ पूर्ण 'समत्व' में 'अचला' करने का उपदेश है। इसपर अर्जुनने स्थितप्रज्ञ व्यक्ति के विषय में अधिक माहिती पूछी (२-५४)। उत्तर में श्रीकृष्णने द्वितीय अध्याय की समाप्ति तक स्थितप्रज्ञ अवस्था का वर्णन कर, संपूर्ण गीतोपदेश में उसका विस्तार से प्रतिपादन किया। बुद्धि सत्य ज्ञान में संशयरहित 'निश्चला', एवं समत्ववृत्ति में 'अचला', होने से गीतोक्त 'योग' अवस्था प्राप्त होती है।

अर्जुन में काम-क्रोध देखने का गलत आग्रह

गीतारंभसमय अर्जुन की मनःस्थिति में 'काम-क्रोध-मोह' यह क्रम नहीं दीखता। जो अर्जुन त्रैलोक्य के राज्य हेतु भी उस स्वजनयुद्ध का 'महापाप' करना नहीं चाहता था (१-३५), उसकी बुद्धि में उस समय कामवासना के प्रभाव के बजाय उस वासना पर नियंत्रणही देखना चाहिये। तथा, आततायी दुष्ट कौरवों को रणभूमि पर उचित दंड देने के बजाय, (भ्रामक पापकल्पना के कारण ही क्यों न हो) जो स्वयं उनके हाथों मरना भी अच्छा कहता है, उसके मन में क्रोध नहीं अपितु क्रोध पर पूरा नियंत्रण दीखता है।

फिर भी मोह केवल काम-क्रोध से ही संभव है इस धारणा से आचार्य विनोबा श्लोक २-६२, ६३ की चर्चा करते हुए लिखते हैं, ''इसी काम से, गीता कहती है कि फिर क्रोध उत्पन्न होना है 'कामात् क्रोधोऽभि जायते।' .... इस जगह विचारकों की फजीहत होती हुई मालूम होती है। यह प्रश्न विकट हो बैठा है। काम से क्रोध कैसे उत्पन्न होता है ? .... शंकराचार्य ने अपने भाष्य में 'कामात् कुतश्चित् प्रतिहतात् क्रोधः अभिजायते' ऐसा हल निकाला है। वे कहते हैं– काम जब प्रतिहत होता है तो उसमें से क्रोध उत्पन्न होता है। परन्तु यदि ऐसी तरकीब निकाल ली कि जिससे वह प्रतिहत न हो तो फिर काम से क्रोध कैसे पैदा होगा ? इसका यह मतलब हुआ कि यह वाक्य कि काम से क्रोध पैदा होता है, सदा के लिये सत्य नहीं सिद्ध होगा .... यहाँ हमें यह समझना है कि 'क्रोध' का एक विशेष अर्थ है। विषयों का ध्यास लगनेसे संग उत्पन्न होता है .... उसे पाने की इच्छा होती है। यह है काम जिसमें से क्रोध को अवश्यम्भावी कहा है। यह नहीं कहा कि कभी-कभी पैदा होता हैं । अतः यहाँ क्रोध शब्द सामान्य अर्थ में नहीं आया है। क्रोध का स्थूल व हमारा परिचित अर्थ है गुस्सा, संताप। यह यहाँ अभीष्ट नहीं, बल्कि चित्त का चलन अथवा क्षोभ है। .... काम की पूर्ति चाहे हो या न हो, उसके उत्पन्न होते ही चित्त की समता चली जाती है .... मन चलित होने लगता है, अशान्ति, व्याकुलता मालूम होने लगती है। क्षोभ होता हैं। इसीको यहाँ क्रोध कहा है। .... क्रोध से मन मूढ हो जाता है– 'क्रोधात् भवति सम्मोहः'।'' ('स्थितप्रज्ञदर्शन' पृ० ६४-७०)

काम से क्रोध एवं क्रोध से मोह यह एकही क्रम विनोबा की दृष्टि में है; और उसी में उन्हें अर्जुन का मोह बैठाना है; किन्तु काम के बिना भी मोह का संभव हमने देखा है। श्लोक २-६२, ६३ में गीताकार कामवासना के सर्वसामान्य दुष्परिणाम बता रहे हैं; मोह के सभी संभव उद्गम बतानेका वहाँ उद्देश्य नहीं है। इसके अलावा, अर्जुन के उस मोह में काम नहीं था यह भी हमने देखा है। विनोबा अर्जुनमानस में कौरवों के प्रति ममता के रूप में काम देखते हैं; जिसका निराकरण आगे किया है। और क्रोध से क्षुब्धता होती है इस लिये क्रोध यानेही क्षुब्धता यह कहना कैसे उचित होगा ? भय में भी क्षुब्धता होती है, लोभ में भी है; तो क्या इन सभी को क्रोध का नाम देना चाहिए?

किन्तु बात यहीं समाप्त नहीं होती। अर्जुन को शोक-विषाद भी हुआ था ऐसा गीता कहती है। उसे भी काम-क्रोध-मोह इस शृंखला में कैसे बैठाना ? इसके लिये विनोबा आगे कहते हैं, ''अर्जुन को मोह तो जरूर हुआ, पर उसे स्थूल अर्थ में 'क्रोध' नहीं आ गया था। .... उसे इस बात पर विषाद हुआ कि ये मेरे ही अपने लोग मुझसे लड़ने के लिए तैयार खड़े हैं, और इससे उसे कर्तव्य-मोह उत्पन्न हुआ। परंतु गीता कहती है कि क्रोध से मोह पैदा होता है। अर्थात् गीता की दृष्टि में विषाद और क्रोध पर्य्यायवाची ही मालूम होते हैं। यह विषाद शब्द ध्यान देने जैसा हैं। प्रसन्नता सूचक

तीन अक्षरी 'प्र-सा-द' शब्द के बिलकुल उलटे अर्थवाला तीन अक्षरी 'वि-षा-द' शब्द है। और क्रोध का भी स्वरूप हम ऐसाही प्रसन्नताविरोधी देख चुके हैं। इस अर्थ में क्रोध व विषाद दोनों शब्द क्षोभसूचक सिद्ध होते हैं। इस प्रकार के क्षोभ से अर्जुन के मन में कर्तव्याकर्तव्य के विषय में मोह उत्पन्न हुआ।" (वही, पृ० ७७-७८)

अर्जुन का विषाद याने क्रोध यह उपर्युक्त युक्तिवाद इस प्रकार दर्शाया जा सकेगा। "विषाद प्रसन्नता विरोधी है, तथा क्रोध प्रसन्नता विरोधी है; अतः क्रोध-विषाद है।" किन्तु इस तर्क में स्पष्ट ही हेत्वाभास है। राम रावण का शत्रु है, तथा लक्ष्मणभी रावण का शत्रु है; तो क्या लक्ष्मण राम है ? वस्तुतः क्रोध एवं विषाद दो भिन्न मनोविकार हैं।

फिर, काम से क्रोध अवश्यंभावी है यह धारण भी सही नहीं। काम प्रतिहत होनेपर, उसमें बाधा आनेपर, क्रोध होता है यह शंकराचार्य का कथन उचित है। वैसा कहनेसे "कामात्क्रोधोऽभिजायते" यह सामान्य नियम खण्डित होता है यह विनोबा का आक्षेप गलत है। पत्थर से अग्नि, तथा तिल से तेल, निकलता है; फिरभी इसलिये घर्षण क्रिया आवश्यक होती है; और ऐसा कहने से वे पूर्वविधान झूठे नहीं हो जाते। गीता में ही "पर्जन्यादन्नसंभवः" (३-१४) कहा है। किन्तु पर्जन्य उपजाऊ भूमि पर गिरनेसे ही अनाज उगेगा, रेती पर या पथरीली सड़क पर गिरने से नहीं, यह अमान्य करने का गीताकार का आशय नहीं।

इस संदर्भ में कुछ और श्लोकों पर भी विचार करें। तीसरे अध्याय के अंत में अर्जुन प्रश्न करता है–

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३-३६

"कृष्ण, इच्छा न करते हुए भी, मानो कोई जबरन् ढकेलता हो, मानव किसकी प्रेरणा से पापाचरण करता है?" और इसपर श्रीकृष्ण का उत्तर इस प्रकार आरंभ होता है।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८

श्लोक ३७ की प्रथम पंक्ति में काम एवं क्रोध का अलग-अलग नामोल्लेख है; किन्तु बादमें उन दोनों के लिये द्विवचन का प्रयोग न करके एकवचन का रूप दिया होकर, वही आगे अध्याय की समाप्ति तक कायम रखा है। ये श्लोक मानव "बलात् इव" "अनिच्छन् अपि" दुष्कर्म क्यों करता है, इस प्रश्न के उत्तर में है। तीव्र काम में बाधा आकर उसका क्रोध में रूपांतर होने पर मानव उसके आवेश में कभी-कभी ऐसे दुष्कर्म करता है, जिनकी वह साधारणतः इच्छा नहीं करेगा। इस दृष्टि से इन श्लोकों

का यह अर्थ होगा, "रजोगुण से उत्पन्न, महाभक्षक (कभीभी संतुष्ट न होनेवाला), एवं महापापस्वरूप यह काम तथा (बाधित होने से रूपांतर में व्यक्त होनेवाला वही) यह क्रोध, इसे तू इस संसार में (मानव को साधारणतः इच्छा न होते हुए भी मानो जबरन पाप में प्रवृत्त करनेवाला) दुश्मन समझ–३७। जिस प्रकार अग्नि धूँए से, दर्पण मैल से, तथा जिस प्रकार गर्भ जेर से आवरणयुक्त हो जाता है, उस प्रकार इसपर (मानव के मन पर) उसका आवरण हो जाता है–३८"।

एक स्पष्टीकरण

अर्जुन के मन में पूर्ण वैराग्य उदित नहीं हुआ था ऐसा पूर्व में प्रतिपादन किया; और अर्जुन के मोह में काम या भोगासक्ति का प्रभाव नहीं दीखता ऐसा अब ऊपर कहा है। क्या इन दोनों विधानों में विसंगति है ? इनमें पूर्वविधान का आशय यह है कि, गीतारंभसमय अर्जुन के मन से सुखोपभोग की इच्छा मूलतः नष्ट न होकर सुप्त रूप में थी; तथा उसका वह युद्धविरोध भोगों के प्रति संपूर्ण वैराग्य के कारण नहीं था। अभी के विधान का आशय यह है कि, यद्यपि वह इच्छा उस समय उसके मन में विद्यमान थी, उस मोह में वह प्रत्यक्ष क्रियाशील नहीं थी।

एक उदाहरण से यह अधिक स्पष्ट हो सकेगा। वात-विकार से पीड़ित किसी व्यक्ति को यदि हैजे की बीमारी हुई, तो उस रोग का संबंध न उस वात-विकार के अस्तित्व से है, न ही उसके अभाव से। उस समय उसका वातविकार नष्ट हो गया था ऐसा कहना गलत होगा, क्योंकि वह उसके शरीर में उस समय भी विद्यमान था। किन्तु ऐसा भी नहीं कि, उस वात विकार के करण ही उसे हैजा हुआ। उस बीमारी का कारण अलग ही है। उसी प्रकार, अर्जुन को हुआ वह मोह कामविकार के संपूर्ण अभाव, यानी आंतरिक संन्यास वृत्ति, का परिणाम था, यह विधान गलत है; और वह मोह कामवासना से उत्पन्न हुआ था, यह कहना भी गलत है।

गीतोपदेश में निष्कामता का स्थान

अर्जुन के उस समय के मोह का उद्गम यदि 'काम' में नहीं था, तो गीता में निष्कामता का उपदेश क्यों पाया जाता है ? दूसरे अध्याय के अंत में स्थित-प्रज्ञ वर्णन में तो वह है ही; किन्तु इसके अलावा अन्यत्र भी कामविकार जीतने का आदेश दिया है।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥३-४१

"अतः, अर्जुन, (घोर दुष्कर्मों से बचना हो तो) तू प्रथम इन्द्रियों का नियमन कर ज्ञान-विज्ञान का नाश करनेवाले इस पापरूप कामविकार को नष्ट कर।"

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥३-४२
एवं बुद्धेः परं बुध्द्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३

"(अनुभवी ज्ञानियोंने) ऐसा कहा है कि, (बाह्य पदार्थों की अपेक्षा) इन्द्रियाँ सूक्ष्म, इन्द्रियों से मन सूक्ष्म, तथा मन से (तार्किक) बुद्धि सूक्ष्म, किन्तु जो (उस) बुद्धि से (भी) अतीत है वह (आत्मा) है ?[3]–४२ अर्जुन, इस प्रकार (तार्किक) बुद्धि के अतीत होनेवाले (शुद्ध आत्मतत्व) को पहिचान कर, तथा स्वयं पर नियंत्रण रखकर, कामस्वरूप दुर्जय शत्रु का नाश कर–४३"। अर्जुन को यह आदेश क्यों दिया ?

निष्कामता गीता का एकमेव प्रमुख संदेश नहीं। फिरभी गीतोपदेश में निष्कामता का उचित स्थान है। श्रीकृष्ण का प्रथम उद्देश्य अर्जुन को उस न्याय्य युद्ध की ओर प्रवृत्त करना यह था; फिर अर्जुन चाहे तो वह युद्ध सकाम वृत्ति से करे, किन्तु उसका त्याग न करे। अतः श्रीकृष्णने इस दृष्टि से अर्जुन के सामने सर्वसामान्य मानव का सकाम हेतु भी रखा, और वह दोनों प्रकार से– नकारात्मक रूप में (अकीर्ति, जननिंदा टले इस हेतु), तथा सकारात्मक प्रकार से (पृथ्वीपर राज्य या परलौकिक स्वर्गसुख प्राप्त हो, इस हेतु)।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥२-३२
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥२-३३
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४
भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७

"अर्जुन, दैवयोग से तुझे यह (युद्ध याने मानो) स्वर्ग का द्वार उपलब्ध हुआ है; ऐसा (न्याय्य) युद्ध (लड़ना) प्राप्त होने पर क्षत्रिय सुखी होते है- ३२। यदि तू यह धर्म्य (न्याय्य) युद्ध न करेगा, तो स्वधर्म (स्व कर्तव्य) एवं कीर्ति से वंचित होकर पाप प्राप्त करेगा–३३। तथा लोग तेरी सदैव बदनामी करेंगे; और संभावित व्यक्ति को अपकीर्ति मृत्यु से भी बढ़कर (दुःखदायी) होती है–३४। तू भय के कारण रणक्षेत्र से भाग गया,

ऐसा वीर योद्धा मानेंगे, तथा आजतक जो तेरा आदर करते आये हैं उनकी दृष्टि में तेरी प्रतिष्ठा गिर जायगी-३५। तेरे शत्रु तेरे सामर्थ्य की निंदा (मजाक) करते हुए कई अनर्गल (बेतुकी) बातें करेंगे; इससे अधिक दुखदायी क्या होगा ?–३६। अर्जुन, यदि (इस न्याय्य युद्ध में) तू मारा गया तो तुझे स्वर्ग प्राप्त होगा, और जीत गया तो तू इहलोक (में तेरा राज्य) भोगेगा, अतः (यह) युद्ध करनेका निश्चय कर खड़ा हो जा–३७।"

यही श्रीकृष्ण वैयक्तिक निंदा-स्तुति के प्रति (१२-१८, १४-२४) तथा सुखदुःख के प्रति, समान उदासीनता का उपदेश देने हैं। किन्तु उचित कर्म करते-समय रखनेकी वह आदर्श अवस्था है। वह पूर्णतया आत्मसात् होनेतक अपना उचित कर्म जननिंदा की चिंता पर या प्राप्त होनेवाले सुखों पर, दृष्टि रखकर करना इष्ट होगा।

फिर भी, अपना उपदेश उचित कर्म सकामतापूर्वक करने के सामान्य मानव स्वभाव की दुर्बलता को मान्यता देकर समाप्त न हो, इसलिये श्रीकृष्ण तुरन्त (श्लोक २-१४, १५ में शुद्ध आत्मतत्त्व के सांख्यानुसार विवेचन में निर्दिष्ट) आदर्श निष्काम वृत्ति की ओर पुनः मुड़कर बोले–

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥२-३८

"सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, इनके विषय में समान-निर्विकार-रहकर यह (न्याय्य) युद्ध कर, तुझे ऐसा करने से पाप नहीं प्राप्त होगा"। और इसके बाद श्रीकृष्ण ने इस साम्यवृत्ति का गीतोक्त योगानुसार वर्णन कर, अपने समग्र गीतोपदेश में उसका विस्तृत प्रतिपादन किया। अर्जुन को प्रथम वह युद्ध अवश्य करने का आदेश देने के बाद (२-१८, ३३, ३७), तत्त्वज्ञ श्रीकृष्ण का अर्जुन से वह युद्ध लड़ने समय, एवं जीवन में अन्य भी सब समय, व्यक्तिशः अनासक्ति रखने का उपदेश देना इष्ट हो था।

अर्जुन अपनी कोई कामवासना संतुष्ट करने के लिए उस युद्ध से इन्कार कर रहा था ऐसा नहीं। बल्कि पाण्डव वह स्वजनविरोधी युद्ध अपने राज्यभोग हेतु कर रहे थे, इसी कल्पना का शल्य (कांटा) उसके मनको असहनीय हो गया था (१-४५)। हमारी कामासक्ति हमे कहाँ तक खींच लायी, इस विचार से उसे घृणा हो गई।

क्षणिक उत्पन्न यह निष्कामता मूलतः बुरी नहीं थी। फिरभी भ्रम से वह अर्जुन को कर्तव्य के ही त्याग की ओर ले जानी लगी, और वह उस युद्ध से, जो मूलतः सत्य एवं न्याय की व्यापक प्रस्थापना हेतु था, विमुख होने लगा। यदि कामवासना के प्रति घृणा के कारण वह कोई वस्तुतः अकार्य कर्म त्यागता तो बात अलग होती। किन्तु, बौद्धिक भ्रम के कारण अर्जुन के मन में उस युद्ध के वास्तविक स्वरूप के बारे में गलत धारणा हो गई, और वह उस युद्ध से इन्कार करने लगा।

अर्जुन के भ्रामक विचार

यहाँ तक देखे अनुसार अर्जुन का मोह 'काम' प्रेरित न होकर, मूलतः बुद्धि-भ्रम

था। स्वजन अति दुष्ट हो तो भी उनके विरुद्ध प्राणघातक युद्ध, और वह भी स्वयं के राज्य-सुख हेतु, महापाप है, ऐसी अर्जुन की धारणा हुई थी। वैसे तो अर्जुन ने इसके पूर्व अज्ञातवास समाप्ति समय गोग्रहण युद्ध में इन्हीं स्वजनों पर शस्त्र चलाया था। किन्तु यद्यपि उसमें उसने कई सैनिक मारे, दुर्योधन, भीष्म, द्रोण आदि स्वजन या गुरुजन का वध नहीं किया था; उन्हें सिर्फ घायल कर उसने राजा विराट की गायें छुड़ा ली थीं। इसका प्रमाण उसी समय भीष्म ने दुर्योधन से कहे इस वचन में प्राप्त होता है–

न त्वेष बीभत्सुरलं नृशंसं
कर्तुं न पापेऽस्य मनो विशिष्टम्
त्रैलोक्यहेतोर्न जहेत् स्वधर्मं
सर्वे न तस्मान्निहता रणेऽस्मिन् ॥

(विराटपर्व अध्याय ६६), "यह अर्जुन दुष्ट आचरण नहीं करता है, न ही इसका मन कभी पाप की ओर जाता है, त्रैलोक्य के राज्य के लिये भी यह अपना धर्म नहीं छोड़ता है, और इस लिये इसने इस लड़ाई में हममें से किसीका भी वध नहीं किया है।"

इसके विपरीत, वर्तमान युद्ध प्राणांतक था। दुर्योधन जीते जी पांडवों का राज्य 'सुई की नोक' के बराबर भी लौटाने तैयार नहीं था। अर्जुन भी यह जानता था (१-३३)। अतः कुरुक्षेत्र पर इस युद्ध में अर्जुन द्वारा स्वजनवध अपरिहार्य था (१-३५, ३६, ३७, ४५ ; २-५, ६)। इसके अलावा, गोग्रहण युद्ध अर्जुन ने राजा विराट की ओर से लड़ा था। किन्तु वर्तमान युद्ध अर्जुन की दृष्टि में स्वयं पांडवों के 'राज्य-सुख लोभ' हेतु था। उस स्वार्थी उद्देश्य का उल्लेख करते ही वह उस युद्ध को 'महापाप' कहने लगा (१-४५)।

ऐसे विचारों से उसके मन में भ्रम पैदा होकर, उसकी विवेक बुद्धि एक उचित ('कार्य') कर्म को अनुचित ('अकार्य') समझने लगी।

शुद्ध आत्मस्वरूप

अर्जुन के मोह में स्वजनों का 'वध' करने की कल्पना को विशेष स्थान होने से श्रीकृष्ण ने शुद्ध आत्मस्वरूप का विवेचन आरंभ किया। किसी का भी वर्तमान जीवन उसके आत्मा का आदि-अंत न होकर, आत्मा वर्तमान जीवन के पूर्व या तथा बाद में भी अस्तित्व में रहेगा। (यह बताते हुए) श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं :

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥२-१२

"मैं (इस जन्म के) पूर्व अस्तित्व में नहीं था ऐसा नहीं, तू नहीं था ऐसा नहीं, और ये राजा नहीं थे ऐसा नहीं; तथा हम सब इस (जन्म) के बाद फिर नहीं होंगे, ऐसा भी नहीं"। सामान्य परिभाषा में जिसे 'मृत्यु' कहा जाता है वह आत्मा का मात्र 'देहान्तर' होकर, हर प्राणी को नैसर्गिक क्रम में प्राप्त होनेवाली वह एक अनिवार्य घटना है।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा
तथा देहांतरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥२-१३

"देहधारी (प्राणी) को देह में जिस प्रकार बाल्यावस्था, युवावस्था एवं वृद्धावस्था (प्राप्त होती हैं), उस (मृत्युरूपी) देहान्तर की (एक देह त्यागकर दूसरा ग्रहण करने की) प्रकार अवस्था प्राप्त होती है; सुज्ञ उस बारेमें मोह में नहीं पड़ते (शोक नहीं करते)"। इस संदर्भ में जड़ मर्त्य जग से सर्वोच्च चैतन्यतत्त्व का भिन्नत्व स्पष्ट करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं–

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः
उभयोऽपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥२-१६
अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७

"जो मूलतः असत् है (वह भलेही कुछ समय इन्द्रियों को प्रत्यक्ष प्रतीत हो) उसका नित्य (शाश्वत) अस्तित्व नहीं होता (उसका विनाश अवश्य है); तथा जो सत् है (वह भलेही कुछ समय इन्द्रियों को प्रतीत न हो) उसका अस्तित्व कभी भी नष्ट नहीं होता (उसका विनाश असंभव है); तत्त्ववेत्ताओं ने इन दोनों पर आखिरतक (संपूर्ण) चिंतन कर यह अनुभव किया है–१६। जिस (सर्वोच्च चैतन्य) ने यह सारा (विश्व) व्याप्त किया है, इसे अविनाशी जान; इस शाश्वत का कोई भी विनाश नहीं कर सकता –१७" और चूंकि हर व्यक्ति का आत्मा मूलतः उस सर्वव्यापी परम चैतन्य तत्त्व का अंशरूप है (१०-२०, १३-३१, १५-७) –

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥२-१८
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९
न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१

"शरीरधारी (आत्मा) नित्य, अविनाशी एवं शाब्दिक वर्णनातीत होकर, उसके ये शरीर नाशवान् कहे गये हैं; अतः (यह ध्यान में लेकर) (यह न्याय्य) युद्ध कर– १८। जो इस आत्मा को मारनेवाला समझता है, तथा जो इसे मारा गया समझता है, वे दोनों ही (सत्य) नहीं जानते; (इसके विशुद्ध स्वरूप में) यह वध नहीं करता है, और न ही उसका

वध किया जा सकता है"–१९। यह (आत्मा) कभी भी जन्म नहीं लेता तथा मरता नहीं; यह एक बार (शरीर द्वारा व्यक्त) होकर पुनः (व्यक्त) नहीं होगा ऐसा नहीं; यह जन्मरहित, नित्य, शाश्वत एवं सनातन होकर शरीर के मारे जानेपर नहीं मारा जाता"–२० अर्जुन, जिसने इस अविनाशी, नित्य, अजन्मा, शाश्वत (आत्मा) को जाना, वह व्यक्ति कैसा किसी को मारेगा या मरवायेगा ? – २१"।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२-२२

"जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्र त्यागकर दूसरे नये परिधान करता है, उसी प्रकार देहधारी आत्मा पुराने शरीर त्यागकर दूसरे नये धारण करता है"।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२-२३
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५
देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०

"इस (आत्मा) को शस्त्र काट नहीं सकते, इसे अग्नि जला नहीं सकता, इसे जल डुबोकर नष्ट नहीं कर सकता तथा वायु इसे शुष्क (चैतन्यहीन) नहीं कर सकता-२३। यह काटा न जानेवाला, जलाया न जानेवाला, डुबाकर नष्ट न किया जानेवाला, तथा शुष्क न किया जानेवाला होकर, नित्य, सर्वव्यापी, चलन रहित, स्थिर एवं शाश्वत है–२४। यह आत्मा अव्यक्त (इन्द्रियों द्वारा अनुभव न होनेवाला), अचिन्त्य (तर्क द्वारा आकलन न होनेवाला), तथा अविकारी कहा गया है; अतः इसका यह स्वरूप जानकर तुझे शोक करना उचित नहीं- २५। अर्जुन, सबके शरीरों में बसने वाला यह शरीरधारी आत्मा नित्य (अविनाशी) होकर, इसका वध करना असंभव होनेसे, किसी प्राणी (की मृत्यु) पर तुम्हें शोक करना उचित नहीं–३०"।

वैयक्तिक पुरुष की दो अवस्थाएँ

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उस युद्ध का औचित्य केवल इस आध्यात्मिक आधार पर बताया न होकर, आगे दर्शाये अनुसार लौकिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से भी पांडवों के लिये वह युद्ध लड़ना उचित कहा है। किन्तु इसके अलावा, गीता में "नायं हन्ति न हन्यते" (२-१९) ऐसा जो वचन है उनका भी वास्तविक आशय जान लेना आवश्यक है।

गीता व्यक्तिरूप 'पुरुष' तत्त्व की दो अवस्थाएं या स्तर मानती है–'क्षर' (जन्म-मरणाधीन) एवं 'अक्षर' (अविनाशी)।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१५-१६

"इस लोक में क्षर (नाशवान्, परिवर्तनशील) एवं अक्षर (अविनाशी) ऐसे दो (प्रकार के) पुरुष हैं, इनमें से 'क्षर' सब जीवों में (भिन्न भिन्न व्यक्तित्व धारण कर) रहनेवाला होकर, उसके विशुद्ध (कूटस्थ) स्वरूप को 'अक्षर' कहते हैं"। यह पुरुष भेद ध्यान में न लेने से कुछ लेखक यहाँ 'क्षर' का अर्थ विनाशी देह ऐसा कर उसका संबंध व्यक्त अचेतन प्रवृत्ति से लगाते हैं। जयदयाल गोयंदका इस श्लोक का यह अनुवाद देते हैं, "इस संसार में नाशवान् और अविनाशी भी, ये दो प्रकार के पुरुष है। इनमें सम्पूर्ण भूतप्राणियों के शरीर तो नाशवान् और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है"; इसमें 'क्षर' पुरुष यानी शरीर और 'अक्षर' पुरुष को जीवात्मा माना है। तिलक भी इस श्लोक के स्पष्टीकरण में लिखते हैं 'क्षर यानी नाशवंत पंचभूतात्मक व्यक्त पदार्थ यह अर्थ स्पष्ट है'। किन्तु श्रीकृष्ण यहाँ पुरुष के ही दो रूप बता रहे हैं। प्रकृति का भी व्यक्त 'क्षर' रूप होता (८-४); किन्तु यहाँ प्रकृति का विवेचन न होकर चैतन्ययुक्त 'पुरुष' तत्त्व का विवेचन है। मराठी संत ज्ञानेश्वर ने अपने गीताभाष्य में यहाँ 'क्षर' का संबंध चैतन्य युक्त 'पुरुष' तत्त्वसे लगाया है।

वैयक्तिक स्तर पर ही 'क्षर' एवं 'अक्षर' पुरुष में यह भेद ध्यान में लिये बिना गीतोक्त नीतिसिद्धांत का वास्तविक आशय स्पष्ट नहीं हो सकेगा। हम इनमें 'क्षर' पुरुष को 'जीवात्मा' तथा 'अक्षर' पुरुष को 'शुद्धात्मा' कहें। जीवात्मा दैनंदिन जीवन में व्यवहार करता है; शुद्धात्मा उसका मूल रूप है। अर्जुन के उस समय के कर्तव्य का, एवं संपूर्ण मानव जीवन तथा कर्माचरण का, विवेचन करने में श्रीकृष्ण ने शुद्धात्मा के अलावा क्षर जीवात्मापर भी उचित ध्यान किया है।

सर्वोच्च परमात्मा (परम अक्षर पुरुष) वैयक्तिक जीवात्मा एवं शुद्धात्मा इन दोनों के परे है (१५-१७)। वैयक्तिक शुद्धात्मा मूलतः परमात्मा का ही अंश है (१३-३१, १५-७)। शुद्धात्मा प्रकृति के तीनों गुणों के अतीत होता है (१४-१९)। इसके विपरीत 'क्षर' पुरुष (जीवात्मा) ऐन्द्रिक सुखोपभोग में लिप्त रहता है (१३-२१)।

'अविनाशी' 'नायं हन्ति न हन्यते', 'न जायते म्रियते वा कदाचित्', 'अकर्ता' आदि गीता के वचन शुद्धात्मा के लिये हैं। जीवात्मा जन्ममरणाधीन एवं विभिन्न दैनंदिन कर्म करनेवाला है। श्रीकृष्ण का प्रतिपादन मात्र "नायं हन्ति न हन्यते", तथा 'जो इस आत्मा को मारनेवाला एवं मारा गया समझते हैं वे दोनों अज्ञानी है' (२-१९) इतनाही होता, तो स्वयं उन्होंनेही अर्जुन को उस (न्याय्य) युद्ध में शत्रुओं को मार ('जहि' ११-३४)

यह आदेश कैसे दिया होता ? तथा "न जायते म्रियते वा कदाचित्" (२-२०) इतनाही प्रतिपादन करना होता, तो श्रीकृष्ण जन्ममरणचक्र से अंतिम मुक्ति (२-५१, ५-१७, ७-२९, ९-३, १३-८, १४-२०), तथा "स्वधर्मे निधनं श्रेयः" (३-३५) ऐसा उपदेश क्यों करते ?

आत्मा को "नैव कुर्वन् न कारयन्" (५-१३) बताते हुए भी, श्रीकृष्ण कर्ता तीन प्रकार का होता है ऐसा कहते हैं–

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥१८-२६
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥१८-२८

"आसक्ति रहित, अहंकारहीन, दृढनिश्चयी एवं उत्साही, यश एवं अपयश दोनों में समान निर्विकार (क्षुब्धता रहित) (न यश से प्रफुल्लित, तथा स्वयं के उचित प्रयास के बाद अपयश आनेपर न हि उद्विग्न) कर्ता सात्त्विक कहा जाता है–२६ भोगासक्त, कर्मफल चाहनेवाला, लोभी, हिंसक, अशुद्ध रहनेवाला, हर्षशोक करनेवाला, कर्ता राजस कहा जाता है-२७ अनियंत्रित वृत्ति का, असंस्कृत मानस का, हठवादी; लुच्चा, ठग, आलसी, विषादी, अपना काम विलंब से करनेवाला, कर्ता तामस कहा जाता है-२८"।

शुद्धात्मा का अमर्त्य स्वरूप, एवं प्रकृति से संबद्ध होकर ऐहिक जीवन में लिप्त उसका व्यावहारिक रूप, ये दोनों अध्याय १३ के इन श्लोकों में स्पष्ट दिग्दर्शित है–

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभववान् ॥१३-१९
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३

"(मूल अव्यक्त) प्रकृति एवं पुरुष ये दोनों ही अनादि जान; तथा ('क्षेत्र' के) विकार एवं (सत्त्वरजतम) गुण प्रकृतिजन्य समझ ले (वे प्रकृति से उद्गम पाकर उसी में विलीन होते हैं)–१९। शरीर (कार्य) एवं इन्द्रियाँ (करण) इन्हें उत्पन्न करने में प्रकृति को कारण

बताया गया है; (उनके व्यवहार से होनेवाले) सुखदुःख भोगने में (जीवात्मारूप) पुरुष कारण कहा गया है–२०। प्रकृति (जन्य शरीर) में स्थित (जीवात्मारूप) पुरुष प्रकृति के (सत्वरजतम) गुणों (से युक्त विषयों) का उपभोग लेता है; इन गुणों के साथ संग (संबंध) अच्छी-बुरी योनियों में (उसके) (पुनर्) जन्म का कारण होता है–२१। प्रकृति जन्य देह की क्रियाएँ समीप से देखनेवाला, (उन्हें) अनुमोदन देनेवाला (जिसके अनुमोदन से ही वे होती हैं), (देह का) पालन पोषण करनेवाला, तथा (देहकी क्रियाओं से उत्पन्न) सुखदुःख भोगनेवाला, ऐसा इस देह में (जीवात्मा रूप से) विचरनेवाला, किन्तु (मूलतः) देह के परे होनेवाला, जो पुरुष (शुद्धात्मा), उसे (अंशरूप) परमात्मा भी कहा है–२२ जो इस प्रकार (गुणातीत) 'पुरुष' को एवं गुणों से युक्त प्रकृति को (वास्तविक रूप में) जानता है, वह सब (किसीभी) प्रकार का (कार्य) कर्माचरण करता हुआ भी फिर जन्म प्राप्त नहीं करता-२३"।

अक्षर शुद्धात्मा कर्म नहीं करता है, फिर भी जीवात्मा कर्म करता है यह ध्यान में लेकर श्रीकृष्ण कार्य एवं अकार्य कर्म में, तथा निष्काम एवं सकाम वृत्ति में, भेद बताते हैं; और अर्जुन को आदेश देते हैं कि, (उस समय के उस युद्धसह) कार्यकर्म निष्काम एवं निरहंकार वृत्ति से किये जावें (३-१९)।

गीता में प्रतिपादित वैयक्तिक आत्मा का यह द्विविध रूप वेदोपनिषदों के अनुसारही है। इस विषय में मुण्डक (३-१, २, ३) तथा श्वेताश्वतर उपनिषदों में ये प्रसिद्ध श्लोक हैं–

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाने
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः
जुष्टं सदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥

इन श्लोकों में (संसार रूप) एकही वृक्षपर बैठे दो पक्षियों का उल्लेख होकर, उनमें से एक पक्षी वृक्ष के फल आसक्तिपूर्वक खाता रहता है, तो दूसरा उन फलों की ओर निर्विकारता (अनासक्ति) पूर्वक केवल देखता रहता है। स्वाभाविक ही प्रथम पक्षी सदा असंतुष्ट एवं शोकमोहग्रस्त रहता है; किन्तु जब वह उस दूसरे आत्मसंतुष्ट पक्षी की श्रेष्ठ वृत्ति पहचानता है, तब स्वयं भी शोकरहित हो जाता है। यही कल्पना ऋग्वेद (१-१६४-२०) एवं अर्थर्ववेद (९-१४-२०) में है।

श्रीकृष्ण ने आत्मा जन्ममरणरहित है मात्र इतनाही प्रतिपादन कर अर्जुन को उस युद्ध के लिय प्रवृत्त किया ऐसा नहीं। शुद्ध आत्माका स्वरूप विशद करने बाद उन्होंने कहा–

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥२-२६

जातस्य हि ध्रवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८

"अर्जुन, और यदि तू इसे हरबार जन्म लेनेवाला एवं हरबार मरनेवाला मानता हो, तो भी तुझे इसके विषय में शोक करना उचित नही-२६। क्योंकि, (इस धारणा के अनुसार) जन्म लेनेवाले का मरण अटल तथा मरनेवाले का (पुनर्) जन्म निश्चित है; तो फिर अटल बात पर तुझे शोक करना उचित नही-२७। अर्जुन, प्राणियों का उद्गम अव्यक्त होता है, बादमें मध्य (इहलोक में जीवित) अवस्था में वे व्यक्त होते हैं, तथा मृत्युसमय पुनः अव्यक्त हो जाते है; यह देखते (जिस अव्यक्त अवस्था से वे आते हैं उसीमें उनके वापिस जानेसे) उसपर शोक क्यों करना ?–२८"।

श्रीकृष्ण ने कहा कि, विशुद्ध आत्मतत्त्व का विवेचन अलग रखकर, हर व्यक्ति की मृत्यु होती है इस सामान्य दृष्टि से विचार किया जाय तो भी, अर्जुन के लिए उस न्याय्य युद्ध में कौरवों का वध होनेपर शोक करनेका कारण नहीं। अर्जुन के लिये 'धर्म्यत्व' यह उस युद्ध का महत्त्वपूर्ण स्वरूप था। कौरव अति दुष्ट एवं दंडनीय 'आततायी' थे। यह अर्जुन को भी मान्य था (१-३६,३८)। इस 'आततायी' शब्द का पूरा आशय आजकल प्रायः ध्यान में नहीं आता है। मनुस्मृति में इस विषय में यह श्लोक है–

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन (८-३५०, ३५१)

"आततायी व्यक्ति सामने आनेपर यह गुरु, या बालक, वृद्ध या विद्वान् ब्राह्मण है, इसका विचार न करते हुए निःसंकोच उसका वध किया जावे; आततायी के वध से कोई दोष नहीं लगता"। किन्तु ऐसा होने पर भी, ये कौरव हमारे कुल बांधव होनेसे हमने उनका वध, और वह भी अपने राज्यसुख हेतु, करना महापाप होगा, यह उसकी बुद्धि को भ्रम हो गया था। अतः श्रीकृष्ण का अत्मतत्त्वविषयक सारा विवेचन वह युद्ध आततायी अतिदुष्टों के विरुद्ध है, इस अर्जुन को भी मान्य भूमिका की पार्श्वभूमि में किया होकर, श्रीकृष्णने वह युद्ध 'धर्म्य' यानी समाज में न्यायप्रस्थापनार्थ आवश्यक है, यह स्पष्ट कह भी दिया। ऐसे न्याय्य एवं आवश्यक कारण बिना किसी की भी मृत्यु कहिये या देहान्तर कहिये घटित करना अति अनुचित है, यह श्रीकृष्ण का भी कहना था। वे ऐसे कर्म को 'हिंसा' संबोधित कर उसका तीव्र निषेध करते हैं (१६-१४; १८-२५, २७)

आत्मा के शुद्ध रूप का विवेचन अर्जुन को उस युद्धसहित सब कर्तव्य करते समय संपूर्ण निष्काम साम्यवृत्ति रखने के आदेश की पुष्टि करने के लिये किया था। इसी

प्रकार गीतोपदेश में सर्वोच्च सर्वव्यापी 'ब्रह्म' का विवेचन कर्तव्य करने में निरहंकारिता एवं अपना कर्म मन से परमेश्वरार्पण करने की वृत्ति साध्य हो इस दृष्टि से किया है (३-३०, ५-१०, १२-६, १८-५७)।

उस युद्ध का मूल प्रयोजन

यह युद्ध मात्र हमारे राज्यसुख हेतु लड़ा जा रहा है, ऐसी अर्जुन की धारणा हुई थी। इसके विपरीत, श्रीकृष्ण उस युद्ध के मूल में समाज के भीतर न्याय की प्रतिष्ठापना का व्यापक उद्देश्य देखते थे। इस दृष्टि से उन्होंने अर्जुन को अपना विश्वरूप दिखाकर कहा कि, मैं धर्म एवं न्याय का स्वामी 'काल' होकर (११-३२), तेरे इन दुष्ट दुष्मनों की मृत्यु मैनें निश्चित की है, और अब तू वह निर्णय ईश्वरी न्याय का मात्र निमित्त (साधन) बनकर इस युद्ध मे प्रत्यक्ष क्रियान्वित कर, "निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्" (११-३३)। श्रीकृष्ण दुराचारियों को सब प्रकार उचित दंड दिये जाने में मूलभूत शक्ति है–

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥१०-२९
दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८

"नागों में मैं अनंत ('शेष') नाम का नाग हूँ; जलचरों का अधिपति वरुण मैं हूँ; पितृगणों में मैं अर्यमा हूँ; तथा शासन करनेवालों में मैं (संपूर्ण न्याय पालन करनेवाला एवं करवानेवाला) यमदेव हूँ–२९"। "दुराचारियों को दंड देनेवालों की दंडशक्ति मैं हूँ, जय चाहनेवालों की न्यायबुद्धि मैं हूँ, पवित्रतम आध्यात्मिक रहस्यों का शब्द से परे अनिर्वचनीय स्वरूप मैं हूँ; और ज्ञानवानों का ज्ञान मैं हूँ–३८"।

क्या अर्जुन को इस युद्ध के लिये प्रेरित करने में स्वयं श्रीकृष्ण का कोई लाभ था? उन्हें प्राप्त करना है ऐसा कुछ भी नहीं (३-२२); तथा मात्र संसार में सुस्थिति रहे इस हेतु वे कर्म करते हैं–

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥४-६
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८

"मै (मूलतः) जन्मरहित (अनादि) एवं अविनाशी (मृत्युहीन) आत्मा, तथा (समग्र) प्राणियों का स्वामी, होकर भी स्वयं की प्रकृति द्वारा अपनी योगशक्ति से (विशिष्ट समय पर विशिष्ट रूप में) जन्म लेता हूँ–६। अर्जुन, जब जब धर्म को दुर्बलता प्राप्त होकर अधर्म

प्रवल होना है, तब मैं (इस संसार में) स्वयं जन्म लेता हूँ–७। सज्जनों की रक्षा, दुर्जनों का विनाश, तथा धर्म (सत्य पर आधारित नैतिकता एवं न्याय) की पुनःस्थापना हेतु मैं युगयुग में जन्म लेता हूँ–८"

शकुनि ने कपटपूर्ण द्यूत किया था। किन्तु इसके बाद भी पांडवों ने द्यूतसमय की शर्तें पूरी करने के बावजूद उन्मत्त दुर्योधन ने उनका राज्य (मात्र पाँच गाँव भी) लौटाने इन्कार किया था। कोई सामान्य नागरिक अन्य किसी व्यक्ति की संपत्ति का ऐसा अपहरण करे तो उसके विरुद्ध देश के शासक के पास न्याय मांगा जा सकता है, किन्तु शासकही ऐसा घोर अन्याय करने लगे, तो उसका क्या इलाज ? फिर "यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः" (३-२१) इस प्रथा के अनुसार सारे समाज पर उसके कैसे दुष्परिणाम होंगे ? इस संदर्भ में श्रीकृष्ण ने कौरवों के विरुद्ध उस युद्ध का औचित्य देखा।

अर्जुन ने कहा था कि अपने गुरु, स्वजन, एवं मित्र इनके विरुद्ध लड़ना अति बुरा कृत्य है। एक सर्वसामान्य नियम के रूप में श्रीकृष्ण भी यह बात कैसी नकारते? स्वयं वे सत्पुरुष लक्षणों में "आचार्योपासनं" का समावेश करते हैं (१३-७)। किन्तु अर्जुन के सामने उपस्थित परिस्थिति भिन्न एवं अपवादस्वरूप थी । अपने आदरणीय ज्येष्ठ, एवं कुलबांधव तथा मित्र इनके विरुद्ध लड़ना साधारणतः अति निंद्य हो, तो भी वे घोर अन्यायी तथा शांतिपूर्ण सुलह के सारे प्रयास ठुकराने वाले के पक्ष में अपने विरुद्ध लड़ाई करने सुसज्ज खड़े रहे, तो क्या करना ? इस परिस्थिति में श्रीकृष्णने अर्जुन को बारबार स्मरण दिलाया कि उसके लिये वह युद्ध 'धर्म्य' (धर्मरक्षणार्थ) था। अर्जुन ने कहा था " . . . न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे" (१-३१)। इसपर श्रीकृष्ण का उत्तर था–

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकंपितुमर्हसि
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥२-३१

"इसके अलावा, अपना (क्षत्रियस्वभाव के अनुरूप) कर्तव्य भी देखते हुए, तुझे (इस न्याय्य युद्ध से) (पापभय के कारण) इस प्रकार कतराना उचिति नहीं; क्योंकि धर्म्य (न्यायोचित) युद्ध की अपेक्षा क्षत्रिय को अन्य कुछ श्रेयस्कर नहीं।" अर्जुन का 'श्रेय' शब्द ही श्रीकृष्णने यहाँ बराबर उच्चारा है।

ऐसे किसी जटिल प्रसंग में नीति दर्शन का मात्र ऊपरी विचार करनेवाले वास्तविक उचित निर्णय की निंदा एवं वस्तुतः गलत मार्ग की प्रशंसा करना संभव है। किन्तु ऐसी निंदास्तुति से सुज्ञ को भ्रमित नहीं होना चाहिये। इस दृष्टि से कवि भर्तृहरि ने एक श्लोक में शाब्दिक नीतिशास्त्रपंडित और वास्तविक ज्ञानी इनमें मार्मिक भेद बताया है–

निन्दन्तु नीतिनिपुणाः यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्

अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥

(नीतिशतक, ८३)। "नीतिशास्त्र के (शाब्दिक) पंडित निंदा करें वा प्रशंसा, लक्ष्मी (संपत्ति) अपनी इच्छानुसार पास रहे या चली जावे, मृत्यु आज ही तो या दीर्घकाल में, (वास्तविक) ज्ञानी न्याय के पथ से नहीं हटते।"

जहाँ अर्जुन अपने कुल पर इस युद्ध के दुष्परिणामों की चिंता कर रहा था, वहाँ श्रीकृष्ण के मन में व्यापक सामाजिक हिताहित का विचार था। अतः उस व्यापक दृष्टिकोण से इन्होंने अर्जुन के तर्क 'प्रज्ञावाद' कहकर अमान्य कर दिये (२-११)। अर्जुन के तर्क स्वयं के कुल के विरुद्ध अन्याय्य युद्धपर लागू होते, किन्तु पांडवों के लिये वह युद्ध अनिवार्य धर्म्य युद्ध था। दुर्योधन के समान दुष्ट शासनाधिपति ने किये घोर अन्याय का पारिपत्य कर उस युद्ध के द्वारा समाज में न्याय एवं नीति की संस्थापना करनी थी।

हमारे द्वारा यह स्वजनयुद्ध करने से हमारे स्वर्गस्थ पितरों का 'पतन' होगा यह अर्जुन का तर्कभी भ्रामक था।[१] एक की गलती या पाप से अन्य किसी का पतन आवश्यक नहीं। यदि इन पितरों ने अपना जीवन सत्कर्मों में बिताया हो, तो उनके वंशजों के दुराचरण से उनका पतन होने का कारण नहीं। "**न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति** ॥६-४०"। इसके विपरीत, जब उनका पुण्यसंचय समाप्त होगा, उनका स्वर्ग लोक से पतन होगा।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं ।
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ॥९-२१

अर्जुन की पाप चिंता का निराकरण

अर्जुन ने 'यह युद्ध करनेसे मुझे महापाप लगेगा' यह जो भ्रामक धारणा कर ली थी, उसका श्रीकृष्ण ने स्पष्ट निराकरण किया। यह 'धर्म्य' युद्ध न करनेसे तुझे पाप लगेगा (२-३३) ऐसा उसे जताकर, यह युद्ध करने से पाप नहीं लगेगा, ऐसा उन्होंने विश्वास दिया (२-३८)। स्वकर्तव्य करना हमेशा श्रेयस्कर (अर्थात् पाप रहित) होता है यह श्लोक ३-३५ में बताकर उसी की १८-४७ में पुनरुक्ति की है। इतना ही नहीं, गीतोपदेश की समाप्ति भी अर्जुन को दिये पाप विमोचक आश्वासन से हुई है– **सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥** १८-६६। और पापमुक्ति का यह आश्वासन पाकर अर्जुन ने भी "मेरा मोह दूर हो गया है और मैं आपके उपदेशानुसार यह युद्ध करने तैयार हूँ" ऐसा उत्तर दिया (१८-७३)।

---

१. रामानुज 'विप्रतिपन्ना' का अर्थ 'विशेष पात्र (उन्नत)' ऐसा बिलकुल ही अलग करके, 'श्रुति' का अर्थ 'मेरे (याने स्वयं श्रीकृष्ण के) उपदेश का श्रवण' ऐसा करते हैं; जो संदर्भ के विपरीत है।

२. आंग्ल तर्कशास्त्र के अनुसार यह Fallacy of the non-distribution of the middle term का तर्कदोष है।
३. कठ उपनिषद में कहा है, ''इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः'' (१-३-१०)
४. कठ उपनिषद, ''हन्ता चेन्मन्यते हन्तुम् हतश्चेन्मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥'' (१-२-१९)। इसमें कहा है 'हतश्चेन्मन्यते हतम्' (यदि मारा गया समझे कि मैं मारा गया हूँ)। किन्तु जो मारा गया वह स्वयं अब क्या समझे ? ('हतः' का अर्थ 'घायल' किया तो बात अलग)। किन्तु गीताकार ने खुबीसे यहाँ ''यश्चैनं मन्यते हतम्'' (२-१९) ऐसा कहा है !
५. कठ, ''न जायते म्रियते वा विपश्चित्। नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो। न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥'' (१-२-१८)
६. देखिये महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय २३९, ''अक्षरं च क्षरं द्वैधीभावोऽयमात्मनः। क्षरः सर्वेषु भूतेषु दिव्यं तमृतमक्षरम्''। (ऋतम् = सत्य)
७. प्रकृति जन्य 'विकार' के लिये देखिये १३-६
८. देखिए, भागवत ''कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतीं विदुः। भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेःपरम्''. ३-२६-८
९. ऐसाही शब्द प्रयोग महाभारत में अन्यत्र भी आया है। पाण्डवों के वनवास काल में गंधमादन पर्वत पर भीम ने कुछ यक्ष-राक्षसो को मार डालने पर युधिष्ठिर को खेद हुआ, तब कुबेर ने कहा, ''कालेनैते हताः पूर्वं निमित्तमनुजस्तव'' (वनपर्व १६१-४४), '(अगस्ति ऋषि के शाप के अनुसार) कालपुरुष द्वारा ये पहिलेही मारे गये थे (इनका मृत्यु निश्चित किया गया था), तथा तेरा भाई (अब इस लिये मात्र) निमित्त हुआ है'।
१०. किन्तु अर्जुनने पितरों का 'पतन' होगा इतनाही कहा, नरक में पतन ऐसा नहीं कहा, जैसा कि कुछ लेखक आशय लेते है। नरक का उल्लेख उसने स्वयं कुलधातक तथा विद्यमान अधर्मग्रस्त कुलबांधवों के लिये किया है। स्वर्गस्थ पितरोंका 'पतन' यानी मृत्युलोक में तत्काल पुनर्जन्म ऐसा आशय हो सकता है।

श्रीः

प्रकरण ५

अर्जुन और आप्तममता

अर्जुन के विषय में एक और भ्रम

कुछ विद्वान् ऐसा भी तर्क देते हैं कि अर्जुन का इस युद्धसे विरोध उसके विरुद्ध लड़ने खड़े स्वजनों के प्रति उसके मन में ममता भाव पर आधारित था। विनोबाभावे लिखते हैं, ''पहले हमें अर्जुन की भूमिका देखनी चाहिये। . . . .अर्जुन, जो समरभूमि में खड़ा हुआ, सो कृतनिश्चय होकर और कर्त्तव्य भाव से . . . . अर्जुन चारों ओर एक निगाह डालता है, तो उसे क्या दिखाई देता है ? दोनों ओर अपने ही नाते-रिश्तेदारों, सगे-संबंधियों का जबरदस्त जमघट। . . . . उस सारे स्वजनसमूह को देखकर उसके हृदय में एक उथल-पुथल मचती है। उसे बहुत बुरा लगता है। . . . . यह तो केवल स्वजनासक्ति थी। इस समय भी यदि गुरु, बंधु और आप्त सामने न होते, तो उसने शत्रुओंके मुंड गेंद की तरह उड़ा दिये होते। परंतु इस आसक्ति-जनित मोह ने उसकी कर्तव्यनिष्ठा को ग्रस लिया और तब उसे तत्त्वज्ञान याद हो आया। . . . .अब वह झूठमूठ प्रतिपादन करने लगा कि युद्ध ही वास्तव में एक पाप है। युद्ध से कुलक्षय होगा, धर्म का लोप होगा, स्वैराचार मचेगा. . . . . आदि अनेक दलीलें देकर वह कृष्ण को ही समझाने लगा। यहाँ मुझे एक न्यायाधीशका किस्सा याद आता है। एक न्यायाधीश था। उसने सैकड़ों अपराधियों को फाँसी की सजा दी थी। परंतु एक दिन खुद उसीका लड़का खून के जुर्म में उसके सामने पेश किया गया। बेटे पर खून का जुर्म साबित हुआ और उसे फाँसी की सजा देने की नौबत न्यायाधीशपर आ गयी। तब वह हिचकने लगा। वह बुद्धिवाद बघारने लगा। 'फाँसी की सजा बड़ी अमानुषी है। ऐसी सजा देना मनुष्य को शोभा नहीं देता। इससे अपराधी के सुधरनेकी आशा नष्ट हो जाती है। खून करनेवाले ने भावना के आवेश में, जोश और उत्तेजना में खून कर डाला। परंतु उसकी आँख पर से खून का जनून उतर जानेपर उस व्यक्ति को संजीदगी के साथ फाँसी के तख्तेपर चढ़ाकर मार डालना समाजकी मनुष्यता के लिए बड़ी सज्जा की बात है, बड़ा कलंक है' आदि दलीलें वह देने लगा। . . . . किन्तु जजसाहब अपने लड़के के ममत्व के कारण ऐसी बातें करने लगे। उनकी वह आवाज आंतरिक नहीं थी। वह आसक्ति जनित थी . . . . अर्जुन की गति भी उस न्यायाधीश की तरह हुई। उसने जो दलीलें दी थीं, वे गलत नहीं थी। . .

.. परंतु सोचने की बात यह है कि वह अर्जुन का तत्त्व ज्ञान (दर्शन) नहीं, कोरा प्रज्ञावाद था।" ('गीताप्रवचन' पृ० १२-१४; तथा देखिये 'स्थितप्रज्ञदर्शन' पृ० ७७-७८)।

उस उद्धरण में अर्जुन के मोह का उद्गम उसकी स्वजनासक्ति में बताया है। अर्जुन ऐसी वैयक्तिक ममता के कारण कौरवों के विरुद्ध उस युद्ध से इन्कार कर रहा था, तथा पाप एवं श्रेय का उसके उठाया गया सवाल उस आसक्ति को छिपाने के हेतु एक ढोंग मात्र था, यह विनोबा का प्रतिपादन है।

क्या अर्जुन के मन में कौरवों के प्रति ममता थी ?

जो कौरव स्वयं अर्जुन को घोर पीड़ा देकर अब उसी पर शस्त्रप्रहार करनेवाले थे उनके सामने खड़ा अर्जुन, और अन्य किसी की हत्या कर जो सजा सुनने खड़ा है उसका ममताग्रस्त पिता न्यायाधीश, क्या इन दोनों में कुछ भी साम्य है ? अर्जुन का पापविषयक निवेदन वस्तुतः कौरवों के प्रति ममता छिपाने का मात्र ढोंग था, यह कहना पूर्णतया विपर्यस्त है। अपने कुल बाँधवों का वध, और वह भी स्वयं के राज्यसुख हेतु करने में होनेवाले महापाप की अर्जुन को हृदय से चिंता हुई थी। अर्जुन को जो घोर चिंता वध करने से पूर्व हुई, वैसी-ही महाकवि शेक्सपिअर के 'मॅकबेथ' नाटक में नायक मॅकबेध को राज्यलोभ से प्रेरित होकर राजा डंकन की (निद्रावस्था में) हत्या करने बाद हुई। महाकवि ने उसका इन हृदयस्पर्शी शब्दों में वर्णन किया है—

> But wherefore could I not pronounce 'Amen' ?
> I had most need of blessing, and 'Amen'
> Stuck in my throat . . . .
> Methought I heard a voice cry 'sleep no more'!
> Macbeth does murder sleep'. . . . .
> Still it cried 'sleep no more!' to all the house . . . .
> What hands are here ? ha !
> They pluck out mine eyes.
> Will all great Neptune's ocean wash this blood
> Clean from my hand ? No,
> This my hand will rather
> The multitudinous seas incardine,
> Making the green one red. (Act II, Scene I).

मॅकबेथ का यह भीषण विषाद राजा डंकन के प्रति व्यक्तिगत ममत्व के कारण न होकर, स्वयं उसके द्वारा डंकन की हत्या करने से लगे पाप के भय के कारण था। उसकी नींद नष्ट हो गई; ईश्वर की प्रार्थना भी उसके मुँह से न हो सकी, तथा अपने हाथों का कलंक अब संसार के सारे समुद्र भी नहीं मिटा सकेंगे, ऐसी उसकी धारणा हो गई ! अपने यहाँ

मेहमान आये डंकन की निद्रावस्था में हत्या करने में मॅकबेथ ने वास्तविक घोर पाप किया था। अर्जुन ने मोहवश उसमें महापाप की कल्पना करते हुए—

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥१.३२

तथा "यानेव हत्वा न जिजीविषामः" (२-६) ऐसे अति करुण वचन कहे। उनके मूल में बौद्धिक भ्रम था; किन्तु वे उद्गार अंतःकरण पूर्वक कहे थे, ढोंग से नहीं, तथा उनका उद्गम उन स्वजनों के प्रति वैयक्तिक ममता या बन्धुस्नेह में नहीं था ।

अर्जुन द्वारा गीतोपदेश में बीच-बीचमें किये सवालों पर भी इस संदर्भ में ध्यान देना चाहिये। वे श्रेयके प्रति वास्तविक जिज्ञासा व्यक्त करने वाले होकर उनका आत्म-ममता से कोई संबंध नहीं। क्या वे प्रश्न भी ढोंग भरे थे ?

अर्जुन आत्मस्नेह के कारण उस युद्ध से इन्कार कर रहा था ऐसा कहने वाले उसके इन मर्मस्पर्शी वचन पर भी विशेष ध्यान दें।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥१-४६

सामान्य आत्म-ममता हो तो व्यक्ति स्वयं का सुख न खोने किसी प्रियजन को सुख देगा। ममता गहरी हो तो, स्वयं का सुख त्याकर भी वैसा प्रयास हो सकता है। किन्तु राज्य की बात अलग रखो, तो भी लाक्षागृह में पाण्डवों को जीवित जलाने की जिन्होंने योजना की, भरी सभा में असहाय साध्वी द्रौपदी के वस्त्रहरण का प्रयास करनेको उन्मत्तता जिन नराधमों में प्रदर्शित की, उनके प्रति अर्जुन के मन में कितनी ममता होगी ? फिरभी, जब अर्जुन उनपर शस्त्र चलाने के बजाय उनके हाथों स्वयं मारे जाने की भी बात करता है, तब उसकी इस मनोभूमिका में कौरवों के प्रति ममता नहीं, स्वकुलनाश से संबंद्ध पापविषयक गहन नैतिक समस्या देखना ही युक्तिसंगत है (भले ही वह समस्या भ्रामक हो)।

यहाँ इस श्लोक पर भी विचार करें :

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणाँस्त्यक्त्वा धनानि च ॥१-३३

इसमें 'येषाम्' से निर्दिष्ट व्यक्ति कौन हैं ? उनका सामान्य वर्णन श्लोक ३४ में आया होकर, इन्हें ही फिर श्लोक ३५ में 'एतान्' कहकर, मैं इनका वध करना नहीं चाहता ऐसा अर्जुन कहता है। अर्थात् ये स्वजन उसके स्वयं के पक्ष के न होकर शत्रुपक्ष के थे। श्लोक ३४ में 'पुत्राः' एवं 'पौत्राः' शब्दों में अर्जुन के सगे पुत्र-पौत्र समझना आवश्यक नहीं। कौरवपक्ष के अल्प वयस्क भी पांडवों के लिये पुत्र-पौत्र समान थे और शब्दशः देखा जाय तो अर्जुन का (या किसी भी पाण्डव का) सगा 'पौत्र' वहाँ था भी कौन ?

यहाँ प्रथम पंक्ति का अर्थ प्रायः इस आशय का किया जाता है, 'जिनके कारण

हमें राज्य, सुख, भोग वांछनीय प्रतीत होते हैं, जिन स्वजनों के हमारे साथ होने पर ही हमें राज्य आदि में रुचि होगी'। शंकराचार्य अर्जुन का ऐसा ही आशय देखते हैं, "तैर्विनाभूतः किं करिष्यामि राज्यसुखादिनेति" ('उनके विना मैं राज्यसुखादि से क्या करूं?', श्लोक २-११ पर भाष्य)। तथा इसीकी पुष्टि करते हुए मधुसूदन लिखते हैं, "एकाकिनो हि राज्याधनपेक्षितमेव। येषां तु बन्धूनामर्थे तदपेक्षितं त एते. . . ." ('अकेले के लिये राज्यादि की इच्छा नहीं की जाती, किन्तु जिन बान्धवों के कारण उसकी इच्छा करना, वे ये. . . .')। इस स्पष्टीकरण के अनुसार अर्जुन उन आप्तजनों के अभाव में स्वयं को सुख भोगने में रस नहीं, ऐसा कह रहा था। किन्तु यदि हम "न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे" (१-३१) से लेकर अर्जुन के सारे वचन देखें तो स्पष्ट होगा कि उसकी मुख्य चिंता सुखभोगों के लिये नहीं, अपितु स्वकुल के प्रति कर्तव्य के बारे में थी।

इस श्लोक में 'अर्थे' का आशय '('जिनकी) सहायतार्थ या रक्षार्थ' ऐसा उचित होकर, पूरे श्लोक का अर्थ होगा, "हमारे राज्य, भोग एवं सुखसाधनों का जिनके रक्षणार्थ उपयोग करनेकी हमने इच्छा करनी चाहिये, वे ही ये (हमारे स्वजन) अपने प्राण एवं संपत्ति को परवा छोड़कर (इस) युद्ध में (हमारे विरुद्ध) खड़े हैं"। स्वजनों का रक्षण हमारा कर्तव्य होते हुए स्वयं हमनेही उनपर प्रहार कैसा करना ? बाड़ खेत की रक्षा करे या स्वयंही उसका नाश करे ?

महाभारत में 'अर्थे' शब्द का इस आशय से अन्यत्र भी प्रयोग आया है—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ (उद्योगपर्व, १२८-४९)

"कुल के हितार्थ एक व्यक्ति का त्याग किया जावे, ग्राम के रक्षणार्थ एक कुल का त्याग किया जावे; संपूर्ण प्रदेश के लिये ग्राम का, तथा आत्मा के लिये (आध्यात्मिक हितार्थ) समग्र पृथ्वीका त्याग दिया जावे"। तिलक लिखते हैं कि, महाभारत के इस श्लोक में 'अर्थे' का आशय 'उपभोगार्थ' न लेते 'रक्षणार्थ' या 'संकटनिवारणार्थ' ऐसा लेना चाहिये (पूर्व उल्लिखित, पृ. ४०१)।

फिर, जिन कौरवों के प्रति ममता से अर्जुन उस युद्ध का विरोध कर रहा था, ऐसा कहा जाता है, उनके उस युद्ध से बच निकलने का कोई आश्वासन श्रीकृष्ण ने उसे नहीं दिया। बल्कि उन्होंने उनका (कौरवों का) मरण निश्चित है यही बताया (अध्याय ११)। किन्तु, उनके वध से पाप नहीं लगेगा, ऐसा श्रीकृष्ण से आश्वासन मिलने पर सारा शोकविषाद छोड़ अर्जुन उन्हीं स्वजनों पर प्रहार करने को राजी हो गया ! इसीसे स्पष्ट है कि, शुरू में उसके युद्धविरोध में आप्तममता या बन्धुस्नेह का हाथ नहीं था।

अर्जुन का मोह स्वपक्षीय स्वजनों की ममता से भी नहीं था

क्या अर्जुन उस युद्ध में अपने पक्ष के स्वजनों का संभाव्य वध देख, उनके प्रति ममता के कारण, उस युद्ध से निवृत्त होना चाहता था ? दोनों ओर से शंखनाद होने बाद

का वर्णन संजय ने इस प्रकार किया है:

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥१-२०
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते
अर्जुन उवाच
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२२
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३
संजय उवाच
एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५

"राजा (धृतराष्ट्र), (प्रत्यक्ष) शस्त्रप्रहार प्रारंभ होने में था। व्यूहबद्ध कौरवों को देख अर्जुन ने धनुषय उठाकर श्रीकृष्ण से उस समय यह कहा। [अर्जुन बोला] 'अच्युत, मेरा रथ दोनों सैन्यों के बीच बीच खड़ा कीजिये—२०, २१; ताकि उतने में मैं युद्ध की इच्छा से (यहाँ) उपस्थित होनेवालों को (इस दृष्टि से) ठीक देख लेता हूँ कि, इस युद्धसंग्राम में मुझे किन-किन से लड़ना है—२२। दुष्ट बुद्धि दुर्योधन का (इस) युद्ध में भला चाहनेवाले जो ये यहाँ एकत्र हुए हैं, उन योद्धाओं को मैं देख लेना चाहता हूँ-२३। [संजय बोला] अर्जुन के ऐसा कहने पर श्रीकृष्ण ने वह उत्तम रथ उभय सेनाओं के बीचो-बीच खड़ा कर—२४, भीष्म, द्रोण एवं सब राजाओं के समक्ष कहा, 'अर्जुन, इन एकत्र हुए कुरुकुल के वंशजों को देख ले'—२५"।

यहाँतक अर्जुन के मन में मात्र शत्रुपक्षीय स्वजनोंका ही विचार था। किन्तु श्रीकृष्ण द्वारा वे शब्द कहे जाने पर अर्जुन ने जो दृश्य देखा, उसमें उसे 'दोनों सेनाओं में' अपने कुलबांधव दीखे, तथा 'वे सब स्वजन' देखकर अर्जुन का मन परम विषाद एवं 'कृपा' से व्याकुल हो गया (२६, २७, २८) (इस 'कृपा' का स्पष्टीकरण अगले प्रकरण में किया है)। दोनों ओर एक दूसरे के सामने युद्धार्थ खड़े स्वजन देख, अर्जुन के मन में विचार आया कि, जिस प्रकार यह युद्ध व्यक्तिगत रूप में मेरे लिये पापस्वरूप स्वजनयुद्ध है, उसी प्रकार मेरे पक्ष के अन्य प्रमुख योद्धाओं के लिये भी पापस्वरूप है। इस दृष्टि से श्लोक ३६, ३७, ३९ एवं ४५ में उसने प्रथम पुरुष में एकवचन के बजाय बहुवचन का प्रयोग किया है।

अर्जुन के स्वपक्षीय स्वजनों का भी उस युद्ध में मारे जानेका संभावना थी। किन्तु उसका दोष अर्जुन ने कौरवों पर लगाया (१-३८)। स्वयं उसका महाविषाद उसके द्वारा होनेवाले शत्रुपक्षीय स्वजनों के वध के बारेमें था। इस संदर्भ में अर्जुन उसके हाथों से उस युद्ध में "धार्तराष्ट्र" मारे जानेका बार बार उल्लेख करता है।(१-३६, ३७; २-६)। तथा श्लोक २-४ में वह कौरवपक्ष की ओर से लड़ने खड़े भीष्म-द्रोण का भी नाम लेता है। उसकी सारी चिंता उसके द्वारा उसके कुलबांधव तथा उनके पक्ष में खड़े आदरणीय ज्येष्ठ व्यक्तियों के वध से होनेवाले पाप के लिये हैं।

यह श्रीकृष्ण द्वारा विश्वरूपदर्शन में कहे वचन भी बताते हैं। अर्जुन ने विश्वरूप परमेश्वर के विकराल मुँह में शत्रुपक्षीय स्वजनों के साथ स्वपक्षीय स्वजनों को भी प्रवेश करते देखा:

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ।।११-२६
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७

"राजसमुदायों सहित ये धृतराष्ट्रपुत्र, तथा भीष्म, द्रोण, वैसाही यह सूतपुत (कर्ण), ये सब हमारे भी प्रमुख योद्धाओं के साथ, विकराल दाढों से युक्त आपके भीषण मुखों में वेगपूर्वक प्रवेश कर रहे हैं; और कुछ तो विदीर्ण मस्तकों सह (आपके) दाँतो के बीच लटकते दीख रहे हैं–२६, २७।" किन्तु इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन को स्वपक्षीयों की भी मृत्यु दिखायी, तो भी उस लिये अर्जुन को सान्त्वना स्वरूप कुछ भी कहने की आवश्यकता श्रीकृष्ण को प्रतीत न हुई, विश्वरूप दर्शन का मुख्य प्रयोजन बताने में उन्होंने "तू 'शत्रुओंका' वध कर" ऐसा कहा (११-३३); और तुरन्त श्लोक ३४ में कौरवपक्ष के द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण ऐसे कुछ प्रमुख योद्धाओं के नाम लेकर 'उन्हें इस युद्ध में विना हिचकिचाहट के मार डाल,' "मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व" ऐसा अर्जुन को पुनः आदेश दिया।

श्री

प्रकरण ६

अर्जुन के शोकमोह की शेष चर्चा

'कार्पण्य' का आशय

अर्जुन के मोह के विवेचन में दो विशेष शब्दों पर भी यहाँ विचार करना इष्ट है– कार्पण्य और कृपा। स्वयं अर्जुन कहता है–

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।२-७

प्रायः सभी ने इस 'कार्पण्य' का अर्थ 'दया' या 'अनुकंपा' न लेते 'हृदय की क्षीणता या दुर्बलता' ऐसा किया है। 'कार्पण्य' का मूल शब्द 'कृपण' गीता में "कृपणाः फलहेतवः' (२-४९) इस प्रकार आया है; जहाँ उसका अर्थ फलाकांक्षी क्षुद्र वृत्तिवाला ऐसा है। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी (३-८-१०) कहा है, "यो वा एतदक्षरमविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः" ('इस अक्षर ब्रह्मतत्त्व को न जानते जो इस लोक से प्रयाण करता है वह कृपण है')। उस दृष्टि से 'कार्पण्य' का प्रत्यक्ष संबंध दयाभावना से न होकर सत्य ज्ञान के अभाव से है। अर्जुन का भी आशय है कि, कार्य एवं अकार्य, वास्तविक धर्म एवं अधर्म इनके बारे में मुझे भ्रम हो रहा है।

अर्जुन की 'कृपा' का स्वरूप

संजय कहता है कि अर्जुन "कृपया विष्ट" हो गया (१-२८, २-१)। इस 'कृपा' शब्द में भी, मैं कितना महापाप करने उद्यत हो गया हूँ, मेरी मति कैसी भ्रमित हो गई है, इस सारे विषाद का सार है। वह 'कृपा' स्वयं अर्जुन की ही अवस्था पर थी। अरविंद अर्जुन की उस 'कृपा' के स्पष्टीकरण में लिखते है, "वह दया ही नहीं है बल्कि उसकी आत्म-कृपासे परिपूर्ण क्लीबता है; जो कर्म उसके सामने उपस्थित है, उसके फलस्वरूप जो मानसिक यंत्रणा उसे भोगनी पड़ेगी उससे वह बचना चाहता है; वह कहता है कि 'मेरी इंद्रियोंको सुखानेवाले इस शोकको मैं कैसे दूर करूं ? यह मेरी समझ में नहीं आता',– यह आत्मकृपा तुच्छ और अनार्य भावों में गिनी जाती है"[१] अरविंद ने यहाँ कहे अनुसार अर्जुन मानस को संतप्त करनेवाली वह 'कृपा' बुद्धिसंभ्रम की द्योतक स्वयं के ही प्रति अनुकंपा थी। राधाकृष्णन् उस 'कृपा' का अर्थ करने में ऐसा ही दृष्टिकोण स्वीकारते हैं। श्रीकृष्ण ने अर्जुन की उस स्वरूप की अनुकंपा का धिःकार कर उसे

"क्लैब्यं हृदयदौर्बल्यं" कहा (२-३). वह स्वयं श्रीकृष्ण ने जिसकी प्रशंसा की है वह 'दया' (१६-२) या श्लोक १२-१३ में उल्लिखित 'करुण' भावना न होकर, स्वयं में ही प्रतीत होनेवाली आत्मविश्वासहीनता, आत्मावसादन वृत्ति थी।

मृतों एवं जीवितों के प्रति शोक

अर्जुन का शोक अपने हाथों स्वजनवध करने पर लगनवाले पाप के कारण था। इस संदर्भ में अपने उपदेश के आरंभ में ही श्रीकृष्ण के इस वचन को देखें।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥२-११

यहाँ द्वितीय पंक्ति का आशय यह है, 'पंडित, यानी (आत्मस्वरूप के) पूर्ण ज्ञानी प्राण गये इसपर शोक नहीं करते, और प्राण नहीं गये इसपर भी शोक नहीं करते।' किन्तु ज्ञानी जीवित अवस्था पर शोक नहीं करते यह कहने में क्या विशेषता ? सामान्य मानव भी ऐसा शोक कब करता है ? अनेकानेक भाष्यकारों ने इसकी विभिन्न चर्चा की है। तिलक लिखते हैं, " 'शोक करना' शब्दका ही भला या बुरा लगना' अथवा 'परवाह करना' ऐसा व्यापक अर्थ करने से कोई भी अड़चन रह नहीं जाती। यहाँ इतनाही वक्तव्य है, कि ज्ञानी पुरुष को दोनों बातें एक-सी ही होती हैं।" (पू० ५८ पृ. ६२४)। किन्तु 'अनुशोचन्ति' का अर्थ अंशतः भी 'भला लगना' कैसा किया जा सकता है? गीता में 'शुच्' धातु का दुःख करना इस विशिष्ट अर्थ में कई बार प्रयोग आया है; और तो और, इसी श्लोक की प्रथम पंक्ति में वह आया है।

सामान्य मानव प्रायः स्वयंकी संभाव्य मृत्यु पर, या ममतावश अन्य किसी की मृत्यु पर शोक करता है; किन्तु कभी कभी वह शारीरिक व्याधि, या अन्य किसी कारण से, या अपने हाथ से कुछ घोर पाप हो जानेकी कल्पना से, स्वयं की जीवितावस्था पर शोक करता है। इस प्रकार वह प्रायः 'गतासून्' पर एवं कभी कभी 'अगतासून्' पर भी शोकग्रस्त होता है। इसके विपरीत, ज्ञानी स्वयं की या अन्य किसी की मृत्यु प्राकृतिक प्रक्रिया से या न्याय्य तरीके से अपरिहार्य ही तो उसपर शोक नहीं करता; तथा वैसा न हो तो, वह जीवित रहनेपर भी दुःखी नहीं होता। प्रस्तुत श्लोक की द्वितीय पंक्तिका यह आशय है।

इस श्लोक की प्रथम पंक्ति स्वयं अर्जुन से संबंधित है। द्वितीय पंक्ति के संदर्भ में श्रीकृष्ण का प्रथम पंक्ति में अर्जुन पर यह आक्षेप दीखता है कि, अर्जुन गत प्राण अवस्था एवं जीवितावस्था इन दोनों पर व्यर्थ शोक कर रहा था। उस युद्ध में स्वजनों का वध करना महापाप प्रतीत होकर वह उस वध से होनेवाले उनके मृत्यु पर शोक कर रहा था। तथा यह महत्पाप करने के बाद स्वयं जीवित रहना भी नहीं चाहता था। यह उसका 'अगतासून्' के बारे में शोक था।

. . . .किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥१-३२
. . . .यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥२-६

शंकराचार्य श्लोक २-११ में आये 'अशोच्यान्' शब्दका यह स्पष्टीकरण देते हैं, "अशोच्याः भीष्मद्रोणादयः सद्वृत्तत्वात्परमार्थरूपेण च नित्यत्वात्" ('भीष्मद्रोणादि अशोच्य हैं, क्योंकि वे सदाचारी हैं तथा पारमार्थिक दृष्टि से नित्य हैं')। किन्तु भीष्म-द्रोण को 'सद्वृत्त' कहा, तो भी अर्जुन का शोक शत्रुपक्षीय सभी स्वजनों के विषय में था, और दुर्योधनादि को 'सद्वृत्त' कैसा कहा जा सकेगा ?

वस्तुतः अर्जुन का शोक उन स्वजनों के मात्र मृत्यु के लिये न होकर, उस युद्ध में अर्जुन के हाथों उनके वध पर था; और वह वध इसलिये 'अशोच्य' था कि, वह युद्ध पाण्डवों के लिये 'धर्म्य' (२-३१, ३३) यानी न्याय्य एवं व्यापक धर्मसंस्थापना हेतु आवश्यक था। श्रीकृष्ण के उस 'अशोच्यान्' शब्द का प्रत्यक्ष आशय दुर्योधनादि व्यक्तियों से न होकर, उस युद्ध में अर्जुन के हाथों उनका वध, एवं वह करने के बाद स्वयं का जीवित रहना, आदि 'घटनाओं' से है।

अर्जुन पर कायरता का आरोप

कुरुक्षेत्र पर कौरवों के विरुद्ध लड़ने इन्कार करनेवाले महारथी अर्जुन पर प्रत्यक्ष कायरता का भी आरोप किया गया है; और विशेष यह कि वह श्रीकृष्ण के ही वचनों में देखा जाता है ! ग्यारहवे अध्याय में विश्वरूपदर्शन के प्रसंग में श्रीकृष्ण कहते हैं—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि न भवष्यिन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ११-३२
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे संपत्नान् ॥३४

इन श्लोकों में प्रयुक्त "ऋतेऽपित्वा", "मयैवैते निहताः पूर्वमेव", "मया हतान्", "मा व्यथिष्ठाः", शब्दों का कईयों ने निराधार विपर्यास किया है। वस्तुतः इन श्लोकों में श्रीकृष्ण

अर्जुन से कहते हैं कि, "ऋतेऽपित्वा" यानी तेने यह युद्ध न किया तो भी, ये "प्रत्यनीकेषु योधाः" यानी तेरे विरुद्ध खड़ी सेनाओं के सारे योद्धा, "न भविष्यन्ति" यानी जीवित रहने वाले नहीं हैं, क्योंकि "मयैवैते निहताः पूर्वमेव, मया हताः" यानी (उनके घोर दुष्कर्मों के कारण, तथा वे दुष्कर्म करनेवालों की सहायता में खड़े होनेके कारण) (कर्मसिद्धान्त के अनुसार) मैंने (परमेश्वर ने) पहिलेही मृत्युदंड के पात्र निश्चित किये हैं, अतः "'निमित्तमात्रं भव, त्वं जहि, मा व्यथिष्ठा, युध्यस्व" यानी (उस ईश्वरी आदेश का पालन करने) स्वयं को मात्र निमित्त (साधन) मानकर इस युद्ध में उन्हें प्रत्यक्ष मार, ऐसा करने से (वे तेरे कुलबांधव एवं गुरुजन होने पर भी) तुझे पाप लगेगा इस कल्पना से चिंतित न हो।

रामानुजाचार्य यह आशय उचित प्रकार व्यक्त करते हैं, " त्वाम् ऋते अपि त्वदुद्योगम् ऋतेऽपि एते धार्तराष्ट्रप्रमुखाः तव प्रत्यनीकेषु ये अवस्थिता योधाः ते सर्वे न भविष्यन्ति विनङ्क्ष्यन्ति। . . . . मया एवं एते कृतापराधाः पूर्वम् एवं निहताः हनने विनियुक्ताः त्वं तु तेषां हनने निमित्तमात्रं भव। . . . . द्रोणभीष्मकर्णादीन् कृतापराधतया मया एवं हनने विनियुक्तान् त्वं जहि त्वं हन्याः एतान् गुरून् बन्धून् च अन्यान् अपि भोगसक्तान् कथं हनिष्यामि इति मा व्यार्थिष्ठाः, तान् उद्दिष्य धर्माधर्मभयेन बन्धुस्नेहेन कारुण्येन च मा व्यथां कृथाः। यतः ते कृतापराधाः मया एवं हनने विनियुक्ताः अतो निर्विशङ्को युद्धस्व, न एतेषां वधे नृशंसतागन्धः" ('तेरे बिना भी, तू कुछ कर्म न करने पर भी, तेरी विपक्षी सेनाओं में कौरवों के प्रमुखत्व में खड़े ये सब योद्धा बचेंगे नहीं, सब नष्ट हो जायेंगे. . . . दुष्कर्म करनेवाले ये मेरे ही द्वारा मारे गये हैं, यानी मृत्युदंड प्राप्त करने नियत किये गये हैं; तू इन्हें मारने में केवल साधन हो जा . . . . द्रोण, भीष्म, कर्ण आदि, जो दुष्कर्म करने के कारण मेरे ही द्वारा मृत्युदंड के लिये नियत किये गये हैं, को तू मार; इन गुरुजनों को, कुलबांधवों को, तथा अन्य भोगासक्तों का मैं कैसे मारू, इस प्रकार धर्माधर्मभय से, बन्धुस्नेह से, करूणाभाव से चिंता मत कर, क्यों कि दुष्कर्मी होने से इन्हें मैंने ही मृत्यु के लिये पात्र ठहराया है; अतः बिना किसी आशंका से यह युद्ध कर, इनका वध करने में नृशंसता का, मनुष्यहत्या का, कोई दोष नहीं है')[२]। तिलक भी इस श्लोकों का बहुतांश इसी प्रकार अर्थ करते हैं, 'तू न होने पर भी यानी तू कुछ न करने पर भी, अनेकानेक सेनाओं में खड़े ये सारे योद्धा नष्ट होनेवाले हैं। मैंने इन्हें पहिले ही मारा है, तू केवल निमित्त बनकर (आगे) हो' . . . . 'दुष्ट मनुष्य अपने ही कर्मों से मरते हैं अतः उन्हें मारनेवाला केवल निमित्तमात्र होने से मारनेवाले पर उसका दोष नहीं आता है यह कर्मविपाक प्रक्रिया का सिद्धान्त भी श्लोक ३३ में आया है'[३]।

किन्तु कई अन्य भाष्यकार अर्जुन के मन में शत्रु से भय था, तथा उन्हें पराजित कर सकने के बारे में आशंका थी, ऐसी धारणा लेकर, इन श्लोकों में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को 'मैंने तेरे इन शत्रुओं को पहिले ही शारीरिक स्तर पर अति दुर्बल एवं मरणोन्मुख

कर रखा होकर तू इन्हें आसानी से मार सकेगा, अतः भय छोड़कर यह युद्ध कर' यह आश्वासन दिया, ऐसा विपर्यस्त अर्थ करने हैं।

शंकराचार्य लिखते हैं, "मया हतास्त्वं जहि निमित्तमात्रेण। मा व्यथिष्ठास्तेभ्यो भयं मा कार्षीः";[४] और इसे अधिक स्पष्ट करते हुए मधुसूदन सरस्वती ('गूढार्थ दीपिका' में) लिखते हैं, "हतानां हनने को वा परिश्रमः। अतो मा व्यथिष्ठाः कथमेव शक्ष्यामीति व्यथां भयनिमित्तां पीडां मा गाः भयं त्यक्त्वा युध्यस्व"; श्री वेंकटनाथ, "मा व्यथिष्ठाः कथमेनान् हनिष्यामीति भयनिमित्तं व्यथा मा गाः"; नीलकंठ ('भारतभावदीपः') मा व्यथिष्ठाः एते महान्तः कथं हन्तुं शक्या इत्याकुलीभावं मा गाः इत्यर्थ।" इन भाष्यकारों ने अर्जुन पर शत्रु से भय का निराधार आरोप किया है, फिरभी "ऋतेऽपित्वा न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः" का अर्थ उचित किया है। किन्तु मध्वाचार्य ने उसका भी विपर्यास कर 'तेरे सिवा (पांडवों के सिवा) इस युद्ध में (दोनो पक्षों के) सारे योद्धा मरने वाले हैं ऐसा श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आश्वस्त कर उसे युद्ध के लिये खड़ा किया' ऐसा आशय लिया है। इसके अनुसार अर्जुन स्वयं के मरणभय से उस युद्ध को इन्कार कर रहा था, और श्रीकृष्ण ने उसे उसकी जीवन रक्षा का आश्वासन देने पर वह युद्ध के लिए खड़ा हुआ। भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद ('भगवद्गीता यथारूप') उक्त श्रीकृष्ण वचन का ऐसाही यह अर्थ देते हैं, "तुम्हारे (पाँडवों के) सिवा दोनों पक्षों के सारे योद्धा मारे जायेंगे।" महाराष्ट्र के संत ज्ञानेश्वर भी मध्वाचार्य ने दिया अर्थ स्वीकार कर कहते हैं, (हिंदी अनुवाद) "तब पूर्ण निराश न होवे अर्जुन सोच यह बोले चक्रधारी। तेरे साथ बचेंगे पांडव सुन संभला धनुर्धारी ॥११-४५३, ५४। महामरण की महामारी में जाने को ही था अर्जुन। कि प्राण संभाल और हो सावध पुनः लगा सुनने अर्जुन ॥४५५। बोले देव तुम हो मेरे इस कारण ही बचोगे रे। शेष सर्वसंहार को सिद्ध में जान लो इतना निश्चित रे ॥४५६"।

तथा श्लोक ३३ एवं ३४ के "मयैवैते निहताः पूर्वमेव," "मयाहतान्" आदि वचनों पर शंकराचार्य का दृष्टिकोण स्वीकार कर ज्ञानेश्वर कहते हैं "पहले ही मैं नष्ट कर चुका इनकी सारी कार्यशक्ति। मृत्तिकामूर्त्ति सम जानों इनको बचीं नहीं कोई शक्ति।।४६६। कठपुतली के खेल में टूटे डोरी जब संचालन की। तब गिर पड़ती है त्वरित मूर्तियाँ होती ना देरी क्षण की ॥४६७॥ शेष न वैसे किंचित अवधि सेना नष्ट यह होने की। त्वरित उठो हे अर्जुन अब तो समय नहीं है खोने को ॥४६८॥. . . द्रोण की चिंता करो नहीं कुछ भय ना धरो भीष्म का भी। शस्त्र उठाऊँ कर्ण पर कैसे सोचो ना मन में यह भी।।४७२। उपाय क्या हो जयद्रथवध का जो ख्यातिप्राप्त अतिवीर। मन में भी ना लाओ इसको वह और साथ अन्य सब वीर॥ ४७३। भित्तीचित्र के शेर समान ही हैं समस्त ये यह जानो। गीले हाथों पोंछने योग्य ही मात्र तुम आज इन्हें मानो।"

इसीके समान "युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्" का अर्थ स्पष्ट करने में गीता

प्रेस की 'गीतातत्त्व विवेचनी' टीका में लिखा है, "अर्जुन के मन में जो इस बात की शंका थी किन जाने युद्ध में हम जीतेंगे या हमारे ये शत्रु ही हमको जीतेंगे (२/६), उस शङ्का को दूर करने के लिये भगवान् ने ऐसा कहा है। भगवान् के कथन का अभिप्राय यह है कि युद्ध में निश्चयही तुम्हारी विजय होगी, इसलिये तुम्हें उत्साहपूर्वक युद्ध करना चाहिये"। किन्तु वास्तव में अर्जुन के मन में अपने विजय के बारे में कुछ भी शंका नहीं थी; तथा उसे इस बारे में श्रीकृष्ण से आश्वासन की कोई इच्छा या अपेक्षा नहीं थी। अर्जुन–

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयु :
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥२-६

यह कहता है, तब इस युद्ध में आखिर हम जीत पायेंगे या जीते जायेंगे यह निश्चित नहीं ऐसी उसकी शंका न होकर, हमने इनको मारकर जीतना और (हमने प्रतिकार न करने से) इनके द्वारा जीता जाना, इसमें हमारे लिये वस्तुतः क्या श्रेयस्कर ('गरीयस्') होगा यह समझ में नहीं आ रहा है, ऐसा वह कह रहा है। हमने लड़ाई की तो ये कौरव हमारे द्वारा मारे जाकर हम जीतेंगे यह अर्जुन का आत्मविश्वास श्लोक के उत्तरार्ध से ही स्पष्ट है। तथा श्रीकृष्ण के "युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्" (११-३४) इस वचन में अर्जुन को विजय का खास आश्वासन न दिया होकर, 'युद्ध पूरा मन लगाकर लड़ और अपनी हमेशा की शूरता से शत्रुओं को जीत ले' यह श्रीकृष्ण का सीधा सरल आदेश है।

जो अर्जुन कौरवों पर शस्त्र चलाने इन्कार करता हुवा रणांगण त्यागने की बात न करते, अप्रतिकार अशस्त्र अवस्था में रणभूमीपर ही शत्रुओं द्वारा मारे जाने की भी कल्पना उच्चारता है (१-४६), उस पर कायरता का आरोप पूर्णतया विपर्यस्त है। अर्जुन–

कथं भष्मिमहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥२-४

ऐसा कहता है, उसका अर्थ में महाप्रतापी भीष्मद्रोण पर प्रभावपूर्ण तरीके से बाण मारने कैसा समर्थ हो सकूंगा ऐसा न होकर, मैं इन पूजनीयों पर उलटकर बाण कैसे डालू, बाण डालना मेरे लिये कैसा उचित होगा, यह उसके हृदय की चिंता है। उसके 'प्रतियोत्स्यामि' शब्द के 'प्रति' उपसर्ग में विशेष आशय है। अर्जुन ने स्वयं कभी भी भीष्मद्रोण पर बाण चलाना प्रारंभ नहीं किया। गोग्रहण युद्ध में उन्होंने उसपर बाण चलाये बाद अर्जुन ने उनका प्रतिकार कर बाण चलाये (विराटपर्व ५५-४५, ५८-१९)। किन्तु अब कुरुक्षेत्र पर वह कहता है कि, इस युद्ध में भीष्मद्रोण ने मुझपर बाण आरंभ किये तो भी मैंने उलट कर उनपर बाण डालना कैसा उचित होगा ? गोग्रहण युद्ध अर्जुन ने राजा विराट की ओर से किया था; किन्तु कुरुक्षेत्र युद्ध उसे स्वयं के (पाडवों के) 'राज्यसुखलोभ'

हेतु प्रतीत हो रहा था (१-४५)। इस युद्ध को इन्कार करने में उसकी स्वयं की सुरक्षितता की चिंता न होकर, गहन नैतिकता विषयक समस्या थी, जो अंशमात्र भी ढोंगी न होकर (श्रीकृष्ण के अनुसार गलत दिशा में होने पर भी) पूर्णतया अंतःकरण से उद्भूत थी।

इसी अनुसार श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहे इस श्लोक में–

क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत् त्वय्युपपद्यते
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥२-३

श्रीकृष्ण की दृष्टि में अर्जुन शत्रू के भय से वास्तव में कायर हो गया था ऐसा अर्थ न होकर, महत्पाप विषयक गहन समस्या से अर्जुन ग्रस्त होकर उसका शरीर बाह्यतः कायर के समान चलविचल कर रहा था (१-२९, ३०) यह आशय है। वह प्रत्यक्ष मानसिक कायरता न होकर, ऐन मौकेपर कतव्याकर्तव्य का यथोचित निर्णय न कर सकनेवाली बुद्धि की किंकर्तव्यविमूढता एवं उसका शरीर पर होनेवाला विपरीत परिणाम की अवस्था थी। इसी श्लोक के उत्तरार्ध में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को "परंतप' (शत्रु को जीतनेवाला) संबोधित कर कहे अनुसार, वह अर्जुन का (श्रेय एवं अश्रेय के बारे में) भीषण संदेह में भ्रमित 'हृदय दौर्बल्य' था।

यदि इस युद्ध में बलाढय शत्रुओं को सहजता से जीतने के लिये अर्जुन को साह्य हेतु श्रीकृष्ण ने अपनी योगमाया से उन शत्रुओं को शारीरिक स्तरपर असल में निर्बल कर दिया हो, तो यह उस युद्ध में केवल अर्जुन का सारथ्य करने के अलावा मैं प्रत्यक्ष शामिल नहीं होऊँगा, इस श्रीकृष्ण के आश्वासन का भंग हो जाता– और वह भी गुप्त रूप से। किन्तु भीकृष्ण ने ऐसा कुछ भी न किया होने पर भी, उपरोक्त भाष्यकार उनपर उस प्रतिज्ञाभंग का व्यर्थ आरोप लगाते हैं। और इसके अलावा, प्रत्यक्ष लढाई में अर्जुन ने इन शत्रुओं का प्रतिकार मात्र 'हतानां हननं' या 'मिट्टी की मूर्तियाँ, भित्ती चित्र के शेर, सहज एक धक्के से गिरा देना' इतनी सुलभता से न करते, कितने पराक्रम से किया यह महाभारत युद्ध वर्णन का हर वाचक भलीभाँति जानता है।

अंत में, श्लोक ११-३२, ३३, ३४ के ऊपर उद्धृत गलत अर्थ की यह विशेष अंतविरोधी परिणति देखिये। अपना उपदेश प्रारंभ करने बाद श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि, (यद्यपि तू पाप, श्रेयहानि आदि की चिंता कर इस युद्ध को इन्कार कर रहा है, किन्तु) समाज में–

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥२-३४
भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यासि लाघवम् ॥३५
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६

तेरे मत्सरी निंदक तुझपर इस युद्ध को भय के कारण इन्कार करने का घोर अकीर्तिकारक आरोप करेंगे। किन्तु वही आरोप स्वयं श्रीकृष्ण श्लोक ११-३२, ३३, ३४ में अर्जुन पर कर उसे धीरज दे रहे थे ऐसा उक्त भाष्यकारों के प्रतिपादन के अनुसार कहना पड़ेगा। वस्तुतः उन श्लोकों में श्रीकृष्ण, जिस अर्जुन ने गोग्रहण युद्ध में अकेले ने इन्हीं भीष्मद्रोणादि सहित कौरवों को पराजित किया था, उस अर्जुन के इस युद्ध में तथाकथित शारीरिक भय का (एवं उन्हीं शत्रुओं को फिर जीतने में आत्मविश्वासहीनता का) नहीं, अपितु उसके मन के महत्पापभय का निराकरण कर रहे थे।

कर्तव्यत्याग के अन्य प्रकार

चौथे प्रकरण में बताये मोह के प्रकारों में से प्रथम प्रकार का, यानी बौद्धिक अज्ञानजन्य कर्तव्यत्याग का, अभीतक स्पष्टीकरण कर, अर्जुन का मोह उस स्वरूप का था, यह देखा। अब मोह के अन्य प्रकारों का कुछ विवेचन करें।

कर्तव्यत्याग के एक प्रकार में अतिनिद्रा, आलस्य आदि से व्यक्ति को निष्क्रियता में ही चाह उत्पन्न होकर कुछ भी विशेष कर्म करने में रुचि नहीं होती है। स्पष्टही अर्जुन का कर्तव्यत्याग इस प्रकार का नहीं था। इसके अलावा, कभी-कभी मानव अपनी शारीरिक पीड़ा के भय से कर्तव्य टालता है। अर्जुनकी मनः स्थिति ऐसी भी नहीं थी।

प्रत्यक्ष अकार्य कर्माचरण

बौद्धिक भ्रम से:– यह निष्काम मोह का एक प्रकार है। इसमें कर्तव्य कर्म का त्याग होता है इतनाही नहीं, अपितु प्रत्यक्ष अकार्य कर्म भी किया जाता है। कुछ अतिवादी मतांधों के कृत्य इस प्रकार में आ सकेंगे।

सकामः– इसमें सकामता के प्रभाव से अकार्य कर्म किये जाते हैं। ऐसे कर्मों के गीता में अनेक उल्लेख आये हैं (३-३६ से ४०; ३७; १६-१०; १७-५)।

कुछ लेखक कर्तव्यत्याग की नकारात्मक वृत्ति को तमोगुण का एकमेव स्वरूप मानकर, प्रत्यक्ष अकार्य कर्माचरण को रजोगुणी मानते हैं। किन्तु रजोगुणी व्यक्ति उचित कर्म, परन्तु सकामता से करता है। अनुचित कर्म तमोगुणी होता है; उसे भी रजोगुणी कहने पर जहाँ (अतिनिद्रा, आलस्य, आदि से) कर्तव्यत्याग कर मात्र निष्क्रिय रहनेवाले व्यक्ति तामसी कहे जायेंगे, वहाँ प्रत्यक्ष घोर अत्याचार करनेवाले 'राजसी' गिने जाकर, उन निष्क्रिय व्यक्तियों की अपेक्षा वरिष्ठ गति पायेंगे ! उदाहरणार्थ, भाष्यकार धनपति श्लोक १४-१८ के स्पष्टीकरण में लिखते हैं, "तथा राजसाः रजोगुणवृत्ते लोभादि पूर्वके काम्यनिषिद्धादिराजसे कर्मणि स्थिताः मध्ये .... मनुष्येषूत्पद्यन्ते। .... जघन्यगुणस्य तमस वृत्ते निद्रालस्यादौ स्थिता जघन्यगुणवृत्तिस्था मूढाः सदैव तामसाः अधो गच्छन्ति पश्वादिषूत्पद्यन्ते" ('इसी प्रकार राजस व्यक्ति, यानी राजोगुणवृत्ति युक्त लोभादि से प्रेरित काम्यनिषिद्धादि राजस कर्मों में रत व्यक्ति, 'मध्ये' यानी मनुष्य लोक में जन्म लेते हैं; और निकृष्ट तमोगुण की वृत्ति में यानी निद्रा आलस्य आदि में मग्न मूढव्यक्ति सदैव तामस

होकर अधोगति को जाते हैं, अर्थात् पशु आदि योनियों में जन्म लेते हैं')।

किन्तु गीता निषिद्ध कर्म करनेवालों को राजस नहीं मानती। श्रीकृष्ण तमोगुण में अप्रवृत्ति, निद्रा, आलस्य आदि नकारात्मक अंगों के अलावा दुष्कर्मस्वरूप 'प्रमाद' को भी स्पष्ट स्थान देते हैं। श्लोक १४-८ एवं १३ में 'प्रमाद' को तमोगुण का एक परिणाम बताया होकर, १४-९ में तो केवल उसीका उल्लेख है। इसी प्रकार १४-१७ में भी 'प्रमाद' का तमोगुण के एक परिणामरूप में उल्लेख होकर, उस श्लोकपर भाष्य में आचार्य राजानुज 'प्रमाद' की यह व्याख्या देते हैं, "अनवधान निमित्तासत्कर्मणि प्रवृत्तिः" (बुद्धि की अनवधानता या भ्रम के कारण असत्कर्म में प्रवृत्ति)।

तमोगुण में प्रत्यक्ष दुष्कर्म आता है। यह गीता में यज्ञ, दान आदि के तामस प्रकार दिये हैं, उससे भी स्पष्ट है। श्लोक १७-१३ में तामस यज्ञकी तथा १७-२२ में तामस दान की परिभाषा दी होकर, १८-२५ में तो तामस कर्म की ही व्याख्या दी है। श्लोक ४-१७ में कर्म, विकर्म एवं अकर्म का स्वरूप जानना चाहिये, ऐसा कहकर, उस अध्याय में बादमें कर्म एवं अकर्म का ही विवेचन है। 'विकर्म' (अयोग्य कर्म) का स्पष्टीकरण उपर्युक्त व्याख्याओं में देखा जा सकता है।

अर्जुन के मोह को चालना देनेवाला श्रीकृष्ण का ही एक शब्द !

इस युद्ध में मुझे किनसे लड़ना है यह मैं एकबार प्रत्यक्ष देख लेना चाहता हूँ, अतः रथ दोनों सेनाओं के ठीक मध्य खड़ा कीजिये, ऐसा अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा था। श्रीकृष्ण द्वारा वैसा करने पर वस्तुतः अर्जुन खुद ही उन योद्धाओं को देख लेता, फिरभी रथ दोनों सेनाओं के मध्य आते ही श्रीकृष्ण ने "पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरून्" (१-२५) ऐसा स्वयं होकर कहा ! 'कुरून्' ऐसा न कहते हुए श्रीकृष्ण उस समय ये शत्रु, योद्धा, राजा आदि कहते तो भी बात अलग थी। श्रीकृष्ण ने बाद में ऐसे अन्य शब्दों का प्रयोग किया है। श्लोक २-१२ में "जनाधिपाः" (राजा लोग) यह शब्द आया है; तथा ११-३३, ३४ में "शत्रून्" "योधवीरान्", ऐसे शब्दों का उन्होंने प्रयोग किया है। किन्तु श्रीकृष्ण ने अर्जुन का रथ दोनों सेनाओं के मध्य में लाते ही, ऐसे किसी शब्द का प्रयोग न करके 'कुरून्' शब्द उच्चारा, जिसने अर्जुन के मन में भीषण रक्तशोषक आग चेता दी! श्रीकृष्ण के उस एक शब्द से दोनों सेनाओं के प्रमुख योद्धा आपस में आप्त संबंधी हैं यह अर्जुन के ध्यान में स्पष्ट रूप से ला दिया। तबतक अर्जुन शत्रुपक्ष के योद्धाओं के बारे में दुष्ट दुर्योधन के पक्षधर इतनी ही दृष्टि से सोच रहा था (१-२३); किन्तु अब उसका ध्यान इसीपर केन्द्रित हुआ कि ये हमारे निकट के आप्त हैं। इस मनः स्थिति में उसको जो दीखा उसका गीताकार ने बड़ा मार्मिक वर्णन किया है।

इसके पूर्व के श्लोंको में दुर्योधन-द्रोण संवाद में उनमें से कईयों का उनके विशिष्ट नामों से उल्लेख आया है (दुर्योधन द्रोण से कहता है)–

अत्र शूरा महेश्वासा भीमार्जुनसमा युधि
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥१-४
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्
पुरुजित्कुंतिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥५
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६
अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८

"यहाँ (पाण्डवों की सेना में) युद्ध लड़ने में भीमार्जुनसमान शूर एवं महाधनुर्धर ऐसे युयुधान (यादववंशी सात्यकि), विराट, महारथी द्रुपद, धृष्टकेतु (शिशुपाल का पुत्र), चेकितान, वीर काशिराज, पुरुजित्-कुंतिभोज, नरश्रेष्ठ शैब्य (शिबि देशका राजा, युधिष्ठिर का ससुर), पराक्रमी युधामन्यु एवं वीर उत्तमौजा (पांचाल देश के दो राजपुत्र), तथा अभिमन्यु एवं द्रौपदीपुत्र होकर, ये सभी महारथी है-४, ५, ६; द्विजश्रेष्ठ (आचार्य द्रोण), अब हमारे पक्ष के प्रमुख, जो मेरी सेना में नायक हैं, उनकी जानकारी लीजिये; आपकी माहिती (जानकारी) के लिये मैं उनके नाम बताता हूँ—७। स्वयं आप, भीष्म, कर्ण,[5] रणविजयी कृप, अश्वत्थामा, विकर्ण, और सौमदत्त का (सोमदत्ति पुत्र भूरिश्रवा)—८"।

किन्तु श्रीकृष्ण द्वारा ये 'कुरून्' देख (१-२५) ऐसा कहनेही अर्जुन को सामने जो दृश्य दिखा, वह कहने में गीताकार ने एक भी व्यक्ति का विशेष नाम से उल्लेख न करके, उनका आपस में क्या स्वजन-संबंध था यही मार्मिकता से दिग्दर्शित किया है!

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥१-२६
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७

"वहाँ अर्जुन ने दोनों सेनाओं में पितृतुल्य व्यक्ति, पितामह तथा पितामहसमान ज्येष्ठ व्यक्ति, आचार्य, मामा एवं मामासमान आप्त, बन्धु, पुत्र एवं पुत्रतुल्य युवक, पौत्रसमान युवक, मित्र, ससुर एवं ससुरसमान संबंधी, तथा स्नेही भी उपस्थित देखे; वहाँ उपस्थित उन सब आप्तस्वजनों को देखकर वह अर्जुन . . . . "

इस समय अर्जुन की दृष्टि में दुर्योधन, दुःशासन, जयद्रथ आदि मात्र उनके वैयक्तिक रूप में प्रतीत न होने, ये मेरे स्वजन हैं यही प्रतीत होने लगा। तथा इस दृष्टि से मेरा इनके प्रति क्या कर्तव्य है यह प्रश्न उसे सताने लगा। श्रीकृष्ण के 'कुरून्' शब्द से उसके मन में जो भीषण तूफान उठा, उसका प्रमुख स्वरूप धर्माधर्म या कर्तव्याकर्तव्य

की गहन समस्या रहा था। स्वयं श्रीकृष्ण के वचन से अर्जुन-मानस में वह प्रश्न उपस्थित हुआ, और उन्होंने ही उसका समाधान करने गीतोपदेश दिया!

अर्जुन का यूरोपियन रूप

अर्जुन के बौद्धिक मोह के समान एक घटना सुप्रसिद्ध फ्रेंच साहित्यकार व्हिक्टर ह्यूगो के La miserables उपन्यास में है। उसकी पार्श्वभूमि यह है। कर्नल पॉटमर्सी एक लड़ाई में घायल होकर बेहोश अवस्था में रणभूमि पर मृत सैनिकों के ढेर में दबे पड़े थे। सायंकाल के बाद हताहत योद्धाओं की मूल्यवान् चीजें चुरानेवाला एक नीच लुटेरा थर्नाडियर वहाँ आया। उसने बेहोश पाँटमर्सी की कुछ चीज चुराने के लिए उन्हें लाशों से कुछ अलग किया, किन्तु उससे पाँटमर्सी को स्वच्छ हवा प्राप्त हुई और होश में आकर उनकी जान बच गई। थर्नाडियर को एक भला व्यक्ति समझकर पाँटमर्सी ने उसे धन्यवाद दिया और उसका नाम आदि पूछ लिया। इतनेमें रणभूमिपर गश्त लगाने वाले सिपाही को उधर आते देख थर्नाडियर भाग गया। बाद में पूर्ण स्वस्थ होने पर कर्नल ने थर्नाडियर की कृतज्ञताभाव से खूब खोज की; किन्तु वह लुटेरा हमेशा अपना निवास बदलता रहता था, इस कारण पाँटमर्सी को उसका कुछ भी पता न लगा। आखिर मरने समय पाँटमर्सी ने अपने पुत्र मेरियस को आदेश दिया कि, वह भी थर्नाडियर की खोज कर कृतज्ञतापूर्वक उसकी पूरी सहायता करे। पितृनिष्ठ मेरियस ने भी सब ओर खोज की किन्तु थर्नाडियर का कोई पता नहीं चला।

इस परिस्थिति में एक दिन युवा मेरियस को अपने पड़ौस के कमरे में कुछ चमत्कारिक घटना हो रही है, ऐसा प्रतीत हुआ। बीचकी दीवार में छत के पास एक छेद था। उसमें से झांकर उसने देखा कि, उसके कुछ परिचय के एक उदार धनी सज्जन को डाकुओं की एक टोली बाँध कर उससे भारी धनराशि की माँग को रही थी, जो पूरी न होने पर वहींपर उसकी हत्या करने की धमकी दी गई थी। यह देख मेरियस ने अपना पिस्तोल हाथ में तैयार रखा; और यदि वास्तव में डाकू दल ने उस सज्जन पर हाथ उठाया तो तत्काल उनपर (दीवाल के छेद में से) पिस्तोल दागनेका निश्चय किया। किन्तु इस दरम्यान डाकू दल के मुखिया ने अपनी धमकी दोहराते हुए अपना नाम 'थर्नाडियर' बताकर कहा कि, मैंने ही कर्नल पाँटमर्सी की जान वॉटर्लूकी रणभूमि पर गोलियों की बौछार के बीच बचाई थी! यह सुनतेही मेरियस का हृदय एकदम काँप उठा! जिसकी सब प्रकार से सहायता करनेका आदेश मेरे पिताने मरते समय मुझे दिया था, तथा उस हेतु आजतक मैं जिसे अति श्रद्धापूर्वक खोज रहा था, उसी इस थर्नाडियर पर मैं इस समय गोली दागूँ, या अपनी आँखों के सामने एक नीच डाकू द्वारा इस सज्जन की निर्मम हत्या होने दूँ, यह घोर कर्तव्य व्यामोह उस सरल हृदय युवक के मन में निर्माण हुआ! उसकी उस मनःस्थिति का ह्यूगो द्वारा दिया मार्मिक वर्णन,[6] तथा साथ में गीता के अर्जुनमानसविषयक समान कुछ वचन, मैं यहाँ उद्धृत करता हूँ। स्थल एवं काल के

विशाल अंतर के बावजूद इन दो विश्वप्रसिद्ध रचनाओं में वैचारिक एवं शाब्दिक भी साम्य वास्तव में लक्ष्यवेधक है।

थर्नार्डिअर द्वारा अपने नाम का किया वह उच्चार सुनते ही–

"Marius trembled in all his limbs (सीदन्ति मम गात्राणि, १-२९), and he lent against the wall (रथोपस्थ उपाविशत्, १-४७), as if he felt a cold sword blade thrust throught his heart. Then his right hand raised in readiness to fire, slowly dropped..... Marius' relaxing fingers almost let the pistol fall (गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् १-३०).... What! this man was Thernadier, the landlord of Monfermeil, whom he had so long and so vainly sought! This man, to whom Marius burned to devote himself (पूजार्हौ २-४), was a monster!.... What bitter mockery of fate!.... at the very moment when he was about to deliver over to justice a brigan in the act of crime (प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते १-२०) destiny cried to him, 'It is Thernardier!' (उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति, १-२४); and he was at length about to requite this man, for saving his father's life amid a hailstorm of grapeshot on the heroic field of Waterloo by sending him to the scaffold! (अहो बत महत्पापं कर्तुम् व्यवसिता वयम्, १-४५). But on the other hand how could he witness a murder, and not prevent it ?.... Could he be bound by any ties of gratitude to such a vallain ? (एतान् आततायिनः १-३६).... There was remorse on eithther side. What could he do ? Which should be choose ? (नचैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो। यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः २-६). His knees gave way under him (न च शक्नोम्यवस्थातुम् १-३०).... He had heard two voices in his conscience, one telling him to respect his father's will, while the other cried to him to succour the prisoner. These two voices continued their stuggle uninterruptedly and caused him an agony (न हि प्रपश्यामि ममापनुद्यात्। यश्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् २-८). He had vaguely hoped upto this moment to find some mode of reconciling these two duties (धर्मसम्मूढचेताः २-७)....."

मेरियस का मन इस समय किस बात से इतना घोर विचलित हो रहा था ? एक ओर मृत पिता की अंतिम इच्छा का पालन, और दूसरी ओर अपनी आँखों के सामने होनेवाली एक सज्जन की क्रूर हत्या बचाना, इन दो कर्तव्यों के संघर्ष से उत्पन्न वह बौद्धिक संभ्रम था। गीतारंभसमय अर्जुन की भी अवस्था मूलतः उसी स्वरूप की थी– दो कर्तव्यों में संघर्ष, एवं प्राप्त परिस्थिति में उनमें से किसका पालन करना और किस कर्तव्य का अनिवार्य उल्लंघन करना इसका उचित निर्णय करने में बुद्धि की असमर्थता।

---

१. पूर्व उल्लेखित पृ० ६४. यहाँ 'आत्म कृपा' के लिये अरविंद का मूल अंग्रेजी शब्द self-pity है।
२. इसमें 'धर्माधर्मभयेन' के साथ 'बन्धुस्नेहेन कारुण्येन च' न जोडा होता तो अधिक सयुक्तिक होता।
३. 'गीतारहस्य', मूल मराठी, यहाँ हिन्दी अनुवाद। इस उद्धरण में 'अनेकानेक सेनाओं में' के पूर्व 'शत्रुपक्षीय' शब्द आवश्यक था, अन्यथा वह उभय पक्षों को लागू होकर अगले वाक्य से विसंगत होगा।
४. अर्जुन में मन में शत्रुओं से शारीरिक भय देखनेवाले शंकराचार्य (अपने भाष्य के आरंभ में) यह भी लिखते हैं कि, अर्जुन उस समय उन्हीं शत्रुओं के प्रति आत्ममतताभाव से प्रभावित था "तथा हि अर्जुनेन ...... अहमेषां ममैते इत्येवं प्रत्यय निमित्त स्नेह विच्छोदादिनिसित्तावात्मनः शोकमोहौ प्रदर्शितौ।" यह स्पष्ट ही परस्पर विसंगत है।
५. भीष्म (जब तक) सेनापति थे तबतक कर्ण प्रत्यक्ष लड़ाई नहीं करनेवाला था, अतः वह उस समय रणभूमि पर स्वयं उपस्थित नहीं था; किन्तु दुर्योधन यहाँ अपने प्रमुख योद्धाओं के केवल नाम ले रहा है।
६. English Transtation (Collins Press). chapter 79.

श्रीः

गीता-तत्त्व-मीमांसा

उत्तर खण्ड

श्रीकृष्ण का ज्ञानोपदेश

प्रकरण ७

ऐच्छिक कर्म की प्रक्रिया

नीतिदर्शन के दो मूल प्रश्न

वीरश्रेष्ठ अर्जुन को युद्धारंभ के ऐन क्षण पर उस युद्ध के विषय में हुए मोह का स्वरूप, तथा श्रीकृष्ण द्वारा किया गया उसका निराकरण, हमने पूर्व खण्ड में देखा। अब श्रीकृष्ण के गीतोपदेश में नीतिशास्त्रविषयक कौन-सा सनातन सिद्धांत प्रतिपादित है, यह देखें।

नीतिदर्शन के दो प्रमुख विषय आदर्श कर्म का स्वरूप तथा आदर्श जीवन का स्वरूप ये हैं। आदर्श जीवन कर्माचरण युक्त हो, या मात्र ज्ञानोपासनास्वरूप कर्मसंन्यासात्मक, इस विषय में प्राचीन काल से मतभेद हैं; और वह भारत में ही नहीं अपितु पाश्चिमात्य चिंतन में भी हैं। ग्रीक दार्शनिक अरस्तू (Aristotle) ने नीतिदर्शन पर अपने ग्रंथ में इन दो पंथों की चर्चा की है; अंग्रेजी भाषा में इन दो जीवन पद्धतियों को the active life और the contemplative life कहते हैं।

इनमें से ज्ञानमार्ग के अनुसार अंतिम आदर्श जीवन में कर्म का अभाव होता है; सत्कर्मों द्वारा चित्तशुद्धि होने पर कर्मसंन्यास की पात्रता आती है ऐसा इस पंथ का प्रतिपादन है। अतः वह अवस्था प्राप्त होने पूर्व जो कर्म करने हैं, वे किस प्रकार के हों तथा किस भूमिका से किये जावें, इसका विवेचन उन्हें भी करना होता है। इस लिये उक्त दो विषयों में से प्रथम नैतिक कर्म के स्वरूप की मीमांसा करें।

कर्मों के भेद

गीता आदर्श कर्म में निष्काम (एवं निरहंकार) वृत्ति का महत्त्व बताती है, किन्तु कर्ताकी बुद्धि इस प्रकार शुद्ध होनेपर भी गीता के अनुसार कर्ता नें कर्म के प्रत्यक्ष ब्यौरे पर उचित विचार करना आवश्यक है। इसका कुछ विवेचन पूर्व खण्ड में आया है। कर्ता

व्यक्तिगत रूप में निष्काम हो तोभी कौनसा कर्म 'कार्य' याने करने उचित तथा कौनसा 'अकार्य' है, इस विवेक की आवश्यकता गीताकार ने प्रतिपादित की है। कईबार इस ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता। उदाहरणार्थ, तिलक (पूर्व उल्लिखित, श्लोक १८-२ पर टिप्पणी में) लिखते हैं, "कर्मयोगमार्ग में सब कर्मों के दो ही विभाग किये जाते हैं, एक 'काम्य' अर्थात् फलाशा से किये हुए कर्म और दूसरे 'निष्काम' अर्थात् फलाशा छोड़कर किये हुए कर्म . . . . ये ही दो भेद सिद्ध होते हैं। अब कर्मयोगी सब 'काम्य' कर्मों को सर्वथा छोड़ देता है. . . . फिर बच रहे 'निष्काम' कर्म। सो गीता में कर्मयोगी को निष्काम कर्म करनेका निश्चित उपदेश दिया गया है।"

किन्तु कर्मों में मात्र काम्य एवं निष्काम इतना ही भेद न कर, कार्य एवं अकार्य ऐसा भी दूसरा भेद गीता में किया है। दूसरे अध्याय के समारोप में निष्कामतायुक्त स्थितप्रज्ञता का उपदेश करने के बाद, श्रीकृष्ण अर्जुन से निष्काम होकर कोई भी कर्म कर ऐसा न कहते हुए, यह आदेश देते हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥३-१९

"अतः सदैव असक्त वृत्ति से कार्य (उचित) कर्म कर; अनासक्तता से (ऐसा) कर्म करनेवाला व्यक्ति परम (ब्रह्म) अवस्था प्राप्त करता है।" तथा छठे अध्याय में भी आदर्श व्यक्ति का यह वर्णन देते हैं—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः . . . ६-१

इसमें भी कर्म फल के प्रति अनासक्ति के अलावा कर्म की 'कार्यता' पर निःसंदिग्ध जोर दिया है,

गीता में कर्म की कार्यता को इस प्राकर स्वतंत्र महत्त्व दिया गया है। फल में अनासक्ति निःसंदेह इष्ट है, किन्तु वह कर्म को एकमेव नैतिक कसौटी नहीं। श्रीकृष्ण कर्मों में काम्य-निष्काम इतनाही भेद न कर, कार्य-अकार्य भेद भी करते हैं। यह विचारधारा पाश्चिमात्य नीतिदर्शन में भी पायी जाती है। "Those who hold that regard for duty is an indispensable condition of acting rightly, would generally admit that acting rightly is not adequately defined as acting from a pure desire to act rightly; that though, in a certain sense, a man who sincerely desires and intends to act righty does all he can, and completely fulfils duty, *still such a man may have a wrong judgment as to the particulars of his duty, and therefore, in another sense, may act wrongly.* If this be admitted, it is evident that, even on the view that the desire or resolution to fulfil duty as such is essential to right action, *a distiction between two kinds of rightness is required* which we may

express by saying that an act is –on this view– 'formally' right, if the agent in willing is moved by pure desire to fulfil duty or chooses duty for duty's sake; 'materially' right, if he intends the right particular effects".[1]

गीतोक्त नैतिक कर्म के उपर्युक्त द्विविध स्वरूप की ओर दुर्लक्ष्य कर, मात्र एकही अंग पर लक्ष्य केन्द्रित कर तिलक 'कर्मयोग' की यह व्याख्या देते हैं, "एकही कर्म करनेके जो योग, साधन या मार्ग हैं, उनमें से सर्वोत्तम और शुद्ध मार्ग कौन है, ... जिस मार्ग को हमने उत्तम मान लिया है, वह उत्तम क्यों है; जिस मार्ग को हम बुरा समझते हैं, वह बुरा क्यों है . . . . इत्यादि बातें जिस शास्त्र के आधार से निश्चित की जाती हैं, उसको 'कर्मयोगशास्त्र' या गीता के संक्षिप्त रूपानुसार 'योगशास्त्र' कहते हैं। 'अच्छा' और 'बुरा' दोनों साधारण शब्द है. . . . कार्य-अकार्य, कर्तव्य-अकर्तव्य, न्याय्य-अन्याय्य इत्यादि शब्दों का भी अर्थ वैसे ही होता है।" (पू० उ. पृ० ६१).

इस व्याख्या का प्रारंभ ही एकांगितादर्शक है। "एकही कर्म करने के" दो मार्गों में कौनसा इष्ट, यह कर्ममीमांसा का एक प्रश्न हुआ। किन्तु इसके अलावा, दूसरा सवाल है, प्राप्त परिस्थिति में एक से अधिक कर्म संभव होने पर उनमें से कौन-सा करना ? इसका संबंध उपरोक्त कार्याकार्य भेद से है। कर्मयोग की उक्त परिभाषा मात्र सकाम-निष्काम भेद पर केन्द्रित है; और फिरभी व्याख्या के अंत में वही भेद यानी कार्य-अकार्य भेद ऐसा कहने से अधिक ही भ्रम निर्माण हुआ है।

गीता कर्मों में सकाम-निष्काम भेद के अलावा कार्याकार्य भेद भी करती है। इस कार्याकार्य भेद की कसौटी क्या है ? कौन-सा कर्म कार्य एवं कौन-सा अकार्य यह कैसा निश्चित करना ? किन्तु यह चर्चा करने पूर्व मानव के कर्म की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया पर कुछ विचार इष्ट होगा।

कर्मप्रवृत्ति

नीतिदर्शन का संबंध मानव के ऐच्छिक कर्मों से होता है। ऐच्छिक कर्म मन में कुछेक उद्दिष्ट (प्राप्तव्य) रखकर किया जाता है। विद्यमान परिस्थिति में व्यक्ति को असंतोष होनेपर वह उसमें परिवर्तन करने का सोचने लगता है; और वह विचार दृढ़ होनेपर तदनुसार प्रयास करता है। अच्छे या बुरे, स्वार्थी-परोपकारी, सभी ऐच्छिक कर्मों का यह सामान्य स्वरूप है। वर्तमान परिस्थिति, एवं व्यक्ति के मन में उसका आदर्श स्वरूप, इनमें विरोध उत्पन्न होनेपर कर्मप्रवृत्ति का उदय होता है। वर्तमान परिस्थिति में अपनी धारणा के अनुसार परिवर्तन करने मानव कर्म-प्रवृत्त होता है। इस प्रकार किसी (स्वार्थी या निःस्वार्थी) ध्येय में भावना, उस दृष्टि से वर्तमान परिस्थिति में असंतोष का अनुभव, तथा उसमें से कर्म प्रवृत्ति का उदय, ऐसा यह क्रम है। किन्तु यहाँतक कर्म की मात्र स्थूल दिशा, उसका बाह्य 'आकार', तैयार होकर, उसमें विवरण (तफसील) का निर्धारण शेष रहता है। यह काम विवेक बुद्धि करती है। वर्तमान परिस्थिति को (अपने लक्ष्य के

अनुरूप) सुधारने संभाव्य विकल्पों पर विचार कर, कौन-सा मार्ग (साधन) कर्ता को इष्ट है इसका वह निर्णय करती है। किसी दुखी व्यक्ति की सहायता करने की स्थूल इच्छा प्रथम हो सकेगी; और फिर वह सहायता किस विशिष्ट तरीके से की जावे इसका ब्यौरा तय होकर प्रत्यक्ष कर्म की पक्व इच्छा होगी।

निःस्वार्थ कर्मों में प्रेरक भावना के सम्मुख दो प्रमुख ध्येय हो सकते हैं– स्वयंका वास्तविक हित ('निःश्रेयस'), तथा परहित। स्वयं की आध्यात्मिक उन्नति का ध्येय शाब्दिक दृष्टि से 'स्वार्थ' कहा तो भी 'स्वार्थ' शब्द के रूढ अर्थ से वैसा नहीं। स्वार्थनिरपेक्ष दूसरा ध्येय 'परसुख' न होकर 'परहित' है। अन्य व्यक्ति के संबंध में परसुख उसके हित का साधन है। उसके वास्तविक हित को बाधक हो ऐसे उसकी सुख की इच्छा करना यह सच्ची निःस्वार्थ या परोपकारी वृत्ति नहीं होगी।

तत्त्वतः कर्मों का स्वार्थी एवं निःस्वार्थी ऐसा विभाजन किया तोभी प्रत्यक्ष में कई कर्म मिश्रित स्वरूप के होते हैं; कहीं स्वार्थ की मात्रा अधिक तो कहीं निःस्वार्थता की।

ध्येय अंतिम या फिर दुय्यम होते हैं। कोई ध्येय अंतिम है इसका मतलब यह कि, तर्क पर आधारित विचार परंपरा वहाँ विराम होती है। दुय्यम ध्येय तर्कद्वारा प्रस्थापित किये जा सकते हैं; किसी अन्य वरिष्ठ ध्येय की ओर ले जाना, यह उनको इष्टता होती है। अंतिम ध्येय इस प्रकार सिद्ध नहीं किया जा सकता। व्यक्ति उसे मान्य करे या न करें; किन्तु प्रत्यक्ष युक्तिवाद को वहाँ स्थान नहीं होता। जैसा कि अंग्रेज दार्शनिक J.S. Mill ने कहा है, "Questions of ultimate ends are not amenable to direct proof. Whatever can be proved to be good, must be so by being shown to be a means to something admitted to be good without proof" (*utilitarianism*, chapter I; तथा देखिये, *The methods of Ethics* by H. Sidgwick, p. 419). परम आत्मतत्त्व के विषय में गीता भी कहती है, "यो बुद्धेः परतस्तु सः" (३-४२).

संवेदना एवं मनोविकार

सुखदुःख संवेदना (Sensation) केवल (अनुकूल-प्रतिकूल) प्राथमिक अनुभव हैं। इसके विपरीत, काम, क्रोध, भय, हर्ष, शोक ये मनोविकार होकर मानसिक क्षुब्धता के प्रकार (Emotions) हैं। सुखदुःख के प्राथमिक अनुभवों में मानसिक क्षुब्धता प्रवेश करने पर सुख का हर्ष में तथा दुःख का शोक (विषाद) में रूपांतर होता है। शरीरधारी जीव को सामान्य निसर्गनियमानुसार सुखदुःखानुभव होना अपरिहार्य है। स्थितप्रज्ञ व्यक्ति को भी कांटा चूभनेपर प्रतिकूल संवेदना यानी दुःखानुभव, तथा सुगंधयुक्त पुष्प सूंघने पर सुखानुभव होगा; किन्तु सामान्य मानव के समान स्थितप्रज्ञ उस दुःख से क्षुब्ध, और सुख में आसक्त नहीं होगा।[1]

इसी लिये गीता में सुखदुःखानुभवों के समूल त्याग (या दमन) का नहीं, अपितु उन्हें निर्विकार अक्षुब्ध अंतःकरण से अनुभव करने का उपदेश दिया है।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥२-१४

इस श्लोक में गीताकार ने जीव शरीर निवासी है तबतक सुखदुःख संवेदनाओं की अपरिहार्यता सूचित की है; तथा उनके संबंध में 'तितिक्षा' यानी निर्विकारता से सहन करना यह उचित मार्ग बताया है। इन्द्रियों का विषयों से संयोग ('मात्रास्पर्श') होनेपर मानव के मन में सुखदुःख के तरंग उठेंगे ही। किन्तु जो उनसे व्यथित (क्षुब्ध) न होकर उन्हें अनुभवता है वह श्रेष्ठ है (२-१५)

इसके विपरीत, काम, क्रोध, हर्ष, उद्विग्नता, शोक, भय, लोभ आदि (क्षुब्धतारूप) मनोविकारों का प्रत्यक्ष त्याग करना है। (२-६४, ४-१०, ५-२३, ५-२६, १६-२१).

परिणामों के प्रकार

गीता परिणामविचार का निषेध करती है ऐसी धारण कईबार व्यक्त की जाती है; किन्तु वह अंशतः ही सत्य है। कर्म के परिणामों पर विवेक पूर्णतः त्यागकर कर्म की नैतिकता निश्चित करना संभव नहीं।[3] अतः कर्म के परिणाम कितने प्रकार के होते हैं यह देखें।

- परिणाम
  - अपेक्षित
    - –इच्छित
    - –अनिच्छित
  - अनपेक्षित
    - –जिनकी अपेक्षा करना कर्ता को सामान्यतः संभव एवं आवश्यक था।
    - –जिनकी कल्पना करना कर्ता को सामान्यतः संभव नहीं था।

इनमें से अपेक्षित इच्छित परिणामों को कर्ता के मन का 'हेतु' कहा जाता है। इन्ही को मूर्त स्वरूप देने वह कर्मप्रवृत्त होता है। अतः इनकी जबावदारी उसपर अवश्य आयेगी। तथा आखिर वे परिणाम प्रत्यक्ष घटित न हुए तो भी उन्हें 'हेतु' करने के लिये वह उत्तरदायी होगा।

कभी कभी अपनी कृति से कुछ विशिष्ट परिणाम भी होगा यह जानते हुए भी, कर्ता उसकी इच्छा नहीं करता है; किन्तु मूल हेतु की सफलता के लिये वह परिणाम अपरिहार्य हो तो कर्ता वह भी होने देता है। मूल हेतु इष्ट हो, तथा ऐसे अतिरिक्त अपेक्षित परिणाम अटल हो, तो वे अतिरिक्त अपेक्षित परिणाम सामान्यतः अनिष्ट हो तो भी कर्ता पर उनका उत्तरदायित्व नहीं आयगा। मरीजपर आवश्यक शस्त्रक्रिया करने में उसे होनेवाली पीड़ा शल्यचिकित्सा का एक अपेक्षित परिणाम है किन्तु इच्छित नहीं, तथा उसकी कोई जबाबदारी चिकित्सक पर नहीं आयगी। इसके विपरीत मूल 'हेतु' बुरा हो, तो उसके अतिरिक्त अपेक्षित परिणामों के लिये भी कर्ता जबाबदार रहेगा।

अनपेक्षित परिणामों में कुछ ऐसे होते हैं जिनकी पूर्वकल्पना (अपेक्षा) करना

कर्ता को सामान्यतः संभव था। उनकी जबाबदारी से वह छूट नहीं सकता। किन्तु जिनकी अपेक्षा कर्ता को सामान्यतः संभव नहीं हो सकती थी ऐसे परिणामों का उत्तरदायित्व उसपर नहीं आयेगा।

अब इस संदर्भ में हम कुछ पश्चिमात्य नीतिदर्शनों पर संक्षेप में विचार कर उनकी गीता से तुलना करें।

'उपयोगितावाद' का ऐहिक सुख

जीवन का अंतिम ध्येय सुख है, तथा सुखकारिता कर्म की नैतिकता की कसौटी है–अर्थात् जिस मात्रा में कर्म सुखप्रद हो उस मात्रा में उसे नैतिक कहा जाए– इस विचारधारा को सुखवाद (Hedonism) कहते हैं। इस सुखवाद के दो प्रमुख प्रकार हैं। एक के अनुसार व्यक्ति स्वयं के ही सुख की इच्छा करे। ऐसा 'सुखवाद' प्राचीन भारत में चार्वाक द्वारा तथा युरोप में एपिक्युरस द्वारा व्यक्त हुआ था। किन्तु दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में इसे गंभीर मान्यता नहीं मिली। इसके विपरीत 'परसुखवाद' का प्रतिपादन है कि, व्यक्ति कुल समाज के सुख को अपना लक्ष्य माने। यह सिद्धान्त आंग्ल चिंतक जॉन स्टुअर्ट मिल द्वारा विशेष रूप से प्रतिपादन किया होकर, उसे 'उपयुक्ततावाद' (उपयोगितावाद) कहा जाता है।[4]

इस पंथ के अनुसार जीवन का अंतिम लक्ष्य, तथा कर्म की नैतिकता को कसौटी, 'सर्वाधिक व्यक्तियों का सर्वाधिक सुख' (Greatest happiness of the greatest number) यह है। किन्तु सुखवाद का यह उदात्त प्रकार होने पर भी, इसमें जिस सुख को लक्ष्य माना है वह ऐहिक सुख है। मिल सुखस्वरूप अंतिम ध्येय में शारीरिक स्वास्थ्य, सत्ता, कीर्ति, संपत्ति, आदि से प्राप्त सुख का भी समावेश करते हैं (देखिये पूर्व उल्लेखित, page 54-57)। तथा आदर्श अवस्था में दुःख 'जहाँतक संभव हो सके उतने कम होंगे' ऐसा वे कहते हैं, तब उनकी दृष्टि में दरिद्रता, बेकारी, अपघात, बिमारियाँ, अत्याचार, आदि दुःख होते हैं (उक्त, pp. 21-22); और उस दृष्टि से वे सामाजिक सुधार, शैक्षणिक प्रगति, आदि पर विशेष बल देते हैं (उक्त, pp. 18-19)।

गीता भी अंतिम आदर्श अवस्था में दुःखनिवृत्ति (२-६५) एवं 'संपूर्ण दुःखरहित आनंद' (६-२३) का आश्वासन देती है। किन्तु उसकी दृष्टि में मात्र भौतिक दुःख न होकर, आध्यात्मिक अज्ञान (५-१६), मन की चंचलता (६-३४) आदि मूलभूत दुःख बीज हैं।

मिल के अनुसार नैतिकता की कसौटी

कर्म की मूल प्रेरणा (Motive) तथा उसका ब्यौरास्वरूप उद्देश्य (Intention) इनमें भेद कर मिल कहते हैं कि, कर्म की नैतिकता केवल 'उद्देश्य' से निर्धारित की जाए, प्रेरक हेतु कुछ भी हो। इस तर्क के अनुसार कर्म का हेतु सकाम हो तो भी यदि तफसील अच्छे हो, तो उसे नैतिक कर्म माना जावे। यदि एक व्यक्ति किसी डूबनेवाले को, धनलाभ से ही क्यों न हो बचाता है, तो वह कर्म मिल के अनुसार नैतिक कहा

जावेगा, यद्यपि हेतु स्वार्थ है। मिल लिखते हैं, "The motive has nothing to do with the morality of an action, though much with the worth of the agent" (p. 26) तथा "The morality of the action depends entiely upon the intention– that is upon what the agent *will to do.* But the motive, that is the feeling which makes him will so to do, when it makes no difference in the act, makes none in the morality; though it makes a great difference in our moral estimation of the agent. . . ." (p. 27). इसमें मिल का कहना है कि, कर्म की नैतिकता निर्धारित करने में 'उद्देश्य' यानी (वांछित परिणामों के स्वरूप के) तफसील पर ही ध्यान दिया जावे, उस कर्म की प्रेरणा सकाम है या निष्काम, द्वेषमूलक या प्रेममूलक, इसपर विचार आवश्यक नहीं। यदि प्रेरणा की कुछ विशेषता के कारण कर्म के प्रत्यक्ष ब्यौरे में ही अंतर आता हो, तो कर्म की नैतिकता ठहराने में उसपर भी विचार किया जावे। किन्तु यद्यपि मूल कर्मप्रेरणा कर्म की नैतिकता परखने में सामान्यतः गैरलागू हो, तो भी कर्ता के वैयक्तिक चारित्र्य का मूल्यांकन करनेमें उसपर विचार उचित होगा।

एक उदाहरण लीजिए। दो व्यक्ति 'क' एवं 'ख' राष्ट्रीय सेना में भरती होते हैं; 'क' वेतन हेतु, किन्तु 'ख' विशुद्ध देशभक्ति से प्रेरित। मिलके प्रतिपादन के अनुसार यदि दोनों समान शौर्य से लड़ते हैं, तो दोनों के कर्म समान नैतिक कहे जावेंगे, किन्तु व्यक्ति के नाते 'क' से 'ख' अधिक श्रेष्ठ चारित्र्यवान कहा जावेगा।

यह ठीक है कि, सकाम प्रेरित किन्तु कार्य (सुपरिणामी) कर्म कुछ अंशतक इष्ट माना जा सकता है; तथा निष्काम किन्तु अकार्य कर्म से वह अच्छा भी है। परन्तु आदर्श यानी पूर्णतः नैतिक कर्म जैसा 'कार्य' वैसाही प्रेरणासे निष्काम भी हो, ऐसा गीता का आदेश है। कर्म की मूल प्रेरणा की उपेक्षा कर मात्र बाह्य परिणामों से उसकी नैतिकता पूर्णतया परखना गीता को मान्य नहीं।

काण्ट का सिद्धान्त

जहाँ मिल के अनुसार कर्मों की नैतिकता मात्र परिणामों से निर्धारित की जावे, वहाँ जर्मन दार्शनिक इमॅन्युराल कांट[१] प्रतिपादन करते हैं कि, नैतिकता के निर्णय में परिणामों पर विचार अप्रस्तुत है। मात्र ऐहिक सुखदुःखात्मक परिणामों से नैतिकता का निर्णय करने से शाश्वत नीति नियम उपलब्ध नहीं होता। एकही घटना भिन्न व्यक्तियों को सुखदुःख की दृष्टि से भिन्न स्वरूप की प्रतीत हो सकती है। अतः जिसके परिणाम सुखप्रद वह नैतिक ऐसी परिभाषा करने से, सारा नीतिदर्शन सापेक्ष होते दीखता है। कांट नीतिदर्शन को इस अनिश्चितता से मुक्त रखना चाहते थे।

इस दृष्टि से सोचनेपर कांट ने देखा कि, इस संसार में मात्र एकही बात निरपवाद अच्छी होती है– व्यक्ति की 'सत्प्रवृत्ति' (The Good Will), कर्म करते समय अंतःकरण की शुद्धता। अन्य सभी विषयों की इष्टता इस सत्प्रवृत्ति पर निर्भर रहती है। विद्या, शक्ति,

सत्ता, संपत्ति, ये सब तभी अच्छे होंगे, जब अंतःकरण में सत्प्रवृत्ति हो। दुष्टों के हाथों में सत्ता या विद्या कितनी भयावह होती है यह कहने की आवश्यकता नहीं।

कांट इस सत्प्रवृत्ति का इस प्रकार स्पष्टीकरण देते हैं। सत्प्रवृत्त कर्म केवल कर्तव्यबुद्धि से किया जाता है। उसका प्रेरक हेतु किसी इष्ट परिणाम की प्राप्ति न होकर मात्र कर्तव्य करना इतना ही होता है (Duty for the sake of duty.)

कर्तव्यता याने मूलभूत नीतिमत्ता के प्रति संपूर्ण आदरभाव कर्म करने में मात्र नैतिकता का पालन, यही कर्ता की भूमिका को तो वह कर्तव्य कर रहा है, ऐसा कहा जावेगा।

इस नैतिकता का मूलभूत विधान (Fundamental moral law) स्पष्ट करने में कांट कर्म की विशिष्ट परिस्थिति का सारा विचार अलग रखनेका प्रयास करते हैं। परिस्थिति सदैव परिवर्तनशील रहती है; तथा जो बात उसपर आधारित हो वह शाश्वत नहीं हो सकती। कांट उनके मूलभूत नीति दंडक को स्वयंसिद्ध एवं परिस्थितिनिरपेक्ष मानते हैं। वे उसका विवरण तीन आदेशों के द्वारा देते हैं; जिनमें दो ये हैं (१) उसी आचारनियम के अनुसार कर्म किया जावे, जो सार्वत्रिक नियम होने की इच्छा की जा सकती है। (२) मानवता को, चाहे वह स्वयं की हो या अन्य किसी की, कभीभी मात्र साधन न मानते हुए हमेशा साध्य (ध्येय) मानकर कर्म किया जावे। कांट का तीसरा आदेश इससे विशेष भिन्न नहीं हैं।

प्रथम आदेश में कांट कहते हैं कि, कोई भी कर्म करने में व्यक्ति स्वयं को अन्यों से भिन्न श्रेणी का न समझे। नीतिदर्शन की दृष्टि से सभी समान हैं। स्वयं को अपवाद मानना अनीति का मूल है। जिस नियम का सभी द्वारा पालन संभव न हो, वह किसी के भी आचरण के पात्र नहीं। कांट यहाँ अपना आशय कुछ उदाहरणों से स्पष्ट करते हैं। यदि कोई वचनभंग करना चाहता हो, तो वह सोचे कि, यदि सभी ऐसा करेंगे तो क्या होगा ? उस हालत में कोई किसी पर विश्वास नहीं करेगा, किसी का वचन स्वीकार नहीं करेगा, फिर भंग करने वचनही कहा होंगे ? तथा वचनभंग का कर्म आगे चालू कैसा रहेगा ? मतलब यह कि, वचनभंग ऐसा कर्म है, जिसका सार्वत्रिक आचरण करने का प्रयास करने पर वह कर्मही असंभव हो जाता है ! अतः वह कर्म अनैतिक है; इसलिये नहीं कि उससे किसीको दुःख होगा। कांट द्वारा दिया दूसरा उदाहरण आत्महत्या का है। यदि हर व्यक्ति आत्महत्या करे, तो वह कर्म चालू रखने से मनुष्य भी कहाँ बचेंगे? इस प्रकार आत्महत्या का सार्वत्रीकरण उस कर्म को ही नष्ट करेगा; अतः आत्महत्या अनैतिक है।

अपने द्वितीय आदेश में कांट मानव के कर्मों के लिये मानवता की उन्नति यह आदर्श ध्येय बताते हैं। निःसंदेह यह एक उदात्त ध्येय है। कोई भी किसी को मात्र किसी अन्य का साधन न मानकर साध्य माने; बल्कि स्वयं की मानवता को भी अपने भौतिक

सुखोपभोग का साधन न माना जावे। इस आदेश द्वारा कांट सभी वैयक्तिक, सामाजिक तथा राजकीय शोषण का निषेध करते हैं। उनका प्रतिपादन है कि, हर एक स्वयं की तथा अन्यों की मानवता के सर्वांगीण विकास के लिये प्रयास करे।

कांट की धारणा है कि, इन आदेशों के आधार पर प्रत्यक्ष व्यवहार में कर्माचरण के लिये मार्गदर्शन प्राप्त होकर, परिस्थिति निरपेक्ष शाश्वत नीति दर्शन प्रतिपादन करना संभव है। अब इसका कुछ परीक्षण करें।

यह सच है कि, कांट का प्रथम आदेश व्यक्ति को सही रास्ते पर रखने में कई बार उपयुक्त होगा। जो सबको नहीं करना है वह सामान्यतः मैंने भी क्यों करना ? प्रायः व्यक्ति स्वार्थवश अपने लिये विशेष सहूलियत चाहता है। यदि ऐसे समय वह इस दृष्टि से सोचे तो अपनी भूल महसूस कर सकेगा।

फिरभी, इस आदेश से नैतिक कर्म की संपूर्ण कसौटी प्राप्त नहीं होती। जिस पद्धति से कांट ने आत्महत्या एवं वचनभंग को अनैतिक ठहराया, उस पद्धति से कुछ स्पष्ट अच्छे कृत्य भी अनिष्ट कहे जा सकेंगे। सभी सेनापति होना चाहेंगे तो सिपाही कौन होगा? और बिना सिपाहियों के सेनापति कैसा संभव है ? कांट ने आजीवन ब्रह्मचर्य पालन किया; किन्तु सभी ऐसा करना चाहेंगे तो इस नियम को आगे चलाने के लिए मनुष्य कहाँ मिलेंगे ? अपने देश के हितार्थ एक देशभक्त प्राणों का बलिदान करता है; किन्तु सभी देशवासी ऐसा करने लगेंगे तो वह कर्म आगे कौन चलायेगा ?

नियम एवं अपवाद

कांट ऐसा गृहीत धरते दीखते हैं कि, आचारनियमों को किये जानेवाले सारे अपवाद स्वार्थमूलक होते हैं; किन्तु यद्यपि व्यक्ति सामान्य नियम को प्रायः स्वार्थवश अपवाद करना चाहता है, अपवाद का वही एक प्रकार नही।[6] कभी-कभी निःस्वार्थ भूमिका से भी नियम को अपवाद करना पड़ता है। दो नियमों में ही परस्परविरोध की परिस्थिति प्राप्त होनेपर उसनमें से किसी एक का भंग, यानी उसे अपवाद, करना अनिवार्य होता है। क्या प्रह्लाद एवं ध्रुव को पितृ-आज्ञापालन का महत्त्व ज्ञात नहीं था ? क्या मीराबाई पत्नी धर्म नहीं जानती थी ? क्या इन विभूतियों द्वारा ईश्वरप्राप्ति हेतु ऐसे सर्वसामान्य नियमों के किये अपवाद को हम स्वार्थमूलकही कहेंगे ?

स्वयं गीता का ही प्रसंग देखिये। अर्जुन को उस समय वह युद्ध करना चाहिये, ऐसा उपदेश देनेवाले श्रीकृष्ण को क्या अहिंसा का महत्त्व मान्य नहीं था ? वे वास्तविक ज्ञानसंपन्नता में (१३-७), मानवी सद्गुणों में (१०-४, ५), दैवी स्वभाव में (१६-२), एवं तप में (१७-१४) अहिंसा का समावेश करते हैं। फिरभी वे अर्जुन को उसकी परिस्थिति में हिंसात्मक युद्ध करने को कहते हैं। किन्तु उन्होंने वह आदेश इसलिये दिया की, अर्जुन के लिये वह एक ऐसा आवश्यक 'धर्म्य' युद्ध था, जिसमें अर्जुन के शत्रु घोर अन्याय एवं अधर्म का पक्ष लेकर लड़ने खड़े थे। फिर भी इस बात की अनदेखी कर आत्यंतिक

अहिंसावाद के कुछ पुरस्कर्ता गीता को एवं श्रीकृष्ण को व्यर्थ दोष देते हैं। उदाहरणार्थ जापान के डॉ० कागावा लिखते हैं, "Towards Kṛṣṇa's reply in the Gita I have a strong feeling of indignation. With questionable theory derived from absolute spiritism, Kṛṣṇa instructs Prince Arjuna, who has awakened to sacred love, upon the necessity for war . . . . I oppose this rash discourse of Kṛṣṇa. Every appeal against war has been objected to in similar fashion to this day"[7]

जहाँ मिल परिणामों पर ध्यान केन्द्रित कर प्रेरक हेतु की उपेक्षा करते हैं, वहाँ कांट प्रेरणा की शुद्धता को, निष्काम कर्तव्य बुद्धि को, एकमेव महत्त्व देकर प्राप्त परिस्थिति एवं प्रत्यक्ष परिणामों की पूर्ण उपेक्षा करनेका प्रयास करते हैं। गीता इन दोनों भूमिकाओं का समन्वय करती है।

हमने ऊपर देखे अनुसार, व्यक्ति के कर्मका उद्भव उसकी वर्तमान परिस्थिति में होता है। अपने मन में स्थित ध्येय के प्रकाश में विद्यमान परिस्थिति का अवलोकन कर मानव को जब असंतोष प्रतीत होता है, तब वह कर्म करते प्रवृत्त होना है। यह परिस्थिति कई बार व्यक्ति, स्थल एवं काल के अनुसार कम-अधिक भिन्न होती है। अतः एकही कर्माचरण निरपवाद तरीके से सभी को एवं सर्वत्र लागू हो यह अपेक्षा उचित नहीं। सब कर्मों का अंतिम इष्ट ध्येय मानवता की वास्तविक उन्नति माना, तो भी जबतक भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की परिस्थिति, एवं एकही व्यक्ति की समय-समय पर परिस्थिति, भिन्न होगी, तबतक भिन्न-भिन्न कर्मों का ब्यौरेवार स्वरूप अलग होना स्वाभाविकही हैं। गीता शत्रु एवं मित्र के प्रति समान भावना का आदेश देती है (६-९, १२-१८), उसका आशय यह कि ऐसे किसीभी व्यक्ति से बर्ताव करने में स्वयं अपना कोई स्वार्थ न रखकर, प्राप्त परिस्थिति में उसके एवं कुल समाज के वास्तविक हित में जो उचित हो वह किया जावे।

यह सारा विचार करते जो पूर्णतया यथावत् सभी कर सकेंगे वह नैतिक कर्म यह नियम नीतिदर्शन में समर्पक नहीं होगा। अंतिम ध्येय के विषय में एकवाक्यता, तथा नैतिकता के विषय में स्थूल रूप से व्यापक समान धारणा, इष्ट है इसमें शंका नहीं। तथा नीतिदर्शन पूर्णतया परिस्थिति सापेक्ष नहीं होना चाहिये इसमें भी शंका नहीं। किन्तु किसीभी कर्मकी नैतिकता का पूर्ण निर्धारण करने में उसकी विशिष्ट परिस्थिति एवं परिणामों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। इसीलिये न्यायालय में हर अपराधी की अलग-अलग जाँच करनी पड़ती है।

सरांश, कांट महोदय ने कर्मप्रवृत्ति के लिये उदात्त ध्येय प्रतिपादित किया होने पर भी, प्रत्यक्ष में व्यक्ति के लिये कौन सा कर्म अच्छा है, इसका पर्याप्त मार्गदर्शन उनके प्रतिपादन में नहीं मिलता[8]। कान्टप्रणीत Good will को जॅकोबी "The will that wills nothing" (किसी विशिष्ट बात की इच्छा न करनेवाली इच्छा) कहते हैं।[9] वह सत्प्रवृत्ति निरपवाद अच्छी होगी, किन्तु (व्यक्ति की प्रत्यक्ष परिस्थिति पर विचार के अभाव में) उसे

विशिष्ट विषय नहीं। हर समय वह सत्प्रवृत्ति प्रत्यक्ष में किस कर्म की है इसका स्पष्टीकरण नहीं होता। ऐसी सत्प्रेरणा को कर्ममीमांसा में महत्त्व का स्थान होने पर भी, नैतिकता कसौटी मात्र उसमें उपलब्ध नहीं होती। अतः आदर्श नैतिक कर्म जिस प्रकार प्रेरणा से 'निष्काम', वैसाही प्राप्त परिस्थिति में 'कार्य' भी होना चाहिये, ऐसा गीता का समुचित आदेश है। इसका विशेष स्पष्टीकरण हमें अब करना है।

---

१. *The method of Ethics*, by H. Sidgwick, pp 206-07. कुछ लेखक 'formally' एवं 'materially' के स्थानपर क्रमशः 'subjectively' एवं 'effectively' ऐसा कहते हैं।
२. कालिदास 'रघुवंश' में कहते हैं, राजा दिलीप "असक्तः सुखमन्वभूत्" ('अनासक्त वृत्ति से सुख का अनुभव कर लेता था')।
३. "No morality ever existed which did not consider ulterior consequences to some extent"- Sidgwick, *The methods of Ethics*, p. 96.
४. Utilitarianism. मिल अपने पुस्तक को भी यही नाम देते हैं।
५. यहाँ Kant के "Fundamental Principles of the Metaphysics of Ethics (English translation by T.K. Abbott)" इस पुस्तक से उद्धरण दिये हैं।
६. देखिये "The theory of Good and Evil", by H. Rashdall, Vol I, pp. 116-117.
७. *Love, The Law of Life*, pp. 59-60. किन्तु इसीके साथ वे जापानी सैनिकों ने की लड़ाई का समर्थन करते हैं! (देखिये महादेव देसाई का लेख "Dr. Kagava's visit", *Harijan*, 22-1-39)
८. देखिये H. Rathdall, पूर्वउल्लिखित, Chapter V.
९. *The critical Philosophy of Kant*, by Caird, vol. II, p. 216.

श्रीः

प्रकरण ८

गीतोक्त परम ध्येय

ब्रह्मप्राप्ति

गीता की प्रशस्ति में एक प्रसिद्ध श्लोक में कहा है–

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीताऽमृतं महत् ॥ (गीताध्यानम्)

"सब उपनिषदें मानों गायें, श्रीकृष्ण उनका दूध निकालनेवाला ग्वाला, एवं अर्जुन इसका दूध पीने उत्सुक बुद्धिवान् बछड़ा होकर गीता यह महान् अमृत समान दूध है।" इसप्रकार गीता को उपनिषदों का मार्मिक नवनीत माना गया है यह देखते, अंतिम ध्येय के विषय में उसकी उस आर्ष वाङमय से एकवाक्यता स्वाभाविक ही है।

गीता के अनुसार जीवन का अंतिम ध्येय व्यक्तिरूप आत्माका सर्वव्यापी 'ब्रह्म' से एकत्व यह है। इसे "ब्रह्मनिर्वाण" अवस्था कहा है (२-७२); तथा वह प्राप्त करनेवाला "ब्रह्मणि स्थितः" (ब्रह्म से एकरूप हुआ, ५-१९, २०) कहा है। इस अवस्था का अधिक स्पष्टीकरण देते हुए गीता कहती है–

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः
स योगीब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥५-२४
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६

"अंतःकरण में पूर्ण समाधानी एवं आत्मचिंतन में रत होकर, जिसका हृदय (ज्ञानरूप) ज्योति से प्रकाशित है, ऐसा परब्रह्म से एकरूप हुआ योगी सर्वोच्च ब्रह्मनिर्वाण अवस्था प्राप्त करता है–२४। जिनके सब दोष नष्ट होकर द्वंद्वभाव निरस्त हुआ है, जिन्होंने स्वयं पर नियंत्रण किया है, तथा जो समग्र प्राणियों के हित की कामना करते हैं, ऐसे ऋषि (महात्मा) परम ब्रह्मनिर्वाण अवस्था प्राप्त करते हैं–२५। काम क्रोध से पूर्णतया रहित, आत्मसंयमी, आत्मज्ञानी यतियों को परमशांतिमय ब्रह्म स्वरूप की सर्वत्र अनुभूति होती है–२६।" परब्रह्म में प्रवेश याने व्यक्तिगत आत्मा का परमात्मा से ऐक्य।

इस सर्वव्यापी ब्रह्मतत्त्व का गीता यह वर्णन देती है–

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३-१३

"उसके सब ओर हाथ पैर, सब ओर नेत्र, मस्तक एवं मुख, तथा सब ओर कान हैं; विश्व में सभी को व्याप्त कर वह स्थित है।" यह श्लोक शब्दशः श्वेताश्वतर उपनिषद् में है (३-१६)। परम ब्रह्म को सब ओर से हाथ आदि हैं इसका आशय यह कि, विश्व में कहीं भी कुछ अर्पण किया ब्रह्म ग्रहण करता है (वह उसे पहुँचता है), वह सर्वत्र होकर, कहीं भी जो होता है, उसे वह देखता है, श्रवण करता है, जानता है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१३-१४
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७

"वह (ब्रह्म) सब इन्द्रियों से रहित होते हुए भी सब इन्द्रियों की ग्रहण शक्तियों का उसमें आभास होता है (वह सब इन्द्रियों के विषय जानता है); किसी में भी आसक्त न होकर वह सबका पालनपोषण करता है; निर्गुण होकर भी (सब) गुणों को अनुभव करता है–१४[१]। वह सब प्राणियों के बाहर एवं भीतर भी होकर, अचल तथा चलभी है; वह (अति) सूक्ष्म होनेसे (इन्द्रियों द्वारा) जाना नहीं जा सकता; वह दूर एवं समीप भी है (वह सर्वत्र है)–१५[२]। मूलतः अविभाजित होते हुए भी वह सब प्राणियों में मानो विभाजित स्वरूप से (अंशरूप से) स्थित है; वह सर्वोच्च ज्ञेय होकर, सब प्राणियों को (कल्प के आरंभ में) उत्पन्न करनेवाला (ब्रह्मारूप), पालन करनेवाला (विष्णुरूप), एवं (कल्प के अंत में) संहार करनेवाला (रुद्ररूप) है–१६। वह सब प्रकाशयुक्त ज्योतियों को प्रकाश देनेवाली (आद्य) ज्योति होकर, उसे अंधकार के सर्वथा अतीत कहा है, वह साक्षात् ज्ञानस्वरूप है; वह जिसका प्रत्यक्ष (अनुभूतिद्वारा) ज्ञान कर लेना ऐसा (अंतिम) ज्ञेय है; तथा उसकी अनुभूति (केवल) विशुद्ध आत्मज्ञान द्वारा हो सकती है वह सबके हृदय में स्थित है– १७"।

परम ब्रह्मतत्त्व को तीन विशिष्ट उच्चारों से संबोधित किया जाता है–

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्चविहिताः पुरा ॥१७-२३

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४
तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥२५

"ॐ[३], तत्[४], एवं सत्[५], इन तीन प्रकार से (परम) ब्रह्म को निर्देशित किया गया है; उसी ने सृष्टि-आरंभसमय ब्राह्मण यानी सब मानव प्रजा[६], वेद तथा यज्ञ[७] निर्माण किये–२३। अतः ॐ उच्चार से (ब्रह्म को आवाहन कर) वेदज्ञ विद्वानों की यज्ञ, दान, तप क्रियाएँ सतत शास्त्रोक्त विधि से चलती हैं–२४ 'तत्' शब्द से (ब्रह्म को) आवाहन कर, (ब्रह्मार्पण वृत्ति से) फल की अपेक्षा न रखते, मोक्ष की आकांक्षा करनेवाले विविध यज्ञतपक्रिया एवं दानक्रिया करते हैं–२५"

परम अक्षर पुरुष

पूर्व में प्रकरण ४ में देखे अनुसार गीता वैयक्तिक पुरुष के दो स्तर या स्वरूप मानती हैं– सर्वसामान्य ऐहिक जीवन में व्यवहार करनेवाला 'क्षर' (जीवात्मा), एवं उसका शुद्ध स्वरूप 'अक्षर' (शुद्धात्मा)। इन दोनों से अतीत 'उत्तम पुरुष', 'परम आत्मा' होकर वह इस समय श्रीकृष्णरूप में व्यक्त था।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१५-१७
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८
यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०

"किन्तु 'उत्तम पुरुष' (उक्त दोनों पुरुषों से) भिन्न होकर उसे परमात्मा कहते हैं; वह अविनाशी ईश्वर तीनों लोकों को व्याप्त करता हुआ (उनका) पालनपोषण करता है–१७। चूँकि मैं (परमात्मा) क्षर (पुरुष) से परे एवं (व्यक्तिगत शुद्धात्मा स्वरूप) अक्षर (पुरुष) से भी श्रेष्ठ हूँ[८] अतः संसार में तथा वेदों में मुझे पुरुषोत्तम कहा जाता है–१८। अर्जुन, जो ज्ञानी मुझ पुरुषोत्तम को इस स्वरूप में जानता है, वह सर्वज्ञ होकर अनन्यभाव से मेरी भक्ति करता है–१९। निष्पाप अर्जुन, मैंने तुझे यह अत्यंत गूढ ज्ञान कथन किया है; यह जान लेने से व्यक्ति वास्तविक बुद्धिमान् एवं कृतार्थ होता है (श्रेय प्राप्त करता है)–२०"

परमात्मा परम अक्षर है। सातवें अध्याय की समाप्ति में श्रीकृष्णने कहा–

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥७-२९

"वृद्धावस्था एवं मरण (द्वारा व्याप्त ऐहिक जीवन) से मुक्त होने से मेरी भक्ति करनेका प्रयास करते हैं, वे वह ब्रह्म, संपूर्ण अध्यात्म एवं संपूर्णतया कर्म जानते हैं" इसपर अर्जुन ने पूछा कि यह 'ब्रह्म' (एवं 'अध्यात्म' तथा 'कर्म') क्या है ? (८-१) श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया–

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ८-३

"परम अक्षर को ब्रह्म, तथा उसके मूल (सच्चिदानंद) स्वरूप को अध्यात्म (सर्वोच्च आत्मतत्त्व) कहते हैं; (हर कल्प के आरंभ में) चराचर पदार्थों की उत्पत्ति (एवं बाद में उनका पालन तथा कल्प के अंत में लय आदि) के सृष्टि व्यापार को 'कर्म' नाम दिया गया है"[१]। इसी प्रकार परमेश्वर का "परमं पुरुषं दिव्यं" (८-८) तथा "परं पुरुषम्" (८-१०) ऐसा उल्लेख आया है।

'पुरुष' के इन तीन स्वरूपों का परस्पर संबंध श्रीकृष्ण के इस वचन में दिग्दर्शित होता है:

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥१५-७

"इस जीवलोक (इहलोक) में मेराही सनातन अंश (वैयक्तिक) जीवनरूप धारण कर प्रकृति में स्थित मन एवं पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ इन छः को खींच लेता है।" यहाँ 'मम' शब्द परमेश्वर के लिये है; उसका 'सनातन अंश' यानी व्यक्ति में स्थित शुद्धात्मा; तथा 'जीवभूतः' शब्द संसारी जीवात्मा दर्शाता है।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥१५-८
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११

जैसे "(पुष्पफलादि) उद्गमस्थान से वायु (अदृश्य तरीकेसे) सुगंध ले जाता है, उसी प्रकार (सृष्टि का) स्वामी (परमेश्वर) जब (अंशरूप में) शरीर प्राप्त करता है, एवं (उससे) बाहर आता है, तब इन्हें (पंचेद्रियाँ तथा मन को) साथ ले जाता है-८। कान, आँखें, त्वचा,

जिह्वा, नाक एवं मन के द्वारा यह (जीवात्मा रूप में) विषय भोगता है-९। इस (शुद्धात्मा) को शरीर में होते समय, विषय भोगते समय, या त्रिगुणों से संबद्ध (होकर कर्म करते) समय, या (शरीर) त्यागते समय, अज्ञानी नहीं पहिचानते; किन्तु ज्ञानदृष्टि संपन्न उसे अनुभव करते हैं-१०। सतत साधना में रत (परम) योगी स्वयं में स्थित उस (आत्मतत्त्व) को प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं; किन्तु स्वयं (के इन्द्रियादि) पर नियंत्रण न करनेवाले अशुद्ध चित्त के व्यक्ति प्रयास करनेपर भी इसका अनुभव नहीं कर सकते -११।"

परम पुरुष–अव्यक्त एवं व्यक्त

परम ब्रह्म मूलतः निराकार एवं अव्यक्त है। आद्य अचेतन 'प्रकृति' भी अव्यक्त होकर हर कल्प के आरंभ में भौतिक पदार्थों के द्वारा व्यक्त रूप धारण करती है–

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥८-१७
अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९

"(सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलि, ये चार मानवयुग मिलकर होनेवाला देवों का) एक युग जब हजार बार बीत जाता है, तब ब्रह्मदेव का एक दिन होता है, एवं (ऐसे ही) सहस्र युगों की एक रात्रि होती है, ऐसा जो (देवों का) अहोरात्र जानते हैं वे बताते हैं-१७। ब्रह्मदेव के दिवस में प्रारंभ में अव्यक्त (अचेतन मूल प्रकृति) से सब व्यक्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं; तथा रात्रि प्राप्त होने पर अव्यक्त नामके उसी (मूल प्रकृति) में विलीन हो जाते हैं-१८। अर्जुन, वही यह सकल (चराचर) भूतसमुदाय पुनःपुनः उत्पन्न होकर ब्रह्मदेव के रात्रि-प्रारंभ में अनिवार्यतः विलीन होता है, तथा दिन के प्रारंभ में पुनः उत्पन्न होता रहता है-१९।"

यद्यपि, यह अव्यक्त 'प्रकृति' भी ब्रह्मतत्त्व का ही एक अंग है (७-४), सर्वमूलक परम अव्यक्त ब्रह्म उस से अतीत हैं।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥८-२०
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२

किन्तु, उस (अचेतन) अव्यक्त से परे अन्य सनातन अव्यक्त (चेतन) तत्त्व है; जो सब प्राणियों का नाश होनेपर नष्ट नहीं होता-२०। उसे अव्यक्त अक्षर (पुरुष) कहा जाकर (प्राणियों के लिये) परम गति (पहुँचनेका स्थान) कहते हैं, जिसे प्राप्त करनेवाला वापिस (इहलोक में) नहीं लौटता; वह मेरा परम धाम (निवासस्थान) है[10]-२१। अर्जुन, अनन्य भक्ति (उपासना) द्वारा उस परम पुरुष की प्राप्ति होती है; (सभी) प्राणी उसमें समाविष्ट हैं। उसने यह सब (विश्व) व्याप्त किया है-२२।''

किन्तु भारतीय दर्शन की, और इसलिये गीतोपदेश की भी, यह विशेषता है कि, उसके अनुसार अंतिम ब्रह्मतत्त्व मूलतः अव्यक्त होकर भी कभी-कभी व्यक्त रूप धारण करता है, निर्गुण होकर भी सगुण होता है, जन्मरहित होकर भी विशिष्ट रूप में स्वयं जन्म लेता है (४-६)। महाभारत के समय यह सर्वोच्च अस्तित्व श्रीकृष्ण रूप में व्यक्त हुआ था। श्रीकृष्ण स्वयं को वेदों के 'पुरुषोत्तम' कहते हैं (१५-१८); तथा उन्होंने अर्जुन को अपना प्रत्यक्ष विश्वरूप भी दिखाया (अध्याय ११)। किन्तु व्यक्त रूप प्रासंगिक होकर, ब्रह्म मूलतः सर्वव्यापी अव्यक्त हैं।

विभिन्न देवों के मूल में एकमेव ईश्वर

गीता जनता में प्रचलित अनेक देव-धारणा के मूल में अंतिम एकेश्वरवाद निःसंदिग्ध प्रतिपादन करती है। श्रीकृष्ण रूप में व्यक्त परमेश्वर कहता है–

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥४-११
काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२

"जो जिस देवता में श्रद्धा रखकर मेरी उपासना करते हैं उन्हें मैं उसी (देवता के) रूप में सतुंष्ट करता हूँ; अर्जुन! सभी मानव अंततोगत्वा मेरी उपासना का मार्ग अनुसरते हैं–११।[11] इस इहलोक में (यज्ञदानादि) कर्मोंद्वारा (सुखोपभोग रूप) सिद्धि चाहनेवाले (इन्द्रादि) देवों का यजनपूजन करते हैं; क्योंकि, मनुष्य लोक में (यज्ञादि) कर्मों द्वारा मिलनेवाली (ऐसी इच्छा पूर्ति रूप) सिद्धि (निष्काम ईश्वरभक्ति और वह भी अनेक जन्मोंतक करनेसे[12] प्राप्त होनेवाली मोक्षरूप सिद्धि की अपेक्षा) शीघ्र प्राप्त होती है–१२।"

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥७-२०
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्या राधनमीहते
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥२२

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३

"जिनका ज्ञान अपनी अपनी कामेच्छाओं से भ्रमित हो जाता है, वे स्वयंकी मनोवृत्ति के अनुरूप अपनी अपनी उपासना विधि पालन कर, (मेरे बजाय) अन्य देवताओं का पूजन करते हैं-२०। जो जो भक्त जिस जिस (देवता) रूप की श्रद्धापूर्वक उपासना करना चाहता है, उस-उसकी वही (वहींपर) श्रद्धा में स्थिर करता हूँ-२१। उस श्रद्धा से युक्त वह उस (देवता) की आराधना करता है; तथा उससे (इच्छित) कामभोग प्राप्त करता है, जो (वस्तुतः) मैनें ही प्रदान किये होते हैं–२२। इन अल्प बुद्धिवाले व्यक्तियों को मिलनेवाला वह (कामभोग रूप) फल अशाश्वत होता है; इस प्रकार (अन्य) देवों का यजनपूजन करनेवाले (उन) देवों के पास (उन देवलोकोंको) जाते हैं, जब कि मेरे भक्त मेरी ही ओर आते हैं–२३"।

श्रीकृष्ण यह नौवे अध्याय में फिर कहते हैं:

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।९-२३
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४
यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपिमाम् ॥२५

"अर्जुन, जो श्रद्धायुक्त भक्त (मेरे बजाय) अन्य देवताओं का भजनपूजन करते हैं, वे भी अप्रत्यक्षतया मेराहो यजनपूजन करते हैं-२३। क्योंकि (यज्ञ में किसी भी देवता को हवि अर्पण किया तो) सब यज्ञों में हवन स्वीकारनेवाला एवं (फलदाता) स्वामी भी वस्तुतः मैं हूँ; किन्तु (अन्य देवता को यजन करनेवाले) वे मुझे इस वास्तव रूप में नहीं जानते, और अतः (मेरी ओर न आकर) अन्यत्र भटकते हैं-२४। (परिणामतः) देवों का पूजन करनेवाले देवलोकों को जाते हैं, पितरों का पूजन करनेवाले पितृलोकों को जाते हैं, भूत पिशाचादियों का पूजन करनेवाले[13] भूतलोकों को जाते हैं; और मेरा पूजन करनेवाले मेरी ओर आते हैं–२५।"

अज्ञानी मानव श्रीकृष्ण का परम स्वरूप नहीं जानते :

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥७-२४
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५
वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६

"मेरा परम अव्यय सर्वोच्च स्वरूप न जाननेवाले अज्ञानी मुझ (मूलतः) अव्यक्त को (शाश्वत) व्यक्तित्व प्राप्त समझते हैं–२४। मैं (मेरी) योगशक्ति का मुझपर आवरण डालता हूँ, इस कारण मैं (मेरे मूल अव्यक्त स्वरूप में) सभी को ज्ञात नहीं होता; और (वह माया पार न करनेवाले) ये (सामान्य) अज्ञ मानव वस्तुतः जन्ममृत्युरहित होनेवाले मुझे (मूल रूप में) नहीं जानते-२५। अर्जुन, मैं भूतकालीन, वर्तमान तथा भविष्य में होनेवाले[14] जानता हूँ; किन्तु कोई भी (साधारण मानव) मुझे (मेरे मूल रूप में) नहीं जानता[15]-२६।"

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥९-११
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२

"सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ स्वामी मैं जब (धर्मसंस्थापना हेतु प्रसंगानुसार) मनुष्य देह धारण करता हूँ, तब मेरा परम स्वरूप न जाननेवाले अज्ञानी (मुझे साधारण मानव समझकर) मेरा अनादर करते हैं-११। उनकी सारी आशा-आकांक्षाएँ व्यर्थ हो जाती हैं, कर्म व्यर्थ हो जाते हैं एवं ज्ञान भी व्यर्थ जाता है; तथा भ्रमितचित्त होकर वे राक्षसी आसुरीस्वरूप की मोहमयी प्रकृति के वश होते हैं[16]-१२।" इसके विपरीत–

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥९-१३
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५

"किन्तु, अर्जुन, दैवी (साधुस्वभावी) प्रकृति का अनुसरण करनेवाले महात्मा (सब) प्राणियों का अविनाशी उद्गमस्थान ऐसे मुझे पहचानकर एकानिष्ठा से मेरी भक्ति करते हैं–१३। (दैवी प्रकृति के वे) दृढ़तापूर्वक स्वयंपर नियंत्रण रख, चित्त नित्य (समत्वरूप) योग में स्थिर कर, सदा मेरा कीर्तन करते हुए एवं मुझे नमन करते हुए, भक्तिपूर्वक मेरी उपासना करते हैं-१४। तथा (दैवी स्वभाव के) अन्य कोई (साधक) विश्व व्यापनेवाले मेरा सर्वमेव एकत्व (निर्गुण अव्यक्त) स्वरूप में, (पुरुष एवं प्रकृति इन) दो भिन्न स्वरूपों में, एवं अनेक प्रकार से व्यक्त स्वरूपों में, ज्ञान प्राप्त कर, ऐसे ज्ञान (रूप) यज्ञ से भी भजन (पूजन) करते हुए मेरी उपासना करते हैं–१५।"

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१०-१

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः
अहमादिर्हि देवानांमहर्षीणां च सर्वशः ॥२
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३
महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६

"अर्जुन, मेरा परम श्रेष्ठ वचन और भी श्रवण कर; तू मुझे श्रद्धा पूर्वक श्रवण कर रहा है, अतः तेरे हितमें मैं यह कथन करता हूँ-१। मेरा उद्गम न देवगण जानते हैं न महर्षि भी, क्योंकि मैं सब देवोंका एवं महर्षियों का आदि स्थान हूँ-२। जन्मरहित, अनादि, तथा (इह, पर आदि समग्र) लोकों का स्वामी होनेवाले मुझे जो (वास्तव स्वरूप में) जानता है, वह मानवों में (सच्चा) ज्ञानी होकर सब पापों से मुक्त रहता है-३।" "जिनसे जगत् की यह (सारी) प्रजा उत्पन्न हुई वे आदिकालीन सात महर्षि एवं चार दिशाओं के विशिष्ट महर्षि[17], तथा (सब) मनु, मेरे मानसपुत्र होकर मेरे रूप हैं-६"।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥१०-७
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८

"यह मेरा (सर्वव्यापी) स्वरूप एवं मेरा योगसामर्थ्य जो वास्तविक प्रकार से जानता है, वह स्थिर (बुद्धि-) योग से संपन्न होता है इसमें संदेह नहीं, १०-७। मैं समस्त (विश्व) का उद्गमस्थान होकर मुझसे ही सब उत्पन्न होता है; यह जानकर ज्ञानी पूर्ण निष्ठा से मेरी भक्ति करते हैं-८।"

श्रीकृष्ण का यह मूल सर्वव्यापक अनादि स्वरूप अर्जुन ने भी व्यक्त किया है:

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१०-१२
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५

"आप परम ब्रह्म, अंतिम परम पवित्र आश्रयस्थान हैं; सब ऋषि तथा देवर्षिनारद, असित, देवल व व्यास आपको सनातन, दिव्य, जन्मरहित, सर्वव्यापी पुरुष तथा देवों

का आदिस्थान कहते हैं, और आप स्वयं भी मुझे ऐसा बता रहे हैं-१२, १३। केशव, आप जो मुझे कथन कर रहे हैं, वह सब मैं सत्य मानता हूँ; हे भगवन्, आपका (मूल) रूप न देव जानते हैं, न दानव-१४। हे पुरुषोत्तम, सब प्राणियों के निर्माता, प्राणियों के पालनकर्ता, जग के स्वामी, आप स्वयं ही स्वयं को जानते हैं-१५।"

अपने मूल सर्वव्यापक स्वरूप का और वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं-

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥१०-२०

"अर्जुन, मैं सब प्राणियों के हृदय में स्थित आत्मतत्त्व हूँ; मैं (संपूर्ण) प्राणियों का आदि (उद्गमस्थान), मध्य एवं विलीन स्थान (अन्त) भी हूँ।"

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥१०-२१
वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२
रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३

"(बारह) आदित्यों में (अदितिपुत्रों में) मैं विष्णु, एवं प्रकाशयुक्तों में किरणधारी सूर्य हूँ; मरुद्गणों (वायुदेवताओं) में मैं मरीचि हूँ; नक्षत्रों का (स्वामी) चन्द्र मैं हूँ-२१। वेदों में मैं सामवेद हूँ, देवों में मैं इन्द्र हूँ, इन्द्रियों में मैं मन (अन्य इन्द्रियों को प्रेरित करनेवाला अंतरिन्द्रिय) हूँ; एवं प्राणियों की चेतना (जीवनशक्ति) मैं हूँ-२२। तथा मैं (ग्यारह) रुद्रों में शंकर हूँ, एवं यक्षराक्षसों का (स्वामी) धनपति (कुबेर) हूँ; (आठ) वसुओं में मैं पावक (अनल, अग्नि) हूँ; और पर्वतों में मैं मेरू हूँ-२३"।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥१०-३२
अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३
यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९

"अर्जुन, (हर कल्प के आरंभ में होनेवाली) सृष्टियों का मैं निर्माता एवं विलयस्थान हूँ;[१८] और मध्य (पालनकर्ता) भी हूँ; विद्याओं में मैं अध्यात्मविद्या तथा प्रवचनकारों की विवेचन बुद्धि हूँ-३२। अक्षरों में मैं (आदि एवं सर्वगामी) अकार हूँ[१९]; तथा सामासिक प्रयोगों में मैं (सभी समासों में होनेवाला शब्दों का) द्वन्द्व (जोड़ी) हूँ;[२०] मैं ही अनंत काल हूँ, मैं विश्वव्यापी एवं विश्वपालन कर्ता हूँ-३३। अर्जुन, समग्र पदार्थों का जो

बीज (उद्गमस्थान) वह मैं हूँ[२१]; मेरे विना हो, ऐसा कोई भी चल या अचल पदार्थ नहीं-३९"।

अर्जुन भी कहता है :

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥११-३८
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९

"आप आदिदेव सनातन पुरुष हैं, आप इस विश्व का मूलाधार हैं; आप अंतिम ज्ञेय एवं (आपही उसके) ज्ञाता होकर, (सब प्राणियों के लिये) परम गति हैं; हे अनन्त-रूपधारी, आपने यह (सारा) विश्व व्याप्त किया है—३८ आप वायुदेव, यम (धर्म), अग्निदेव, वरुण (जलदेव), चन्द्रमा, प्रजापति (ब्रह्मदेव), तथा ब्रह्मदेव के भी जनक है; आपको मेरे सहस्रशः (बारंबार) नमस्कार, और पुनः पुनः नमस्कार[२२]-३९"।

ईश्वर के दो रूप—अधिभूत एवं अधिदैव

गीता द्वारा प्रतिपादित 'ब्रह्म' का स्वरूप मूलतः अव्यक्त एवं प्रसंगानुसार व्यक्त ऐसा उभय (दोनों) प्रकारका होनेके अलावा, उसका एक और वैशिष्ट्य यह भी है कि, उसके चेतन एवं अचेतन ये दो रूप हैं। सांख्यदर्शन विश्व के मूल अचेतन अव्यक्त पदार्थ को 'प्रकृति' संबोधित कर, उसे चेतन 'पुरुष' से स्वतंत्र अस्तित्व मानता है। इसीके साथ, सांख्य के अनुसार 'प्रकृति' अष्टधा होकर, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश (ये पाँच 'महाभूत'), तथा बुद्धि, अहंकार एवं मानस, इस प्रकार उसके आठ व्यक्त रूप हैं। 'बुद्धि' (या महत्) मूल अव्यक्त 'प्रकृति' का सर्वप्रथम व्यक्त (अभी अविभाजित) रूप होकर, 'अहंकार' उस एक व्यक्त प्रकृति से अनेकानेक पदार्थ निर्माण होने की पृथक्त्व प्रवृत्ति है।

गीता अचेतन 'प्रकृति' को स्वतंत्र अस्तित्व अमान्य कर उसे मूलतः सर्वोच्च 'पुरुष' का ही एक अंग मानती है। किन्तु, इतना मतभेद रखकर गीता 'प्रकृति' का सांख्य द्वारा बताया 'अष्टधा' विभाजन मान्य करने को तैयार है। फिर, गीता 'प्रकृति' संबोधन मात्र अचेतन के लिये ही सीमित न रखकर व्यक्त जगत् के चेतन अंश को भी लगाते हुए, 'ईश्वरी प्रकृति' के परा एवं अपरा ऐसे दो भेद करती है।

सातवें अध्याय में श्रीकृष्ण परमेश्वर का यह द्विविध स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसमें संसार का उद्गम बताते हैं। प्रथम वे इस ज्ञान का महत्त्व कहते हैं—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥७-१
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२

"अर्जुन, मुझमें मन लगाकर, मुझमें श्रद्धा रखकर (बुद्धि-) योग का पालन करता हुआ, सारे संशय नष्ट करके, तू मुझे संपूर्णतया जिस प्रकार जानेगा वह श्रवण कर-१। मैं तुझे विज्ञान सहित यह ज्ञान पूर्णतया कथन करता हूँ, जिसे जानने के बाद इस जीवन में और कुछ जाननेयोग्य शेष नहीं रहता-२।"[२३]

श्रीकृष्ण सांख्य दर्शन प्रतिपादित अष्टधा प्रकृति के सिद्धान्त से आरंभ करते हैं–

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥७-४

"पृथ्वी, जल, अग्नि (तेज), वायु, आकाश, मन, बुद्धि एवं अहंकार इन आठ प्रकार से विभाजित मेरी प्रकृति है।" श्रीकृष्ण स्पष्टतया इस 'प्रकृति' को 'मेरी' (स्वयं ईश्वर का एक रूप) कहते हैं। इसके बाद वे विश्व के चेतन अंश का उल्लेख कर, वह भी मेरी एक प्रकृति है, ऐसा कहते हैं–

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५

"अर्जुन, यह मेरी 'अपरा' प्रकृति होकर, इससे अन्य इस जगत् का आधार होनेवाली मेरी जीवरूप (चेतन) 'परा' (श्रेष्ठ) प्रकृति जान ले।"

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६
मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७
रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११

"इस (मेरी प्रकृति) से सब पदार्थ निर्माण होते हैं यह समझ ले, मैं समग्र जगत् का उद्गमस्थान एवं विलयस्थान भी हूँ-६। अर्जुन, मुझसे श्रेष्ठ अन्य कुछ नहीं, जिस प्रकार मणि समुदाय एक सूत्र में गूंथा जाता है, वैसा यह सब (विश्व) मुझ में गूंथा हुआ है–७। अर्जुन, जल में रस मैं हूँ, मैं चन्द्रसूर्य का प्रकाश हूँ, सब वेदों में ओंकार मैं हूँ, आकाश का शब्द (ध्वनि) गुण मैं हूँ, मानव की मानवता मैं हूँ-८। पृथ्वीका मंगल सुगंध एवं अग्नि का तेज मैं हूँ; सब जीवोंकी जीवन शक्ति एवं तपस्वियों का तपभाव मैं हूँ-९। अर्जुन! मुझे सब पदार्थों के सनातन बीज (उद्गमस्थान) रूप में जान; बुद्धिमानों की बुद्धि एवं तेजस्वी व्यक्तियों का तेज मैं हूँ-१०। अर्जुन, मैं बलवानों का कामासक्तिरहित (अर्थात् सत्प्रवृत्त) बल हूँ; (तथा) मैं प्राणियों में धर्मानुकूल काम हूँ-११।"[२४]

सातवें अध्याय की समाप्ति में श्रीकृष्ण उनकी अचेतन प्रकृति के लिये 'अधिभूत', तथा चेतन प्रकृति के लिये 'अधिदैव' शब्द प्रयुक्त करते हैं।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥७-३०

"जो मुझे अधिभूत एवं अधिदैव तथा अधियज्ञ इन मेरे स्वरूपों के सहित प्रयाणकाल में भी अनुभव करते हैं, वे योगावस्था में चित्त स्थिर रखनेवाले मुझे (वास्तविक) जानते हैं।"[२६]

इसपर अर्जुन ने प्रश्न किया –

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥८-१
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२

"श्रीकृष्ण, वह 'ब्रह्म' क्या है? 'अध्यात्म' क्या होता है? 'कर्म' किसे कहते हैं? मधुसूदन, (प्राणियों के) इस देह में 'अधिभूत' किसे कहते हैं? 'अधिदैव' किसे कहते हैं? और 'अधियज्ञ' कौन कैसा होता है? तथा मृत्युसमय आत्मसंयमी (योगी) आपको किस तरह जानते हैं?१-२।"

श्रीकृष्ण ने अपने उत्तर में कहा –

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥८-४

"हे देहधारी मानव श्रेष्ठ (अर्जुन), 'अधिभूतं' यानी मेरा (परमेश्वर का) क्षर स्वरूप (वह जड़ प्रकृति जिससे प्राणियों के शरीरों के सहित सब अचेतन पदार्थ उत्पन्न होते हैं); 'अधिदैवत्' यानी (मेराही अन्य अंशरूप) (चेतन) पुरुष (हर प्राणी में होनेवाला आत्मा)[२७], तथा 'अधियज्ञ' (सब यज्ञों का स्वामी)[२८] यानी हर प्राणी में स्थित स्वयं मैं

(परमेश्वर)।''

हर कल्प के आरंभ में सृष्टि निर्माण करनेवाली मूल प्रकृति वस्तुतः परमेश्वर का एक अंग है, यह निम्न श्लोकों में भी कहा है–

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥९-७
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः
भूतग्राममिदं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०

''अर्जुन, कल्प के अंत में सब प्राणी मेरी प्रकृति में विलीन हो जाते हैं, तथा (दूसरे) कल्प के आरंभ में मैं उन्हें पुनः निर्माण करता हूँ-७। मेरा अंग होनेवाली प्रकृति के द्वारा मैं इन समग्र प्राणियों को, जो (पुनर्जन्म के लिये) (उस) प्रकृति के अधीन होनेसे बाध्य होते हैं, (उनके कर्मों के अनुसार) पुनः पुनः निर्माण करता हूँ-८।'' ''मेरे नियंत्रण में प्रकृति चराचर जग का निर्माण करती है, इस कारण जगत् का (उत्पत्ति-स्थिति-लय) परिवर्तन होता रहता है-१०।''

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१५-१२
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा
पुष्णामि चोषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४

''सूर्य में स्थित जो तेज संपूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है, जो चन्द्रमा में है, तथा जो अग्नि में है, वह मेरा तेज जान-१२। मैं पृथ्वी में प्रवेश कर (पृथ्वीपर रहनेवाले) प्राणियों को मेरे सामर्थ्य से आधार देता हूँ; तथा रसात्मक सोम (जीवनदायक द्रव पदार्थ) रूप होकर सब वनस्पतियों का पोषण करता हूँ-१३। मैं प्राणियों के शरीर में स्थित वैश्वानर अग्नि होकर, प्राणवायु (उच्छ्वास) एवं अपानवायु (श्वास) की सहायता से चारों प्रकार का अन्न[२९] पचन करता हूँ-१४।''

ये 'अपरा' एवं 'परा' प्रकृतियाँ ईश्वर के क्रमशः 'अधिभूत' (अचेतन) एवं अधिदैव (चेतन) स्वरूप हैं। इस जगत् में जो जो चेतन-अचेतन है वह सब मूलतः ईश्वर का रूप है (''वासुदेवः सर्वमिति'', ७-१९) ऐसा गीतोपदेश है।

सर्वत्र जो-जो श्रेष्ठ, वह ईश्वरीय तेज का अंश

दसवें अध्याय में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा–

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१०-१६
कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८

''जिन विभूतियों (विशेष व्यक्त रूपों) के द्वारा आप इन (स्वर्ग-मृत्यु-पाताल) लोकों को व्याप्त कर स्थित हैं (इनमें सर्वत्र विद्यमान हैं), वे आपकी सारी दिव्य विभूतियाँ कथन कीजिए-१६। योगेश्वर कृष्ण, सदैव आपका ध्यान करता हुआ मैं आपको किस प्रकार जानूँ? भगवन्, किन-किन व्यक्त रूपों में मैं आपका ध्यान करूं?-१७। जनार्दन, आपकी योगशक्ति एवं विभूतिमान् (व्यक्त) रूप पुनः विस्तार से कथन कीजिए; क्योंकि, आपकी अमृतवाणी श्रवण करते मुझे तृप्ति न होकर मैं अधिक श्रवण करना चाहता हूँ-१८।'' इसपर श्रीकृष्ण ने अपना विभूतिविस्तार कथन करना प्रारंभ किया–

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१०-१९

''कुरुश्रेष्ठ अर्जुन, ठीक है, मेरी दिव्य विभूतियों में से प्रमुख मैं तुझे कथन करता हूँ; क्योंकि मेरे विस्तार का अंत नहीं।'' ऐसा कहकर श्रीकृष्ण ने अपनी प्रमुख विभूतियाँ बताईं, जिनमें कुछ ये थीं–

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥१०-२४
उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७
आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८
प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०
पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१

''अर्जुन, पुरोहितों में जो प्रमुख है वह बृहस्पति[३०] मुझे जान ले; सेनापतियों में मैं स्कन्द[३१] एवं जलाशयों में सागर हूँ-२४।'' ''घोड़ों में मैं (समुद्रमंथन के समय) अमृत के साथ निकला उच्चैःश्रवा, प्रमुख हाथियों में ऐरावत,[३२] तथा मनुष्यों में मैं राजा हूँ यह जान-२७। शस्त्रों में मैं वज्र[३३] तथा गौओं में कामधेनु हूँ; और प्रजोत्पादन के लिये प्रेरित

करनेवाला कामदेव मैं हूँ; सर्पों में मैं वासुकि हूँ-२८।" "दैत्यों में मैं प्रह्लाद, तथा गणना करनेवालों में मैं काल (समय)[३४] हूँ; पशुओं में सिंह और पक्षियों में गरुड़ हूँ-३०। वेगवान् पदार्थों में मैं वायु हूँ, शस्त्रधारियों में राम हूँ; मछलियों में मगर हूँ और नदियों में गंगा हूँ-३१।" इसके बाद और कुछ विभूतिरूप कह कर श्रीकृष्णने कहा--

> नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप
> एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०

"अर्जुन, मेरी दिव्य विभूतियों का (श्रेष्ठ व्यक्त स्वरूपों का) अंत नहीं; विभूतियों का यह विस्तार मैनें मात्र उदाहरण के रूप में (संक्षेप में) बताया है।"

अंत में श्रीकृष्ण ने अपने विभूति विस्तार का यह कथन एक ऐसे सर्वव्यापक वचन से किया है, जो कहीं भी एवं कभी भी सार्थक होगा--

> यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा
> तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥४१

"जो जो भव्य, संपन्न, या तेजस्वी अस्तित्व हो, वह सब मेरे (परमेश्वर के) तेज के अंश से उत्पन्न जान।"

श्रद्धा--आवश्यकता एवं स्वरूप

ऊपर कहे अनुसार अंतिम ध्येय तर्कद्वारा प्रस्थापित नहीं किया जा सकता। किन्तु साधना के अंत में उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति संभव है (६-२०, ९-२, १३-२४)। परन्तु प्रारंभ में उसका प्राथमिक परिचय अनुभवी गुरु के उपदेश द्वारा प्राप्त हो सकता है।

> तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया
> उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥४-३४

"तत्त्वदर्शी ज्ञानी उस (परम) ज्ञान का तुझे उपदेश करेंगे; उन्हें नम्र प्रणाम एवं जिज्ञासायुक्त प्रश्न करके, तथा उनकी सेवा करके, तू वह कर ले।" साहजिकही, इस लिये साधक की श्रद्धा एवं साधना आवश्यक है।

> श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः
> ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥४-३९
> अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति
> नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०

"ज्ञानप्राप्तिहेतु प्रयत्नशील, इन्द्रियसंयमी, श्रद्धावान् साधक को ज्ञान प्राप्त होता है; ज्ञान प्राप्त होनेपर वह शीघ्र परम शान्ति प्राप्त करता है-३९। (किन्तु) अज्ञानी, श्रद्धारहित एवं संशयग्रस्त व्यक्ति का अधःपात होता है; ऐसे संशयग्रस्त को न इहलोक में और न परलोक में सुख प्राप्त होता है; सारांश उसे कहीं भी सुख नहीं मिलता-४०।" जहाँ तर्कयुक्त

बुद्धि पर्याप्त प्रकाश डाल सकती है, वहाँ मात्र श्रद्धा अनुचित है; किन्तु जहाँ तर्क पहुँच नहीं सकता वहाँ प्रथम श्रद्धा का आधार आवश्यक है। परन्तु ऐसी श्रद्धा तर्क विरोधी (anti-rational, irrational) न होकर, तर्कातीत (super-rational) होनी चाहिये। वह अंधश्रद्धा नहीं होती; तथा उसकी अंतिम परिणति प्रत्यक्ष (अतीन्द्रिय) अनुभूति में हो सकती है।

गीतोपदेश के संबंध में भी श्रीकृष्ण कहते हैं--

> इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन
> न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥१८-६७

"किसी भी तपहीन, भक्तिहीन, श्रवण की इच्छाहीन, या मेरा अनादर करनेवाले, व्यक्ति को तू यह (पवित्र ज्ञान) कभी भी मत कथन कर" इसके विपरीत-

> य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति
> भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥१८-६८

"मेरी परम भक्ति कर जो यह सर्वश्रेष्ठ रहस्य (आध्यात्मिक ज्ञान) मेरे भक्तों को स्पष्ट कर कहेगा, वह मुझे ही आकर पहुँचेगा इसमें संदेह नहीं-६८।

---

१. इसके समान श्वेताश्वतर उपनिषद का श्लोक ३-१७ है
२. इसके समान ईश उपनिषद् का श्लोक ५ तथा मुण्डक उपनिषद् का श्लोक ३-१-७ है।
३. श्लोक ८-१३
४. देखिये सुप्रसिद्ध औपनिषदिक वचन, "तत् त्वम् असि"।
५. देखिये छांदोग्य उपनिषद्, ६--१, "सत् एवं सोम्य इदम् अग्र आसीत्"।
६. महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय ३१८, "सर्वे वर्णा ब्राह्मणा ब्रह्मजाश्च"; इसके अलावा अगले प्रकरण में उद्धृत अध्याय १८८ का श्लोक भी देखिये
७. गीता ३-१०.
८. मुण्डक उपनिषद, "दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो अजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परमः परः।।" २-१-२.
९. शंकराचार्य यहाँ 'विसर्ग' का 'त्याग' अर्थ कर, उसका संबंध यज्ञकर्म (जिसमें देवों को अर्पण हेतु चरु, पुरोडाश, द्रव्य आदि का त्याग किया जाता है) से जोड़ते हैं; तथा कहते हैं कि, इस यज्ञ से वृष्टि आदि द्वारा (गोता ३-१४) प्राणियों की उत्पत्ति होती है। किन्तु मध्वाचार्य "विशेषेण सर्जनं विसर्ग इत्यर्थः" ऐसा अर्थ देने हैं, तथा रामानुजाचार्य इसमें प्राणी निर्माण करनेवाला स्त्री-पुरुष संबंध रूप कर्म देखते हैं।
१०. कठ उपनिषद, १-३-११, "महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः।।" मूल अव्यक्त प्रकृति के सृष्टि प्रारंभ समय के सर्वप्रथम रूप को 'महत्' कहते हैं।
११. इस श्लोक की द्वितीय पंक्ति श्लोक ३-२३ में अलग संदर्भ में भिन्न आशय से आई हैं
१२. देखिये ६-४५, ७-१९, ८-१६।

१३. देखिये १७-४
१४. भविष्यकालीनों का उल्लेख स्थूल रूप से होकर, परमेश्वर का त्रिकालातीत स्वरूप दर्शाने की दृष्टि है।
१५. श्वेताश्वतर उपनिषद्, "स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता। तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्" ३-१९।
१६. देखिये महाभारत, वनपर्व अध्याय १६३, "मोघेष्टा मोघसंकल्पा मोघज्ञाना विचेतसः"
१७. देखिये महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय २०८।
१८. देखिये ९-७, ८।
१९. 'अ' प्रथम स्वर होकर शेष सब स्वर इसीके 'आ', 'अि', आदि रूप हैं; तथा प्रत्येक व्यंजन 'अ' मिलनेपर ही उसका 'अक्षर' होता है- इस प्रकार 'अ' सर्वव्यापी है।
२०. समास 'बहुव्रीहि', 'द्वन्द्व', आदि किसीभी प्रकार का हो, उसमें शब्दोंका द्वन्द्व आवश्यक है।
२१. देखिये १४-४।
२२. इस श्लोक का श्वेताश्वतर उपनिषद् के निम्न वचन से स्पष्ट ही साम्य है, "तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदुचन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत् प्रजापतिः।।"(४-२)
२३. ऐसा ही श्वेताश्वतर उपनिषद् में सर्वोच्च वेदांत ज्ञान के लिये कहा है, "एतत् ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं। नातं परं वेदितव्यं हि किंचित्" (१-१-१२)
२४. देखिये श्वेताश्वतर उपनिषद ३-९, "यस्मात् परं नापरमस्ति किंचिद् ।"
२५. श्लोक ६-१६, १७ में श्रीकृष्ण 'योग' वृत्ति में 'युक्ताहार विहार' का समावेश करते हैं। क्या ऐसे संयमित सुखानुभव को 'काम' कहा जा सकता है ? एक दृष्टि से, धर्मानुकूल होनेपर भी वह 'काम' है; तथा प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण का रूप है। किन्तु अन्य दृष्टि से, जिस संयमित विषयभोग का उत्तेजक रूप, आकर्षण, समाप्त हुआ है वह 'कामविकार' नहीं रहा; और फिर जो आकर्षणरूप है वही 'काम' इस आशय से वे ही श्रीकृष्ण 'सब काम' नष्ट करने का भी आदेश दे सकते हैं (२-५५, ७१)। शब्दों के ऐसे सूक्ष्म भिन्नार्थ करने में गीताकार सिद्धहस्त हैं; यह 'बुद्धि', 'ज्ञान', 'धर्म', 'दैवी', 'योगी' आदि शब्दों के संबंध में भी अन्य पृष्ठों पर बताया है।
२६. यहाँ 'प्रयाण काले' के साथ आया 'अपि' शब्द श्लोक २-७२ में भी 'अन्तकाले' के साथ आया होकर उसका आशय उस श्लोक की चर्चा में स्पष्ट किया है।
२७. "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" १५-७।
२८. अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च" ९-२४ (तथा ५-२९, ९-२०)
२९. अन्न के चार प्रकार हैं– 'भक्ष्य' (चबाकर खाने के), 'पेय' (पीने के), 'लेह्य (चाटने के) तथा 'चोष्य' (चूसकर खाने के)।
३०. इन्द्रादि देवों के गुरु, विद्या में सर्वश्रेष्ठ ।
३१. श्रीशंकर का ज्येष्ठ पुत्र; असुरों से लड़ाई में देवों का प्रमुख सेनापति ।
३२. इन्द्र का वाहन ।
३३. दधीचि ऋषि ने देवों के रक्षाणार्थ दिये स्वयं के अस्थियों से यह बनाया जाकर इन्द्र धारण करता है।
३४. आचार्य रामानुज यहाँ 'काल' का अर्थ मृत्यु करते हैं।

श्रीः

प्रकरण ९

गीतोक्त नैतिक कर्म

निष्काम एवं निरहंकार

यद्यपि गीताप्रणीत नैतिक कर्म का आंतरिक शुद्ध वृत्ति यह एकमेव स्वरूप नहीं, वह उसका एक आवश्यक अंग है; किन्तु आंतरिक शुद्ध वृत्ति की भी निष्कामता के अलावा एक और विशेषता है- निरहंकारिता। स्थितप्रज्ञवर्णन में श्रीकृष्ण इसका उल्लेख करते हैं–

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥२-७१

मानव के कर्म का दृश्य कारण त्रिगुणात्मक प्रकृति में होता है (१३-२०)। वह इच्छा कर सकेगा, किन्तु उस इच्छा की प्रत्यक्ष कर्म में परिणति भौतिक प्रकृति के माध्यम से होगी। जब वह किसी दुखी व्यक्ति की सहायता करना चाहता है, वह अपने शारीरिक हाथ आदि से वैसा करता है; तथा उसमें जिन अन्य साधनों का वह प्रयोग करता है वे भी प्रकृति से संबंद्ध होते हैं।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥३-२७
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः
गुणागुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८

"प्रकृति के गुणों द्वारा सब कर्म किये जाते हैं, फिर भी अहंकार ग्रस्त व्यक्ति 'मैं (ही) कर्ता हूँ' ऐसा मानता है-२७। किन्तु, अर्जुन, गुण एवं कर्म इनके परस्पर संबंधों का तत्त्व जाननेवाला ज्ञानी यह (प्रकृति के) (इन्द्रियरूप) गुणों का (विषयरूप) गुणों से (आपस में) व्यवहार है ऐसा जानकर आसक्त नहीं होता-२८।"

किन्तु मानव के कर्माचरण में इस प्रकार प्रकृति का हाथ होते हुए भी, व्यक्ति

अपनी इच्छानुसार प्रकृति को कुछ मात्रा में संचालित कर सकता है। इसी लिये उसी त्रिगुणात्मक प्रकृति के द्वारा एक मानव सत्कर्म तो दूसरा दुष्कर्म करता है। प्रकृति का कारणत्व मान्य करनेका मतलब यह नहीं कि, उसे कार्यान्वित करनेकी, विशिष्ट दिशा देनेकी, मानव की शक्ति एवं जबाबदारी पूर्ण अमान्य की जावे।

प्रकृति का इष्ट दिशा में ऐसा संचालन करने में भी, मानव अहंकाररहित होकर (यह संचालन शक्ति ईश्वर ने दी है इस भावना से) स्वयं को ईश्वर का 'निमित्तमात्र' माने ऐसा गीता का उपदेश है (११-३३)।

'शुद्धात्मा' मूलतः अकर्ता है मात्र इसी लिये निरहंकार वृत्ति आवश्यक है ऐसा नहीं। 'जीवात्मा' की दृष्टि से भी वह इष्ट है; क्योंकि जीवात्मा भी यह जाने कि उसके कर्माचरण का वह अकेला ही कारण नहीं होता है।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१८-१३
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६

"अर्जुन, सब कर्मों के घटित होने के लिये सांख्यदर्शन के सिद्धान्त में ये पाँच कारण कहे हैं, वे मुझसे जान ले-१३। अधिष्ठान (शरीर), कर्ता, विभिन्न स्वरूप की इन्द्रियाँ, विविध अलग-अलग क्रिया, और इन्ही के साथ पाँचवाँ कारण दैव भी-१४; जो जो उचित या अनुचित कर्म मनुष्य शरीर, वाणी या मन द्वारा करता है उसके ये पाँच कारण होते हैं-१४ किन्तु, ऐसा होते हुए, विकृत बुद्धि के कारण जो मात्र स्वयं को कर्ता मानता है, वह दुर्बुद्धि व्यक्ति सत्य नहीं जानता-१६"

यही कल्पना इस श्लोक में भी देखी जा सकती है-

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८-१८

"ज्ञेय, ज्ञाता एवं ज्ञान ये तीन मिलकर कर्मप्रेरणा होती है; तथा साधनरूप इन्द्रियाँ, उनकी क्रियाएँ, एवं कर्ता ये तीन मिलकर कर्माचरण पूर्ण होता है।" व्यक्ति के सामने प्राप्त परिस्थिति एवं स्वयं उसके अनुसार उस परिस्थिति की सुधारी हुई अवस्था जाननेवाला इस आशय से आत्मा 'परिज्ञाता', तथा वही (जीवात्मा) शरीर के इन्द्रियों को चालना देनेवाला इस आशय से 'कर्ता' कहा जा सकता है।

कर्म की 'कार्यता'

गीताप्रणीत नैतिक कर्म निष्काम एवं निरहंकार होने के अलावा 'कार्य' भी होना चाहिये, यह पूर्व में बताया है। कर्म की कार्याकार्यता उसके प्रत्यक्ष विवरण पर निर्भर होती है। किसी विशिष्ट ध्येय से प्रेरित होना एक बात, और उस ध्येय की ओर वस्तुतः ले जावे ऐसा कर्म का विवरण निश्चित करना अलग बात है।

नैतिक कर्म की 'कार्यता' पर श्लोक ३-१९ एवं ६-१ में भी जोर दिया होकर, उसके अलावा 'बुद्धि' के तीन भेद बताकर भी गीता कार्याकार्य भेद का महत्त्व स्पष्ट कहती है-

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥१८-२९
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२

"अर्जुन, बुद्धि के तथा दृढनिश्चयी वृत्ति के भी (सत्वरजतम) गुणों के अनुसार त्रिविध भेद मैं अलग अलग पूर्णतया बताता हूँ, श्रवण कर-२९। अर्जुन, प्रवृति एवं निवृत्ति, कार्य एवं अकार्य, भय तथा अभय, बन्ध और मोक्ष, यह जो बुद्धि सही जानती है वह सात्त्विक होती है-३०। और जिससे धर्म एवं अधर्म, कार्य एवं अकार्य, को व्यक्ति सही स्वरूप में नही जानता वह राजसी है-३१। अर्जुन, तमोगुण से व्याप्त जो बुद्धि अधर्म को धर्म, तथा सभी बातों को विपरीत तरीके से मानती है वह तामसी होती है-३२।"

कार्याकार्यता निर्धारित करने के साधन

कर्म की कार्याकार्यता निर्धारित करने के चार साधन संभव है; अंतः स्फूर्ति, श्रेष्ठों का अनुकरण, शब्द प्रामाण्य यानी शास्त्रादिपर विश्वास, और चौथा परिणाम विवेक।

इनमें से प्रथम प्रमाण को गीता में विशेष महत्त्व दिया प्रतीत नहीं होता। किन्तु, जहाँ अन्य कोई आधार उपलब्ध न हो, ऐसे कठिन मौके पर धैर्य न त्यागते हुए अपने अंतःकरण के आदेशानुसार कर्म करना इष्ट हो सकेगा, तथा इस दृष्टि से कालिदास के "सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः" ('शाकुंतल' नाटक) यह वचन गीता को अमान्य मानने का कारण नहीं।

श्रेष्ठाचार के विषय में एक संस्कृत श्लोक में कहा है, "श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयश्चभिन्नाः। नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्", और इसके अलावा व्यक्ति की तर्क बुद्धि भी जब कुछ निर्णय नहीं ले सकती हो, ऐसी परिस्थिति में "महाजनो येन गतः स पन्थाः" (समाज के श्रेष्ठजन जैसा आचरण करते हों वैसा किया जावे)। श्रेष्ठाचरण का उल्लेख

गीता में भी ३-२१ में आया है; किन्तु उसमें श्रेष्ठजनों का हमेशा अनुकरण किया जावे ऐसा प्रधान आदेश न होकर, तुम्हारा अनुकरण सामान्यजन करते हैं अतः तुम अपने कर्म करतेसमय या न करने में पूर्ण विवेक रखो, ऐसा समाज के नेताओं को बताना यह आशय है। इसके अलावा, कौन वस्तुतः 'श्रेष्ठ' है, यह भी प्रथम निश्चित करना पड़ेगा। किन्तु वह किसी भी तरह निश्चित किया, तो भी जीवन के हर प्रसंग के लिये श्रेष्ठाचार का उदाहरण संभव नहीं। सारांश, श्रेष्ठाचार जनसाधारण के मार्गदर्शनार्थ कुछ मात्रामें उपयुक्त होनेपर भी कार्याकार्य निर्णय हेतु प्रमुख साधन नहीं हो सकता ।

शब्दप्रामाण्य में समाज में आदरणीय बने शास्त्र आदि धर्मग्रंथ आते हैं। हर व्यक्ति अपनी अनियंत्रित इच्छानुसार सदैव आचरण करने लगे, तो समाज में कैसी अव्यवस्था फैलेगी, इसका विचार कर गीता में सामान्यतः शास्त्रानुकरण की इष्टता प्रतिपादित है। श्रीकृष्ण कहते हैं–

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥१६-२३
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४

"कामवासना के अधीन हुआ जो व्यक्ति शास्त्र में दिये विधि का उल्लंघन कर आचरण करता है, उसे न सिद्धि, न सुख, और न हि परम गति प्राप्त होती है-२३। अतः कार्याकार्य निर्णय में तेरे लिये शास्त्र प्रमाण है; शास्त्रवचनों में कहा ध्यान में लेकर इस संसार में तुझे कर्म करना इष्ट है-२४।"

किन्तु शास्त्र का आधार भी जीवन के हर प्रसंग के लिये उपलब्ध होना असंभव है। फिर (ऊपर उद्धृत संस्कृत श्लोक में कहे अनुसार) शास्त्रग्रंथों में भी मतभेद होते हैं। तथा आगे बताये अनुसार गीता भी शास्त्रप्रामाण्य को एक सीमा में ही मान्यता देती है।

परिणाम-विवेक प्रमुख साधन; कर्मफलत्याग का अर्थ

अतः कर्म के कार्यकार्यनिर्णय हेतु मूल प्रमाण उसके परिणामों पर उचित विवेक यह है। गीता ऐसा परिणाम विचार निषिद्ध मानती है ऐसा एक भ्रम प्रचलित है। इस भ्रम को गीता का 'कर्मफलत्याग' शब्द विशेष कारण हुआ दीखता है। अनेक गीताभ्यासक 'फल' याने कर्म के समग्र परिणाम ऐसा अर्थ करते हैं। किन्तु गीता में निषिद्ध कर्मफल याने कर्म के सभी परिणाम न होकर, केवल स्वयं कर्ता पर होनेवाले वैयक्तिक सुख स्वरूप परिणाम हैं। परंतु कर्म के अन्य भी परिणाम होते हैं– अन्यों पर होनेवाले, तथा स्वयंपर ही, किन्तु ऐहिक (एवं स्वर्गवासादि पारलौकिक) सुखों के अलावा वास्तविक हितकारक (श्रेयप्राप्तिविषयक) होनेवाले। कर्म करते समय स्वार्थी परिणामों की अपेक्षा न की जावे, यह गीता के कर्मफलत्याग का अर्थ है; किन्तु अन्य परिणामों की भी चिंता न की जावे ऐसा आशय नहीं।

इस दृष्टि से यह सुप्रसिद्ध श्लोक देखें :

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥२-४७

"केवल कर्म के प्रति (कर्म करने का) तेरा अधिकार हो, फल में कदापि नही; कर्मफल को हेतु मत कर; (किन्तु) कर्माचरण के त्याग का आग्रह भी मत कर"।[3] यहाँ जिस कर्मफल का निषेध है, वह स्वार्थी स्वरूप का है। लोकसंग्रह (३-२०), धर्मसंस्थापना (४-८), सर्वभूतहित (५-२५) आदि परिणामों को भी हेतु मानकर कर्म करना निषिद्ध है ऐसा इस श्लोक का आशय नहीं। यदि सभी परिणामों की इच्छा त्यागना हो तो 'अकर्मणि संग', यानी कर्म के संपूर्ण त्याग की प्रवृत्ति, के अलावा चारा ही न बचेगा।

फिर, इस श्लोक में 'फल में तेरा अधिकार नहीं' इस वचन के दो अर्थ संभव हैं। कोई कर्मचारी वरिष्ठ पद की मांग करनेपर, 'उसपर तेरा अधिकार नहीं' ऐसा उसे कहा गया, तो उसका मतलब वह पद स्वयं मांगने का उसे अधिकार नहीं इतनाही है; किन्तु स्वयं शासन ने वह पद उसे दिया तो भी उसे वह स्वीकार नहीं करना चाहिये, ऐसा नहीं। उसके विपरीत, पर-स्त्री पर अधिकार नहीं, इसका अर्थ केवल उसकी अभिलाषा न की जावे इतनाही न होकर, उसे कोई ले आया या वह स्वयं आवे तो भी वह स्वीकार्य नहीं, ऐसा भी है। मानव का कर्मफल पर अधिकार नहीं ऐसा कहने में गीता का क्या आशय है? इसका उत्तर श्लोक के तीसरे चरण में मिलता है। कर्मफल को हेतु न माना जावे, कर्म करने में स्वसुख की इच्छा न की जावे, इतनाही गीता का आदेश है। किन्तु उचित कर्म से स्वयं को सहज कुछ सुख हुआ, तो उसका भी त्याग किया जावे ऐसा गीता का प्रतिपादन नहीं है। गीता सुखानुभव को त्याज्य न मानकर उसमें आसक्ति का निषेध करती है ऐसा इसी लिये ऊपर कहा है। जिह्वासुख हेतु भोजन उचित नही; किन्तु परोपकार या आत्मोन्नति में लगे अपने शरीर के आवश्यक भरण-पोषणार्थ अन्नसेवन करने में सहज जिह्वासुख भी हुआ तो शरीरस्वास्थ्य का वह लक्षण ही है।

गीता शरीर पोषण के लिये संयमित आहार आदि का प्रतिपादन करती है–

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥६-१६
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७

"किन्तु अर्जुन, यह योग अति खानेवाले एवं कुछ भी न खानेवाले को, तथा अति निद्रा लेनेवाले एवं सदा जगनेवाले को, साध्य नहीं होता है-१६। आहार एवं अन्य भोगों में संयमित रहनेवाले को, उचित कर्म करनेवाले को, निद्रा एवं जागरण में संयम रखनेवाले को, यह दुःखनाशक योग साध्य होता है-१७।"

इस प्रकार गीता मात्र स्वार्थी परिणामों का, और वह भी उन्हें कर्मका हेतु मानने, निषेध करती है। श्रीकृष्ण "न मे कर्मफले स्पृहा' (४-१४) कहते हैं, तब 'फल' शब्द से उनका आशय स्वार्थी (स्वार्थपूर्ण) परिणाम है; क्योंकि, "परित्राणाय साधूनां" तथा "धर्मसंस्थापनार्थाय' इस स्वरूप के परिणामों की इच्छा लेकर मैं जन्म लेकर कर्म करता हूँ, ऐसा वे कहते है (४-७, ८)।

'फल' के विषय में यही कल्पना तप के वर्णन में भी दीखती है–

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७-१७

"जो तीन प्रकार का (शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक) तप फल की आकांक्षा न रखनेवाले योग संपन्न व्यक्ति परम श्रद्धा से करते हैं, उसे सात्त्विक कहते हैं।" यहाँ भी सभी परिणामों की आकांक्षा का निषेध नहीं; क्योंकि इसके बाद केही श्लोक में 'राजस' तप का स्वरूप इस प्रकार बताया है–

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१७-१८

"जो तप सत्कार, मानसम्मान या पूजा प्राप्त होनेके हेतु तथा दंभ प्रदर्शित करने किया जाता है उसे 'राजस' कहा गया है, वह चंचल (अस्थिर) एवं अल्पकालिक होता है।" इससे सात्त्विक तप में किस फल की आकांक्षा नहीं होती यह ध्यान में आता है। परोपकारार्थ या आत्मोन्नति हेतु किया तप सात्त्विक है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१७-१९

"मूर्खतापूर्ण हठाग्रह से, स्वयं को व्यर्थ पीड़ा देकर, या दूसरे का अनिष्ट करने हेतु, जो तप किया जाता है उसे तामस कहते हैं।" राजस एवं तामस तप के ऐसे फलों की इच्छा सात्त्विक तप में नहीं होती है; परोपकारार्थ किया तप सात्त्विक होगा।

दान में कार्याकार्य विवेक

दान देने में भी परिणाम विवेक का महत्त्व गीता में स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है:

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥१७-२०
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२

"दान देना कर्तव्य मानकर, वापिस उपकार की अपेक्षा न रखते (उचित) स्थलपर, (उचित) समय पर, एवं उचित व्यक्ति को जो दान दिया जाता है उसे सात्त्विक कहा गया है-२०। किन्तु, जो वापिस उपकार की अपेक्षा मे, या अन्य प्रकार से फल प्राप्ति के उद्देश्य से, तथा अप्रसन्न मन से, दिया जाता है उस दान को राजस कहा गया है-२१। जो दान अनुचित स्थान या अनुचित समय पर या अयोग्य व्यक्ति को दिया जाता है, तथा जो सत्कार पूर्वक न देकर अपमान के साथ दिया जाता है, उसे तामस कहते हैं-२२।" दान मात्र निष्काम होना पर्याप्त नहीं; वह कुल परिणामों का विचार कर उचित व्यक्ति को उचित समय पर दिया जावे"। कुलमिलाकर गीता में दानका यह क्रम दिया है– योग्य व्यक्ति को दिया निष्काम दान सात्त्विक (१७-२०); योग्य व्यक्ति को दिया सकाम दान राजस (१७-२१); किन्तु अपात्र व्यक्ति को दिया दान, निष्काम हो या सकाम, तामस है (१७-२२)।

परिणाम विवेक के बिना किया कर्म तामस

गीता सात्त्विक, राजस एवं तासस कर्मों को ये व्याख्या देती है–

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥१८-२३
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४

"फलेच्छारहित व्यक्ति द्वारा आसक्ति विना, रागद्वेष त्यागकर, किया जो नियत कर्म है वह सात्त्विक कहा जाता है-२३। किन्तु जो (नियत, कार्य) कर्म कामेच्छाप्रेरित या अहंकारग्रस्त व्यक्ति द्वारा बड़े श्रमपूर्वक किया जाता है उसे राजस कहते हैं-२४।" यहाँ सात्त्विक कर्म के कर्ता को 'अफलप्रेप्सु' कहा गया है, इसके विपरीत ('तु') राजस कर्म करनेवाले को 'कामेप्सु' कहा है। इसपर से श्लोक २३ का आशय यह दीखता है कि, सात्त्विक कर्मका कर्ता स्वार्थी (स्वार्थपूर्ण) परिणामों को इच्छा त्यागता है, अन्य सभी परिणामों की नहीं। वल्कि, जो उन व्यापक परिणामों के बारे में उदासीन रहेगा, उसके कर्म को श्रीकृष्ण 'तामस' कहते हैं–

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥१८-२५

"(अगला-पीछला) संबंध (संभाव्य परिणाम), हानि, हिंसा, स्वयं का बल, इसका उचित विवेक न करते हुए मोहवश जो कर्म किया जाता है उसे तामस कहते हैं।" यहाँ 'अनुबन्ध' शब्द से परिणाम दिग्दर्शित होकर, कर्म करते समय संभाव्य हानि, हिंसा आदि का विचार न करना तामस वृत्ति का लक्षण कहा है।

कर्मों की नैतिकता निर्धारण करने में तिलक कार्याकार्य विवेक की अपेक्षा कर कर्ताकी निष्काम वृत्ति को ही एकमेव कसौटी मानते हैं; इसके उद्धरण पूर्व में दिये हैं।

किन्तु, काम्य-निष्काम भेद के अलावा कर्मों के कार्याकार्य भेद की इष्टता भी वे कहीं-कहीं मान्य करते दीखते हैं। इसका एक उदाहरण देखिये। "ये कहना भ्रममूलक है, कि वसुधैव कुटुंबकम्' रूपी दृष्टि हो जाने से अथवा फलाशा छोड़ देने से पात्रता-अपात्रता का अथवा योग्यता-अयोग्यता का भेद भी मिट जाना चाहिये..... यदि किसी सिद्ध पुरुष को अपना स्वार्थ साधने की आवश्यकता न हो, तथापि यदि वह किसी अयोग्य आदमी को कोई ऐसी वस्तु ले लेने दे, कि जो उसके योग्य नहीं, तो उस सिद्ध पुरुष को अयोग्य आदमियों की सहायता करनेका तथा योग्य साधुओं एवं समाज की भी हानि करने का पाप लगे बिना न रहेगा"। (पूर्व उल्लिखित, पृ ३९४)। निष्काम कर्म भी अकार्य हो सकता है यह इसमें मान्य किया है, जो उचित है। किन्तु कर्म की यह कार्याकार्यता, पात्रापात्रता, किस प्रकार ठहराना ?

इस संबंध में ऊपर उल्लिखित चार साधनों पर तिलक का अभिप्राय देखें। अंतः स्फूर्ति के विषय में वे लिखते हैं, "परन्तु जब हम तत्त्वज्ञान की दृष्टि से इस बात का सूक्ष्म विचार करने लगते हैं, कि 'शुद्ध मन' किसे कहना चाहिये, तब यह सरल पक्ष अंततक काम नहीं दे सकता; ...... यह नहीं कहा जा सकता, कि बुद्धि के सार-असार-विचार के बिना केवल मनोवृत्तियों की प्रेरणा से किया गया काम नीति की दृष्टि से शुद्ध होगा"। (वही, पृ. १३६)।

कार्याकार्य निर्णय का एक अन्य साधन शिष्टाचार है। 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' इस उक्ति के द्वारा उसका उल्लेख कर तिलक उसपर यह आक्षेप लेते हैं। "परंतु महाजन किसको कहना चाहिये ? . . . .यदि महाजन का अर्थ 'बड़े-बड़े सदाचारी पुरुष' लिया जाय -और यही अर्थ उक्त श्लोक में अभिप्रेत है- तो इन महाजनों के आचरण में भी एकता कहाँ है ? . . . . वही पहला पश्न फिरभी उठता है, कि बुरा कर्म और भला कर्म समझने के लिये साधन क्या है ?" (पृ० ७१, ७२, ७३)।

अब परिणाम विचार देखें। कहीं कहीं तिलक उसे आवश्यक बताते हैं। "कर्म-अकर्म की भलाई-बुराई ठहराने के लिये, सबसे पहले कर्ता की बुद्धि का ही विचार करना पड़ता है- अर्थात् यह विचार करना पड़ता है, कि उसने उस कार्य को किस उद्देश्य, भाव या हेतु से किया; और उसको उस कर्म के परिणाम का ज्ञान था या नहीं" (पृ० ४७५)। श्लोक १८-२५ पर अपनी टिप्पणी में तिलक कहते हैं, "२५वें श्लोक से यह भी सिद्ध है, कि फलासक्ति छूट जानेपर यह न समझना चाहिये, कि अगला-पिछला या सारासार विचार किये बिना ही चाहे जो कर्म किया जाय, क्योंकि २५वें श्लोक में यह निश्चय किया है, कि अनुबंध और फल का विचार किये बिना जो कर्म किया जाता है, वह तामस है, न कि सात्त्विक।" (पृ० ८६०)। इसमें परिणाम विवेक को नैतिकता के निर्धारण में स्थान मान्य किया है।

किन्तु तिलक अन्यत्र उस विवेक को अमान्य कर देते हैं। "इसी लिये हमारे

कर्मयोगशास्त्र में यह अंतिम सिद्धान्त निश्चित किया गया है कि, सर्वभूतहित, अधिकांश लोगों का अधिक सुख और मनुष्यत्व का परम उत्कर्ष इत्यादि नीतिनिर्णय के सब बाह्य साधनों को अथवा अतिभौतिक मार्ग को गौण या अप्रधान समझना चाहिये, और आत्मप्रसाद-रूपी आत्यंतिक सुख तथा उसीके साथ रहनेवाली कर्ता की शुद्ध-बुद्धि को ही आध्यात्मिक कसौटी मानकर उसीसे कर्म-अकर्म की परीक्षा करनी चाहिये" (पृ० १२२)।

श्लोक २-४९ की चर्चा करने में तिलक परोपकार स्वरूप परिणामों की इच्छा करनेवालों को भी फलाकांक्षी 'कृपण' कहते है। "कर्म करनेवाले लोग दो प्रकार के होते हैं। पहले प्रकार के फलपर—उदाहरणार्थ, उससे कितने लोगों को कितना सुख होगा, इसपर—दृष्टि जमाकर कर्म करते है; और दूसरे बुद्धि को सम और निष्काम रखकर कर्म करते हैं- फिर कर्मधर्मसंयोग से उससे जो परिणाम होता हो, सो हुआ करे। इनमें से 'फलहेतवः' अर्थात् 'फलपर दृष्टि रखकर कर्म करनेवाले' लोगों को नैतिक दृष्टि से कृपण अर्थात् कनिष्ठ श्रेणी के बतलाकर, समत्वबुद्धि से कर्म करनेवालों को इस श्लोक में श्रेष्ठता दी है" (पृ० ८२)। किन्तु, अपने कर्म से अन्यों पर होनेवाले संभाव्य परिणामों पर कुछ भी विचार न करके, स्वयं को प्रतीत होनेवाली अपनी 'शुद्ध बुद्धि' पर विश्वास रखकर, 'कर्मधर्मसंयोग से' कोई भी परिणाम होने की चिंता न करनेवाले कर्ता को गीता के अनुसार अविचारी कहा जावेगा (१८-२५)

कार्याकार्य निर्णय के लिये अन्य सब साधन इस प्रकार अस्वीकार करने के बाद तिलक को आखिर शास्त्र प्रामाण्य की शरण में जाना पड़ा ! शास्त्र के प्रति आदर व्यक्त करती हुई भी, गीता शास्त्रवचन को कुछ सीमा में ही मान्यता देती है, यह आगे बताया है। किन्तु तिलक गीता के अनुसार शास्त्र कार्याकार्यनिर्णय का एकमेव प्रमाण है ऐसी धारणा व्यक्त करते हैं "जब कर्म अपरिहार्य है, तब शास्त्र से प्राप्त अपरिहार्य कर्मों को स्वार्थत्याग बुद्धि से करते ही रहना चाहिये- यही गीता का कथन है" (पृ० ३२६)। "भगवद्गीता में अर्थात् भगवान् के द्वारा गाये गये उपनिषद् में यह प्रतिपादन किया गया है, कि . . . . संसार में शास्त्रतः प्राप्त सब कर्मों को केवल अपना कर्तव्य समझकर करते रहना ही, उस संसार में मनुष्य का परम पुरुषार्थ अथवा जीवन व्यतीत करने का उत्तम मार्ग है" (पृ० ४४३)।

केवल शास्त्र वचनों के आधारपर प्रत्यक्ष जीवन में हर प्रसंग पर कार्याकार्य का संपूर्ण निर्णय करना संभव नहीं। किन्तु इस विषय पर भी स्वयं तिलक का ही यह आक्षेप देखिये। "नित्य कर्म कौन-कौन हैं, नैमित्तिक कौन-कौन हैं और काम्य तथा निषिद्ध कर्म कौन-कौन हैं, ये सब बातें धर्मशास्त्रों में निश्चित कर दी गयी हैं. . . . परंतु भगवद्गीता की दृष्टि उससे भी व्यापक और विस्तीर्ण है। . . . . कहीं कहीं तो शास्त्र की आज्ञाएं भी परस्पर विरुद्ध होती है।" (पृ० ५५)

असल बात यह है कि, परिणाम विवेक को उचित मान्यता दिये बिना गीतोक्त कर्ममीमांसा का आशय पूर्ण रूप में व्यक्त नहीं होगा।

"अनासक्तियोग" पुस्तक की प्रस्तावना में गाँधी कहते हैं, "जो मनुष्य परिणाम का ध्यान करता रहता है वह बहुत बार कर्म-कर्तव्य भ्रष्ट हो जाता है। उसे अधीरता घेरती है, उससे वह क्रोध के वश हो जाता है, और फिर वह न करने योग्य करने लग पड़ता है, एक कर्म में से दूसरे में और दूसरे में से तीसरे में पड़ता जाता है। परिणाम की चिंता करनेवालेकी स्थिति विषयांधकी-सी हो जाती है और अंत में वह विषयी की भाँति सारासारका, नीति-अनीति का विवेक छोड़ देता है, और फल प्राप्त करनेके लिये हर किसी साधन से काम लेता है और धर्म मानता है।" किन्तु गीता केवल स्वार्थस्वरूप सकाम परिणामों की इच्छा निषिद्ध मानती है; सभी परिणामों की नही। फिरभी गाँधी लिखते हैं, "कर्म करते हुए भी जो उसका फल छोड़ता है वह चढ़ता है। फलत्याग का यह अर्थ नहीं है कि परिणाम के संबंध में लापरवाही रहे। परिणाम और साधन का विचार और उसका ज्ञान अत्यावश्यक है । इतना होने के बाद जो मनुष्य परिणाम की इच्छा किये बिना साधन में तन्मय रहता है वह फलत्यागी है"। इसमें कहा गया है कि परिणामें की 'इच्छा' न की जावे यद्यपि उनपर 'विचार' आवश्यक है। किन्तु परिणामों की इच्छा किये बिना उनके मात्र विचार या ज्ञान से मनुष्य कर्मप्रवृत्त नहीं होगा।' यह दवा देने से बीमार स्वास्थ्य प्राप्त करेगा यह ज्ञात होते हुए भी, वह परिणाम घटित हो ऐसी इच्छा हुए बिना कोई भी वह दवा मरीज को नहीं देगा।

हर इच्छा सकाम समझकर सभी इच्छाओं का निषेध उचित नहीं। गीता का भी वैसा प्रतिपादन नहीं। डॉ॰ राधाकृष्णन् लिखते हैं, "The Upanisads ask us to renounce selfish endeavours, but not all interests..... The ideal sage has desires, though they are not selfish desires. Kāma, which we are asked to renounce, is not desire as such, but only the animal desire, lust, the impulsive craving of the brute man. . . . . Desire as such is not forbidden. It all depends upon the object". (*Indian Philosopy*, Vol. I, p. 215). अतः नैतिक कर्म, निष्काम होने पर भी, परिणामों के लिये पूर्णतः इच्छाहीन होना आवश्यक नही। गीतोक्त 'स्थितप्रज्ञ' स्वयं के लिये किसी भी बाह्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं करता है (२-५५), फिर भी वह 'सर्वभूतहित' की इच्छा रखता है (५-२५, १२-४).

वस्तुतः मानव के कर्माचरण के लिये परिणामों की मात्र इच्छा ही पर्याप्त न होकर, कई बार उसमें 'दृढता' जुड़ने की आवश्यकता होती है; अन्यथा इच्छा प्रत्यक्ष में निष्क्रिय होकर रहती है। इस दृढवृत्ति को गीता 'धृति' कहती है; तथा उसके भी तीन प्रकार बताती है–

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥१८-३३
यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५

"अर्जुन, जिस अविचलित दृढता से मन, प्राण एवं इन्द्रियों की क्रियाओं पर योगपूर्वक नियंत्रण रखा जाता है, वह धृति सात्त्विक होती है-३३. अर्जुन, जिस दृढ़ निश्चयी वृत्ति से, प्रसंगानुरूप[६] फल की इच्छा करनेवाला धर्मसहित (धर्मानुकूल) काम एवं अर्थ का अनुसरण करता है, वह धृति राजसी होती है- ३४। अर्जुन, जिस धृति के कारण दुष्ट व्यक्ति नींद, भय, शोक, विषाद, मद, इनमें लिप्त रहता है, वह तामसी होती है-३५"।

वैयक्तिक अनासक्ति यही नैतिकता का एकमेव स्वरूप माना, तो किसी धार्मिक या राजकीय एकांगी लक्ष्य हेतु निंद्य हत्या आदि करनेवाले अतिवादी मतांधों के कर्मों को किस आधारपर अनैतिक ठहराया जा सकेगा ? गाँधी के अनुयायी महादेव देसाई ने यह प्रश्न उपस्थित किया है। किन्तु अपनी परिणामविरोधी भूमिका से वे उसका ठीक उत्तर न दे सके। वे लिखते हैं, "But is may be said, any man may call himself an instrument in the hands of God and perpetrate all kinds of excesses. Such an one has yet to arise and be believed in by the world !. . . . There is indeed the fear of the Gita being used in defence of murder, but the world has luckily the rough and ready standard to judge the man who makes the claim to murder in God's name. The test, after all, is not the claim advanced by the doer of the deed, but how the world judges him". (*The Gita According to Gandhi*, pp. 107-8).

यद्यपि इसमें कहा है कि, ईश्वर के नाम पर अत्याचार करनेवाला अभी पैदा होना है, स्वयं उक्त लेखक ने हो हिटलर का नाम लिया है। किन्तु उसके अलावा, मानव इतिहास में ईश्वर के नाम पर कितने हो भीषण अत्याचार किये गये हैं। रहा सवाल उन अत्याचारों का ऐसा समर्थन दुनिया द्वारा अमान्य किया जानेका। किन्तु दुनिया के ऐसे निर्णय का वास्तविक आधार भी परिणामोंपर सारासारविवेक यही होता है; भलेही वह कर्म 'ईश्वर के लिये', या अन्य किसी प्रकार से निष्काम, किया जानेका दावा किया जा रहा हो।

इस प्रकार कभी कभी निष्काम व्यक्ति द्वारा भी, कर्म का प्रत्यक्ष स्वरूप निर्धारित करने में बुद्धि की भूल होकर, अनुचित कर्म किया जा सकता है। इसी लिये, निष्कामता

का उपदेश करने के साथ ही श्रीकृष्ण अर्जुन को उस धर्म्य युद्धरूप एक विशिष्ट 'कार्य' कर्म करने का आदेश देते रहे।

इस तरह गीता के अनुसार 'कार्यता' (उचितता) नैतिक कर्म का एक आवश्यक अंग होकर, उसे निष्काम (एवं निरहंकार) वृत्ति की साथ मिलनेपर कर्म पूर्णतया नैतिक होता है। इस दृष्टि से विचार करने पर—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥२-५५

इस श्लोक का वास्तविक आशय, मात्र निष्काम होने से व्यक्ति स्थित प्रज्ञ होता है ऐसा न होकर, निष्काम होने के बाद ही स्थितप्रज्ञता प्राप्त होती है ऐसा प्रतीत होगा। कर्म 'कार्य' होना प्रथम आवश्यक है; किन्तु उसे निष्कामता (एवं निरहंकारिता) का साथ मिले विना स्थितप्रज्ञता प्राप्त नहीं होगी। सारांश, मात्र निष्कामता यानी स्थितप्रज्ञता नहीं; तथा विना निष्कामता स्थितप्रज्ञता संभव नहीं।

शास्त्र के विषय में अर्जुन का महत्त्वपूर्ण प्रश्न

समाज में सभी की बुद्धि प्रगल्भ नहीं होती है। अतः सर्वसाधारण जनता के लिये समाज के प्रबुद्ध नेताओं ने आचरण के कुछ स्थूल नियम स्थापित करना इष्ट होता है। इसके अलावा, समाज में ऐक्यभावना होने के लिये भी सामाजिक व्यवहार में कुछ समानता इष्ट होती है। हर समाज में ऐसे कुछ नियम होते हैं; जो लिखित होने पर उन्हें 'शास्त्र' कहते हैं।

अर्जुन ने शास्त्रपालन के विषय में एक मार्मिक प्रश्न किया है—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१७-१

"कृष्ण, जो शास्त्र में दिये विधि का उल्लंघन कर, (किन्तु अंतिम श्रेय के प्रति) श्रद्धा रखकर, (स्वयं की बुद्धि के अनुसार) यजन (तथा पूजन आदि) करते हैं, उनकी निष्ठा किस प्रकार की कही जावे-सात्त्विक, राजस या तामस ?" सोलहवे अध्याय के अंत में कार्याकार्य निर्णय हेतु शास्त्र प्रमाण मानने का सामान्य उपदेश दिया है (१६-२४), तथा उसका 'कामवश' उल्लंघन निंद्य बताया है (१६-२३) किन्तु, कामवश न होने पर भी, (किसी विशेष परिस्थिति में) शास्त्रमार्ग त्यागकर अपनी बुद्धि के अनुसार अन्य मार्ग से जाना चाहनेवाले क्या सभी निन्दनीय माने जावें ?

अर्जुन द्वारा उल्लेख किये व्यक्तियों की श्रद्धा रूढ़ शास्त्र से विरोधी फिर भी श्रेय की इच्छा करनेवाली है। किन्तु कई भाष्यकार इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का ही विपर्यास करते हैं। शंकराचार्य लिखते हैं "कंचिच्छास्त्रविधिमपश्यन्तो वृद्धव्यवहारदर्शनादेव ये श्रद्दधानतया देवादीन्पूजयन्ति त इह ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विता इत्येवं

गृह्यन्ते। ये पुनः कंचिच्छास्त्रविधिमुपलभमाना एवं तमुत्सृज्यायथाविधि देवादीन्पूजयन्ति त इह ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते इति न परिगृह्यन्ते।" इसका आशय यह कि, शास्त्रविधि की जानकारी न होने से जो श्रेष्ठों के आचरण का श्रद्धा से अनुकरण करता है ऐसे व्यक्ति को लेकर अर्जुन का यह प्रश्न है, न कि शास्त्रविधि ज्ञात होकर भी जो उसके विरुद्ध जाना चाहता है उसके विषय में। किन्तु शंकराचार्य द्वारा दिग्दर्शित व्यक्ति का आचरण "शास्त्रविधिम् उत्सृज्य" नहीं कहा जायगा, जैसा कि अर्जुन कह रहा है।

वस्तुतः अर्जुन का प्रश्न शास्त्रविधि जानते हुए भी, उससे भिन्न मार्ग स्वीकारना क्या कभी उचित हो सकेगा, या मात्र शास्त्राविरोधी होने के कारण सदैव त्याज्य माना जावे ? इस स्वरुप का है। और इसीमें उस प्रश्न का वैशिष्ट्य है। तिलक कहते हैं कि, 'शास्त्र पर श्रद्धा होनेपर भी अज्ञानवश गलत रास्ते पर जानेवाले' के विषय में अर्जुन का यह प्रश्न है। किन्तु जिनके बारे में यह प्रश्न किया गया है उनकी शास्त्र पर श्रद्धा नहीं होती है ऐसा अर्जुन कह रहा है; और इसके अलावा वे सब 'गलत रास्ते पर' जानेवाले हैं, यह गृहीत करना भी ठीक नहीं। क्या वस्तुतः वे सारे 'गलत रास्ते पर' जाते हैं, यही तो अर्जुन का प्रश्न है।

श्रीकृष्ण का उत्तर

अर्जुन के प्रश्न का श्रीकृष्ण का उत्तर भी मार्मिक है,

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥१७-२
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३
यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४

"मानवों की वह स्वभावजन्य श्रद्धा सात्त्विक, राजस एवं तामस इन तीन प्रकार की होती है; उसके बारे में श्रवण कर-२। अर्जुन, हर एक की श्रद्धा अपने स्वभाव के अनुरूप होती है; यह (हर) मानव (किसी न किसी) श्रद्धा से युक्त होता है; जिसकी जैसी श्रद्धा हो वैसा वह होता है-३। सात्त्विक व्यक्ति देवों का, राजस व्यक्ति यक्षराक्षसों का, तथा अन्य यानी तामस जन पिशाचभूतादिका यजन करते हैं-४।"

श्रीकृष्ण अपने उत्तर में अर्जुन द्वारा उल्लिखित आचरण को एकदम त्याज्य नहीं कहते। मानव की स्वाभाविक निष्ठा सात्त्विक, राजस या तामस हो सकती है। वह न सदैव अच्छी, न बुरी भी होती है। यद्यपि ऐसा व्यक्ति कामवश न होकर श्रेय के प्रति श्रद्धान्वित हो, फिरभी अपनी बुद्धि के अनुसार वह प्रत्यक्ष कौन से स्वरूप का कर्म करता है यह देखना होगा। वह कर्म 'कार्य' हो, तो शास्त्रभिन्न होकर भी सात्त्विक होगा; इसके विपरीत, 'कार्य' न हो तो श्रेय के प्रति श्रद्धायुक्त होकर भी तामस होगा ! भाष्यकार आनंदगिरि

के दिये सुझाव के अनुसार यहाँ 'यजनं' शब्द का व्यापक अर्थ करनेपर, देवयजन याने सात्त्विक कर्म, यक्षराक्षस यजन याने राजस कर्म, तथा प्रेतभूतयजन यानी तामस कर्म ऐसा आशय हो सकेगा। किन्तु वह आशय कैसा भी लिया, तो भी यह स्पष्ट है कि, गीता समाज में प्रस्थापित शास्त्रों के प्रति आदर के साथ व्यक्ति की बुद्धि को भी स्थान देती है।

गीताकार किसी कर्म को मात्र शास्त्रविरोधी इसलिये ही निंद्य नहीं मानते । श्लोक १६-२३ में जहाँ "शास्त्रविधिमुत्सृज्य" आचरण की निंदा की है, वहाँ उसके साथ "कामकारतः" ऐसा भी कहा है। इसी प्रकार ये श्लोक भी देखिये—

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥१७-५
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६

"दंभ एवं अहंकार से ग्रस्त, तथा काम एवं आसक्ति के प्रभाव में आकर, जो लोग अशास्त्रोय घोर तप करते हैं-५, एवं स्वयं के शरीर में स्थिति पंचमहाभूतों को तथा हृदय-स्थित मुझे (परमेश्वर को) भी व्यर्थ कष्ट देते हैं, उन अज्ञानियों को आसुरी स्वभाव वाले समझ-६"।

गीता में अन्य भी संदर्भों में शास्त्रादर के अलावा सयुक्तिक विचार किया है। आहार के भेद बताने में स्वास्थ्य पर परिणाम का आधार लिया गया है, मात्र शास्त्रवचन का नहीं।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधा भवति प्रियः....१७-७
आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०

"सब (मानवों) को प्रिय होनेवाला आहार भी तीन प्रकार का है.... ७। आयु, सात्त्विकता, शक्ति, आरोग्य, सुख एवं प्रसन्न वृत्ति बढानेवाले, रसयुक्त, (स्निग्ध) नरम (तेल-घी मिश्रित), खराब न हुए, रुचिकर, खाद्य पदार्थ सत्त्वगुणी व्यक्ति को प्रिय होते हैं-८। तीखे, खट्टे, खारे (नमकीन) अति ऊष्ण, मसालेदार, रूखे, जलन करनेवाले, अस्वस्थता, विषाद एवं बीमारी पैदाकरनेवाले, खाद्य पदार्थ राजस व्यक्ति को अच्छे लगते हैं-९। जो ताजा न हो (अति ठंढा), सूखा, दुर्गन्धयुक्त, एक दिन का बासी, अन्य किसी का जूठा भी, तथा अपवित्र अन्न तामस व्यक्ति चाहता है-१०।"

गीता और वेदोक्त कर्म

गीता में वेद एवं यज्ञादि वेदोक्त कर्मों के बारे में व्यक्त दृष्टिकोण ऊपर देखे कुल शास्त्र विषयक दृष्टिकोण के समान ही है।

भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही वेदों के प्रति भारी आदर रहा है। श्रीकृष्ण भी वेद एवं वेदोक्त कर्मों के प्रति सम्मान व्यक्त करते हैं।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥९-१६

"मैं क्रतु (यज्ञ आरंभ करते समय लेने का संकल्प) हूँ, मै यज्ञ हूँ; मैं (श्राद्ध में पितरों को अर्पण की गई) स्वधा हूँ; मैं (ऐसे कर्मों में आवश्यक) वनस्पति हूँ; मैं (इन में पठन करने का) मंत्र हूँ; मैं ही (आहुति में देने का) घी हूँ; मैं अग्नि हूँ; तथा जो हवन किया जाता है वह हूँ।"[9] तथा इसके बाद वेदों का स्पष्ट उल्लेख कर श्रीकृष्ण कहते हैं—

. . . . . वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥९-१७

" जो (अंतिम) पवित्र जानना है वह मैं हूँ; ओंकार, एवं ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद भी मैं हूँ"।[0] इसके अलावा भी श्रीकृष्ण कहते हैं—

. . . . .वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५-१५

"सब वेदों द्वारा जो (अंतिम) जानना है, वह मैं ही हूँ; मैं वेदोंका (वास्तविक) ज्ञाता एवं उपनिषदों का प्रेरक कर्ता हूँ।"

किन्तु श्रीकृष्ण वेदों के लिये अंधश्रद्धा नहीं प्रतिपादित करते हैं । वे अर्जुन से कहते हैं—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥२-४५
यावानर्थ उद्पाने सर्वतः संप्लुतोदके
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६

"अर्जुन, वेदो-का प्रतिपादन त्रैगुण्यात्मक (सत्त्वरजतम में लिप्त) ऐहिक जीवन (सुखी करने) हेतु है; तू त्रिगुणातीत, सुखदुःख द्वंद्वरहित, सत्त्वगुण में नित्य स्थित,[11] अपने जीवन निर्वाह की चिंता न करने वाला।[12], आत्म-संयमी हो-४५। (भूमिपर ही) सर्वत्र विपुल जल उपलब्ध होनेपर बावड़ी में जितना मतलब रहता है (अर्थात् कुछ भी नहीं), वैसा पूर्ण ज्ञानी ब्रह्मवेत्ता के लिये समग्र वेदों (के भोगैश्वर्य विषयक वचनों) में रहता है—४६।" गीता में सर्वोच्च ज्ञान की दृष्टि से वेदों को अन्यत्र भी गौणत्व दिया है। वेदोक्त कर्मफलों में आकृष्ट होनेवालों को श्रीकृष्ण "वेदवादरताः" (२-४२), "कामात्मानः"

(२-४३), जन्म-मरणचक्र में फँसे "कामकामाः" (९-२०, २१) कहते हैं। तथा वैदिक ऋचाओं को संसार रूप अश्वत्थवृक्ष के पत्ते बताकर श्रीकृष्ण कहते हैं–

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१५-१
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥१५-२
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३

"जिसकी जड़ ऊपर होकर शाखाएँ नीचे फैली हुई हैं, (वैदिक) छंदोबद्ध ऋचाएँ जिसके पत्ते हैं, ऐसा (संसार रूप) पीपल वृक्ष अविनाशी कहा गया है; जो इसे (वास्तव स्वरूप में) जानता है वह वेदों का (सच्चा) ज्ञाता है-१। "(सत्वरजतम) गुणरूप जल से पुष्ट एवं ऐन्द्रियिक विषयरूप कोपलोंवाली उसकी शाखाएं नीचे तथा ऊपर की ओर[१३] फैली होकर, कर्मों के अनुसार बंधन में डालने वाली (वासनारूप) जड़ें नीचेतक मनुष्यलोक में सब ओर व्याप्त हैं–२।(किन्तु) उसका इस प्रकार यह (वास्तविक) स्वरूप इस लोक में प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता, न उसका अंत दीखता है, न आरंभ, न ही आधार, ऐसे इस पक्की जड़वाले पीपल को दृढ़ अनासक्ति रूप शस्त्र से काटकर-३,

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥१५-४
निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५
न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६

"तदनंतर, जिससे (संसार की) इस पुरातन प्रवृत्ति का उद्भव हुआ है, उस आद्य (सनातन) पुरुष को ही मैं पहुँचना चाहता हूँ ऐसी भावना रखी जावे तथा जहाँ

पहुँचनेवाले पुनः वापिस नहीं लौटते उस (परम) पद के मार्गपर चला जावे[१४]-४। जिनका वृथाभिमान एवं मोह नष्ट हुआ है, जिन्होंने ऐन्द्रियिक विषयों के प्रति आकर्षण रूप दोष जीत लिया है, जो नित्य अध्यात्म चिंतन में मग्न रहते हैं, जिनके कामविकार शान्त हो गये हैं, सुखदुःखादि द्वन्द्वों से जो मुक्त हैं, ऐसे ज्ञानी उस अक्षय पद को प्राप्त होते हैं-५। 'वह (सर्वोच्च स्थान) न सूर्यद्वारा प्रकाशित होता है, न चन्द्र द्वारा, न अग्नि द्वारा, (वह स्वयं प्रकाशी है); जहाँ पहुँचनेवाले वापिस नहीं आते, वह मेरा परम श्रेष्ठ निवास स्थान है[१५], -६"।

मानव भौतिक निसर्ग से प्राप्त अन्नधान्यादि का कुछ अंश यज्ञ द्वारा देवों को अर्पण करे, और देवों से ऐसे ही और पदार्थ प्राप्त करे, यह वेदों की सीख गीतामें भी है। किन्तु श्रीकृष्ण उसे निष्कामता विषयक अपने आदेश से जोड़ते हैं–

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥३-९

"यज्ञार्थ किये कर्मों से अन्य कर्म करने पर यह मानवलोक कर्म के (परिणामों के) बंधन में पड़ता है; अर्जुन, यज्ञ के उद्देश्य से, (किन्तु) बिना आसक्ति से, कर्म कर।" यहाँ प्रथम पंक्ति में श्रीकृष्ण मीमांसकों (कर्ममार्गियों) की रूढ धारणा व्यक्त कर द्वितीय पंक्ति में स्वयं का आदेश देते हैं, यह तिलक की टिप्पणी मार्मिक है। श्रीकृष्ण के अनुसार 'यज्ञार्थ कर्म' भी अनासक्त होगा, तभी कर्मबंधन से वास्तविक मुक्ति प्राप्त होगी।[१६]

किन्तु सच्ची निरासक्ति आत्मसात् होना सहज नहीं, यह जानकर श्रीकृष्ण सामान्य मानव यज्ञकर्मादि संपूर्णतया न त्यागे, इस हेतु यज्ञाचरण ऐहिक भोग प्राप्त करने के लिए भी किया जावे यह प्रतिपादन करते हैं–

सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥३-१०
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३

"पुरातन काल (सृष्टि पारंभ) ने प्रजापति में प्रजाओं (मानवों) को यज्ञसंस्था सह उत्पन्न कर कहा, इसके द्वारा तुम अपनी समृद्धि करो, यह (यज्ञ) तुम्हारी इच्छा पूर्ण करनेवाला हो-१०। इसके द्वारा तुम (इन्द्रादि) देवों को संतुष्ट करो, और वे देव तुम्हें समृद्ध करें; एक दूसरे को संतुष्ट करते हुए तुम (जीवन का) परम उत्कर्ष साध्य करो-११। यज्ञ

से संतुष्ट हुए देव तुम्हें (धान्यजलफलादि) इष्ट भोग्य पदार्थ देंगे; उनके दिये पदार्थ उन्हें (यज्ञ द्वारा) अर्पण किये बिना जो उनका उपभोग लेता है, वह चोर ही है-१२। यज्ञ में (देवों को आहुति अर्पण कर) शेष रहा अन्न खानेवाले सज्जन सब पापों से मुक्त होते हैं; किन्तु जो (मात्र) स्वयं के लिये अन्न पकाते हैं, वे (मानो) पाप भक्षण करते है[१७]।" श्रीकृष्ण और कहते हैं–

> अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः
> यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥३-१४
> कर्म ब्रह्मोद्भवं बिद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्
> तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५
> एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः
> अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६

"अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं (तथा जीवित रहते हैं);[१८] अन्न पर्जन्य से होता है; यज्ञ द्वारा (इन्द्रादि देवों को प्रसन्न कर) पर्जन्य प्राप्त होता है; और यज्ञ कर्म द्वारा किया जाता है[१९]-१४। (यज्ञरूप) कर्म का उद्भव वेदों से हुआ है; तथा वेद अक्षर परमेश्वर से निकले हैं[२०]; अतः सर्वव्यापी ब्रह्म यज्ञ में अधिष्ठित होता है यह जान ले[२१]-१५। अर्जुन, इस प्रकार चलने वाले चक्र के अनुसार जो इस संसार में आचरण नहीं करता, उसका जीवन पापमय होकर ऐसे इन्द्रियलोलुप व्यक्ति का जीवित रहना व्यर्थ है"। (चक्र = मानव-यज्ञकर्म- पर्जन्य-अन्न-मानव. . . .)।

इस प्रकार पारंपरिक धारणा व्यक्त करने बाद श्रीकृष्ण यज्ञ करने में व्यक्ति के स्वयं के सुख की अपेक्षा के बजाय फिर निष्कामता के दृष्टिकोण की ओर मुड़कर कहते हैं–

> गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः
> यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥४-२३
> ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्
> ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४

"अध्यात्म ज्ञान में चित्त स्थिर कर जिसने आसक्ति त्याग दी है, तथा यज्ञ के उद्देश्य से आचरण करता है, ऐसे मुक्त व्यक्ति का कर्म संपूर्ण विलीन हो जाता है (पीछे कोई बंधन नहीं छोड़ता)– २३। यज्ञ में जिस पात्र में अर्पण किया जाता है वह ब्रह्मरूप, जो अर्पण किया वह ब्रह्मरूप, तथा उसको अग्निरूप ब्रह्म में अर्पणकर्तारूप ब्रह्मने हवन किया, इस प्रकार सारा कर्म ब्रह्मरूप है ऐसी जिसकी समत्व पूर्ण बुद्धि हो गई, वह ब्रह्मत्व को ही जाकर पहुँचता है-२४।" यह बुद्धियोगयुक्त यज्ञ कर्म का वर्णन हुआ।

गीता 'यज्ञ' शब्द व्यापक अर्थ में लेकर, 'यज्ञकर्म' कहे जा सकते हैं ऐसे विविध प्रकारों का भी उल्लेख करती है–

> दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते
> ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥४-२५

"अन्य कोई योगी (इन्द्रादि) देवों का आवाहन कर (सकाम) यज्ञ करते हैं;[२२] तथा और कोई वेदरूप अग्नि में वेदों के ही यज्ञविषयक मंत्रों का स्वाध्यायरूप (वाक्-) यज्ञ अर्पण करते हैं (नियमित वेद-पठन करते हैं)"[२३]।

> श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति
> शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥४-२६
> सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे
> आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७
> द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे
> स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८
> अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे
> प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९
> अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति
> सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०

"अन्य कोई कान (एवं नेत्र) आदि इन्द्रियों को संयम रूप अग्नि में हवन करते हैं (इन इन्द्रियों को अनुचित विषयों से रोकते हैं); अन्य कोई (उचित) शब्द आदि विषय इन्द्रियरूप अग्नि में अर्पण करते हैं (कानों से शास्त्रश्रवण, मुख से ईश्वरकीर्तन, आँखों से देवदर्शन, आदि करते हैं)-२६। दूसरे कोई इन्द्रियों के एवं प्राणों के सब कर्मों का (पातंजल योग दर्शन के) ज्ञान से प्रकाशित आत्मसंयम योग (समाधि) रूप अग्नि में हवन करते हैं (सब शारीरिक क्रिया नियंत्रित कर चित्त समाधि अवस्था में स्थिर करते हैं)-२७। इस प्रकार, कठोर व्रतधारी साधकों में से कोई द्रव्य यज्ञ (श्लोक २५ प्रथम पंक्ति), कोई तपोयज्ञ (श्लोक २६), कोई (पातंजल दर्शन के अनुसार) योगयज्ञ (श्लोक २७, २९, एवं ३० की प्रथम पंक्ति), तथा अन्य कोई स्वाध्यायज्ञानपठन यज्ञ (श्लोक २५ उत्तरार्ध) करते हैं-२८। अन्य कोई प्राणायाम क्रिया में निष्ठा रखनेवाले साधक प्राण (उच्छ्वास) एवं अपान (अंदर लिया श्वास) इनकी गति पर नियंत्रण कर, कभी अपान में प्राण का (होम) निरोध ('पूरक प्राणायाम'), तो कभी प्राण में अपान का निरोध ('रेचक प्राणायाम') करते हैं-२९। अन्य और कोई आहार नियंत्रित कर प्राणवायुओं का प्राणवायुओं में हवन करते हैं (प्राणवायुओं पर पूर्ण नियंत्रण करते हैं)। ये सभी यज्ञवेत्ता होकर यज्ञों से उनका पाप नष्ट हो जाता है-३०।"

> यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्
> नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥४-३१

"यज्ञ कर शेष बचा (अन्नरूप) अमृत[१४] सेवन करनेवाले सनातन ब्रह्मलोक को पहुँचते हैं; अर्जुन, यज्ञ न करने वाले को (सुखी) इहलोकजीवन प्राप्त नहीं होता, फिर (सुखी) परलोक कहाँ से मिलेगा ?"

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२

" ऐसे अनेक प्रकार के यज्ञ वेदों में बताये हैं; (किन्तु) उन सबको तुम कर्मस्वरूप जान (अर्थात् सामान्यतः वे बंधनकारक होकर श्लोक २३ एवं २४ में कहे अनुसार किये तो बंधनमुक्त एवं मोक्षदायक होंगे); यह समझ लिया तो तुझे मोक्ष प्राप्त होगा सकेगा।" वैदिक यज्ञ गीतोक्त बुद्धि योग के बिना किया, तो पुण्य (और अतः पुण्यलोक) प्राप्त होगा, किन्तु वास्तविक मुक्ति नहीं मिलेगी। पुण्यसंचय समाप्त होनेपर पुनः इहलोक में जन्म लेना पड़ेगा। वास्तविक मुक्ति 'पुण्यफल' के प्रति अनासक्ति रखकर यज्ञ करने से ही मिल सकेगी (८-२८)। यही ९-२७, २८ एवं १८-५, ६ में भी कहा होकर, राजस और तामस यज्ञों की तुलना में किये सात्त्विक यज्ञ के विवरण में भी दिग्दर्शित हैं।

. . . .यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥१७-७
अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥१७-११
अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३

". . . .यज्ञ, तप एवं दान के ये भेद श्रवण कर-७। जो यज्ञ फल की आकांक्षा न रखनेवालों द्वारा शास्त्रानुसार, तथा यज्ञ करना कर्तव्य है इसी भावनासे, प्रसन्न अंतःकरण पूर्वक किया जाता है वह सात्त्विक है-११। अर्जुन, परंतु फल में आसक्ति रखकर, या (जनता में) दंभ प्रदर्शित करने हेतु भी, जो यज्ञ किया जाता है, उस यज्ञ को राजस समझ ले-१२ शास्त्रविधि रहित, अन्नसमर्पण के विना, मंत्रोच्चारहीन, दक्षिणा न देते, श्रद्धाहीन वृत्ति से, किये यज्ञ को तामस कहते हैं-१३" तामस यज्ञ सर्वथा अनुचित; राजस यज्ञ उचित स्वरूप का, किन्तु सकाम प्रेरित तथा सात्त्विक यज्ञ उचित स्वरूप का और वैयक्तिक आसक्ति रहित होता है।

----

१. शंकराचार्य यहाँ 'सांख्य' का अर्थ (कपिल प्रणीत सांख्य दर्शन ऐसा न करके) जिसमें ज्ञातव्य तत्त्वों की संख्या का विवेचन है वह वेदान्तशास्त्र, तथा 'कृतान्त' का अर्थ (सिद्धान्त के बजाय) 'जिसमें संपूर्ण कृत यानी कर्म का अन्त अर्थात् संन्यास प्रतिपादित

है (वह वेदान्त शास्त्र)' ऐसा करते हैं।

२. यह 'दैव' पूर्व कर्मों का परिणाम है (५-१४, १८-१२)।

३. वल्लभाचार्य यहाँ 'अकर्म' का अर्थ 'निषिद्ध परधर्म' ऐसा करते हैं। अन्य प्रायः सभी ने उसका अर्थ 'कर्मका पूर्ण त्याग' ऐसा किया है, जो संदर्भ से सुसंगत है। किन्तु इस श्लोक में, तथा ३-८ में भी, 'अकर्म' शब्द इस प्रकार शब्दशः प्रयुक्त होने पर भी, ४-१७, १८ में वह एक भिन्न सूक्ष्म अर्थ से आया है।

४. दान के विषय में यह विचार महाभारतकार ने शांतिपर्व में, अध्याय ३०९ में, पुनः व्यक्त किया है; वहाँ एक विशेषता अधिक है– दान में जो देता वह स्वयं दाता ने भी "शुभेन विधिना लब्धम्", यानी न्याय्य तरीके प्राप्त, किया होना चाहिये !

५. इसीलिये ग्रीक दार्शनिक Socrates के virtue is knowledge इस विधान की आलोचना में कहा जाता है कि, virtue is knowledge plus action. महाभारत में भी एक स्थान पर कहा है, "जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः। जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः" (मैं धर्म जानता हूँ किन्तु मेरी उस ओर प्रवृत्ति नहीं होती, तथा अधर्म जानता हूँ किन्तु उससे मैं निवृत्त नहीं होता)।

६. कुछ भाष्यकार 'प्रसङ्गेन' का अर्थ (प्र+सङ्गेन) 'अतिशय आसक्तिपूर्वक' ऐसा करते है।

७. कुछ भाष्यकार यहाँ यक्ष यानी 'कुबेरादि' कहते हैं। किन्तु कुबेर स्वयं यक्ष नहीं। वह पुलस्त्य ऋषि का नाती एवं विश्रवा का पुत्र होकर, ब्रह्मदेव ने उसे विश्व का धनपति और उत्तर दिशा का स्वामी (लोकपाल) नियुक्त किया। यक्ष एवं राक्षस उसके सेवक होकर, प्रायः राजसी वृत्ति के होते थे।

८. "यजन्त इति यागग्रहणं दानादेरुपलक्षणम्"– आनन्दगिरि, श्लोक १७-१ पर भाष्यः

९. शंकराचार्य 'क्रतु' याने श्रौत यज्ञ, तथा 'यज्ञ' याने स्मार्त यज्ञ, ऐसे अर्थ देते हैं; मैंने यहा नीलकंठ भाष्य के अनुसार अर्थ दिये हैं

१०. इन दोनों श्लोकों के समान मुंडक उपनिषद् में यह श्लोक है, "तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा। यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च", १-१-६

११. 'नित्यसत्त्वस्थ' होते हुए भी 'निस्त्रैगुण्य', इसका स्पष्टीकरण आगे प्रकरण १२ में किया है।

१२. ऐसे व्यक्ति के जीवन निर्वाह की व्यवस्था स्वयं ईश्वर करता है (९-२२)

१३. 'नीचे' यानी पशु आदि योनी में, तथा 'ऊपर' यानी स्वर्गादि देवलोकों में (देखिये १४-१४, १५, १८)

१४. इस श्लोक के उत्तरार्ध के आशय का श्वेताश्वतर उपनिषद् में यह वचन है, "तदक्षर तत्सवितुर्वरेण्यं। प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी ॥ (४-४-१८)"

१५. यह श्लोक कठ (२-१-१५), मुण्डक (२-२-१०), एवं श्वेताश्वतर (६-६-३४) इन तीनों उपनिषदों में आये इस श्लोक पर आधारित है, "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा

विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं। तस्यभासा सर्वमिदं विभाति।।"

१६. कुछ भाष्यकार यहाँ 'यज्ञ' का अर्थ विष्णु या परमेश्वर कर, प्रथम पंक्ति में भी श्रीकृष्ण का ही मत देखते हैं; किन्तु इस श्लोक को लगकर आये श्लोक देखते, यहाँ 'यज्ञ' का अर्थ यज्ञकर्म स्पष्ट है।

१७. ऐसा ही मनुस्मृति में भी कहा है, "अघं स केवलं भुंक्ते यः पचन्त्यात्मकारणात्। यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत् सतामन्नं विधीयते" (३-११८)।

१८. इस श्लोक के प्रथम चरण में तैत्तिरीय उपनिषद् के निम्नवचन की प्रतिध्वनि है, "अन्नाद्वै प्रजा प्रजायन्ते याः काश्च पृथिवीं श्रिताः। अथो अन्नेनैव जीवन्ति" (२-१-२)।

१९. इस श्लोक के "यज्ञः कर्मसमुद्भवः" शब्दों के समान गीता श्लोक ४-३२ में भी यज्ञों को "कर्मजान्" कहा है।

२०. बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है, "अस्य महतो भूतस्य निश्वसितम् एतत् यत् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः", (२-४-१०)।

२१. रामानुजाचार्य यहाँ प्रथम चरण में 'ब्रह्म' का अर्थ ('वेद' के बजाय) 'प्रकृति (रूप शरीर)' ऐसा करते हैं, तथा प्रकृति मूलतः परब्रह्मनिर्मित है ऐसा आधार देते हैं। किन्तु, इस दृष्टि से "सर्वगतं ब्रह्म" सभी मानव कर्मों से संबद्ध होता है, उसे "यज्ञे प्रतिष्ठितम्" कहने में वैशिष्ट्य नहीं रहता; फिर, यहाँ विशिष्ट संदर्भ यज्ञ का है।

२२. देखिये ४-१२, ७-२०. यहाँ उल्लिखित योगी गीतोक्त बुद्धियोगी न होकर कर्ममार्गी 'योगी' है; यह भेद प्रकरण १२ में बताया है।

२३. कुछ भाष्यकार द्वितीय पंक्ति में ऋग्वेद के पुरुषसूक्त के "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः" इस वचन से साम्य देखते हैं। किन्तु उसमें देवों ने यज्ञ (यज्ञपुरुष) का यज्ञविधि द्वारा यजन (पूजन) करने का कहा होकर, 'यज्ञ' उसे स्वीकार करनेवाला है। गीता के श्लोक में यज्ञ 'ब्रह्मग्नि' को अर्पण किया हवि है। अन्य कुछ लेखक यहाँ "ब्रह्म" का आशय 'परब्रह्म', तथा "यज्ञेन" का अर्थ 'ब्रह्मात्मैक्यभाव से' ऐसा कर इसमें सर्वोच्च ज्ञानयज्ञ देखते हैं। किन्तु यहाँ वर्णन किया यज्ञ श्लोक २८ में उल्लेखित 'स्वाध्यायज्ञानयज्ञ' होकर', श्लोक ३३ में उल्लिखित सर्वोच्च अध्यात्मज्ञान यज्ञ नहीं।

२४. देखिये मनुस्मृति, "यज्ञशेषमथामृतम्" (३-२८४); तथा महाभारत, "यज्ञ शेषं तथामृतम्" (वनपर्व अध्याय २)।

२५. 'ब्रह्म' शब्द का इस अर्थ में प्रयोग ८-२४ में भी आया है।

श्री

प्रकरण १०

गीता की सामाजिक विचारधारा

गीता और चातुर्वर्ण्य

प्राचीन भारत में मूलभूत समाजशास्त्रीय धारणा यह थी कि, प्रारंभ में एक ही वर्ण होकर, बाद में सामाजिक कार्यों की विविधता बढ़नेपर उन कर्मों के चार स्थूल विभाग किये गये, तथा एकएक विभाग का संबंध एकएक वर्ण से लगाया गया। चातुर्वर्ण्य का यह मूल आशय व्यक्त करते हुए महाभारत में महर्षि भृगु कहते हैं–

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥

(शांतिपर्व, अध्याय १८८)

इसके अनुसार सब मानव ब्रह्मदेवनिर्मित होकर मूलतः समान हैं; तथा वर्णभेद कर्मों के अनुसार बाद में प्रचार में आया। ये महर्षिभृगु वही हैं, जिनके बारे में श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं–

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥१०-२५

"महार्षियों में मैं भृगु तथा वाणी में ॐ यह एक अक्षर हूँ; यज्ञों में मैं जपयज्ञ एवं अचल पदार्थों में हिमालय हूँ।"

भृगु के समान विचार याज्ञवल्क्य भी व्यक्त करते हैं, "सर्वे वर्णा ब्राह्मणा ब्रह्मजाश्च" (शांतिपर्व अध्याय ३१८)।

गीता में चातुर्वर्ण्य का संबंध व्यक्ति के स्वभाव-गुणों से लगाया है। श्रीकृष्ण कहते हैं–

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥४-१३

"व्यक्ति के स्वभाव-गुण एवं तदनुरूप सामाजिक कर्मों के (स्थूल) विभाग इस आधारपर चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था मैंने लगा दी; (इस दृष्टि से) मैं उसका कर्ता होने पर

भी, अव्यय (शाश्वत) स्वरूप का मैं (वस्तुतः) कर्ता नहीं हूँ यह जान ले।" यहाँ 'गुण' याने सत्त्वरज तम गुण न होकर, हर व्यक्ति में होनेवाली विशिष्ट सामाजिक कर्म की प्रवृत्ति एवं क्षमता यह आशय है। इस श्लोक की चर्चा करते हुए डॉ० राधाकृष्णन् लिखते हैं, "The emphasis is on guṇa (aptitude) and Karma (function) and not jāti (birth). .... A class determined by temparament and vocation is not a caste determined by birth and heredity." (*The Bhagavadgita,* pages 160-161; see also pp. 364-365). "यहाँ जोर गुण और कर्म पर दिया गया है; जाति (जन्म) पर नहीं ..... स्वभाव और व्यवसाय द्वारा निर्धारित वर्ण जन्म और अनुवंशिकता द्वारा निर्धारित जाति नहीं है।" (उक्त पुस्तक का हिंदी संस्करण)।

अठारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं–

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः १८-४१

"अर्जुन, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इनके कर्म स्वभावजन्य गुणों के अनुसार अलग-अलग बताये गये हैं।" तथा इसके बाद श्रीकृष्ण ये 'स्वभावानुसार' कर्म ऐसे बताते हैं–

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४

"शान्तवृत्ति, इन्द्रियसंयम, तप, शुद्धता, क्षमाभाव, नम्रता, ईश्वर पर श्रद्धा, तथा ज्ञानविज्ञान का अध्ययन (एवं अध्यापन),– यह 'ब्राह्मण' का स्वभावानुरूप कर्म है-४२। शौर्य, तेजस्विता, दृढ़वृत्ति, (देश की सुरक्षा में) दक्षता, युद्ध में पलायन न करना, दान, एवं प्रजा का पालन पोषण,– यह स्वभावानुरूप 'क्षात्र' कर्म है-४३। कृषि, गोरक्षण एवं व्यापार, यह स्वभावानुरूप 'वैश्य' कर्म होकर, सेवारूप कर्म यह 'शूद्र' (श्रमिक) का स्वभावानुसार कर्म है-४४।"

गीता सामाजिक कर्मों का आनुवंशिक जन्म से अनिवार्य संबंध नहीं लगाती है यह ध्यान में लिया, तो हर व्यक्ति ने अपनी स्वभावप्रकृति के अनुरूप सामाजिक कर्तव्य करने को गीताकार द्वारा दिया महत्त्व सहजही मान्य होगा।

अपनी स्वभाविक प्रवृत्ति का दमन कर स्वकर्तव्य त्यागना अनुचित है।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३-३३

"ज्ञानवान् व्यक्ति भी अपनी स्वभाव-प्रकृति के अनुसार कर्म करता है; सब प्राणी अपनी स्वभाव-प्रकृति का अनुसरण करते हैं; उसका व्यर्थ निग्रह (दमन) (करके अपने सामाजिक कर्तव्य का त्याग) क्या करेगा ? (कहाँ तक चल सकेगा ?)" अर्जुन ऐसा ही निग्रह करना चाहता था; और इसलिये श्रीकृष्ण ने उसे वैसा करने के खिलाफ चेतावनी दी (१८-५९, ६०)। किन्तु, अर्जुन पापविषयक गलत कल्पना के मोह के कारण वैसा करना चाहता था। सामान्य मानव कई बार अपना सुखदुःख सोचकर वैसा निग्रह करना चाहता है। उसका निषेध करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं–

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३-३४

"हर इन्द्रिय की उस इन्द्रिय से संबद्ध (अनुकूल) विषय में आसक्ति, एवं (प्रतिकूल विषय में) अरुचि होती है; मानव उन दोनों (आसक्ति-अरुचि) के प्रभाव में न आये (तथा कर्तव्य त्याग न करे); क्योंकि, वे श्रेयके मार्ग में लूटनेवाले उसके शत्रु हैं।" मोह से हो या सकामता के कारण हो, ऐसा कर्तव्यत्याग अनुचित बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं–

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५

"आचरण करने में सुखद एवं सुलभ अन्य किसी के कर्तव्य की अपेक्षा, अपनी स्वभाव प्रकृति के अनुरूप होनेवाला दुःखदायक एवं कठिन (भी) स्वकर्तव्य श्रेयस्कर है; स्वकर्तव्य करते हुए, मृत्यु (भी) श्रेयस्कर होती है; किसी अन्य के कर्तव्य का आचरण हानिकारक (अधोगतिकारक) है।"

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥१८-४५
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६

"अपना अपना कर्म निष्ठापूर्वक करनेवाला मानव परम सिद्धि प्राप्त करता है; स्वकर्मपालन में तत्पर रहनेवाला किस प्रकार सिद्धि प्राप्त करता है वह श्रवण कर, १८-४५। जिससे सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है, तथा जिसने यहं सब (विश्व) व्याप्त किया हुआ है, उस (परमेश्वर) का स्वकर्तव्यपालन के रूप में पूजन कर मानव सिद्धि प्राप्त करता है-४६।"

श्लोक ३-३५ की प्रथम पंक्ति शब्दशः दोहराते हुए, तथा 'स्वधर्म' यानी 'स्वभाव

प्रकृति के अनुसार कर्तव्य' ऐसा स्पष्ट करते हुए श्रीकृष्ण अपने उपदेश के समारोप में कहते हैं–

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥१८-४७
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८

"आचरण करने में सुखद एवं सुलभ अन्य किसी के कर्तव्य की अपेक्षा, अपनी स्वभाव-प्रकृति के अनुरूप होनेवाला दुःखदायक एवं कठिन (भी) स्वकर्तव्य श्रेयस्कर है; स्वयंकी स्वभावप्रकृति के अनुरूप कर्तव्यकर्म करनेवालों को पाप नहीं लगता-४७। अर्जुन, अपने स्वभाव के अनुरूप कर्तव्य कर्म कुछ सदोष हुआ तो भी उसका त्याग नहीं करना चाहिये; क्यों कि धूंए से जिस प्रकार अग्नि लिप्त होता है, उसी प्रकार सभी कर्म कुछ न कुछ दोष से लिप्त होते हैं-४८"

महाभारत का उदार दृष्टिकोण

यद्यपि साधारणतया आनुवंशिकता (एवं घरके वातावरण) का कुछ प्रभाव व्यक्तित्व पर पड़ता है, महाभारतकार उसपर संपूर्ण जोर नहीं देते। उसके कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं।

एक समय कर्ण का, जो सूतपुत्र के रूप में जाना जाता था, उस कारण अपमान होने की नौबत आई, तब दुर्योधन ने कृपाचार्य से कहा–

आचार्य त्रिविधा योनी राज्ञां शास्त्रविनिश्चये
सत्कुलीनश्च शूरश्च यश्च सेनां प्रकर्षति ॥
(आदिपर्व, अध्याय १३५)

इसमें शास्त्रों के आधार से कहा है कि, मात्र उच्च कुल में जन्म लेनेवालाही नहीं, अपितु जो कोई शूर हो तथा जो सेना का आधिपत्य कर सके, वह भी राजा हो सकता है। और इतना कहकर, दुर्योधन नें कर्ण को अंग देश के राजपद का अभिषेक किया। किसी ने भी उसपर आक्षेप नहीं किया।

शरशय्या से भीष्म द्वारा किये उपदेश में युधिष्ठिर ने पूछा कि, राष्ट्र के संकट समय यदि क्षत्रिय कर्तव्यभ्रष्ट होकर, अन्य कोई देश की रक्षा करे, तो उसे क्या माना जावे ? भीष्म निःसंदेह उत्तर देते हैं कि, ऐसे समय जो कोई देश का रक्षण करेगा उसी को राजा मानना चाहिये (शांतिपर्व अध्याय ३८)

द्रोण जन्म से ब्राह्मण होते हुए भी उन्होंने क्षत्रिय समान युद्ध किया। कुरुक्षेत्र पर वे भीष्म के बाद कौरवों के सर्वोच्च सेनापति भी हुए। उनका पुत्र अश्वत्थामा तथा श्यालक कृपाचार्य भी लड़े।

महाभारतकार द्वारा दिग्दर्शित समाज-व्यवस्था में शूद्रों को (श्रमिकों को) उचित वेतन प्राप्त होता है; वह न मिलता हो तो वे व्यापार आदि कर सकते हैं :

वाणिज्यं पाशुपल्यं च तथा शिल्पोपजीवनम्
शूद्रस्यापि विधीयन्ते यदा वृत्तिर्न जायते ॥
(शांतिपर्व, अध्याय २९४)

"यदि (परिचर्या से) उपजीविका ठीक न चले, तो शूद्र भी व्यापार, पशुपालन, एवं शिल्प कला (आदि) द्वारा अपना जीवन व्यतीत करे ऐसा शास्त्रों का आदेश है।" और तो और, भीष्म युधिष्ठिर को उपदेश देते हैं कि, राजा अपने अमात्यमंडल में अन्य वर्णों के साथ शूद्रों को भी स्थान दे (शांतिपर्व अध्याय ८५)!

महाभारत में प्रत्यक्ष सामाजिक जीवन के वर्णन में भी उदार दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है। युवा राजपुत्र पांडव वारणावत गये, तब वे वहाँ ब्राह्मण, नागरिक शासक, एवं व्यापारी इनके अलावा शूद्रों के भी घर आस्थापूर्वक गये (आदिपर्व अध्याय १४५)। बाद में इन्द्रप्रस्थ में राजसूय यज्ञ के समय पाण्डवों ने अन्य वर्णीयों के साथ शूद्रों को भी आमंत्रित किया। राजा युधिष्ठिर द्वारा दूतों को दिया यह आदेश देखिये–

आमन्त्रयध्वं राष्ट्रेषु ब्राह्मणान् भूमिपानथ
विशश्च मान्यान् शूद्रांश्च सर्वानानयतेति च ॥
(सभापर्व, अध्याय ३३)

इसी प्रकार, कुरुक्षेत्र पर हुवे महायुद्ध में सब वर्ण शामिल हुवे, और वह भी 'एकत्र रहकर' ("एकस्थाः सर्ववर्णास्ते", भीष्मपर्व, अध्याय १)। शूद्र उसमें मात्र सेवक न होकर स्वयं वीर योद्धा थे–

तेषामन्तकरं युद्धं देहपाप्मानुनाशनम्
क्षत्रविट्शूद्रवीराणां धर्म्यं स्वर्ग्यं यशस्करम् ॥ (द्रोणपर्व, अध्याय ४८)

"तदनंतर उन क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र वीरों ने वह घोर धर्म्य युद्ध किया; जिसमें उनके शरीर, पाप एवं प्राण नष्ट होकर उन्होंने यश एवं स्वर्ग प्राप्त किया।"

महाभारत में दी एक कथा के अनुसार, जाजलि नाम के वृथाभिमानी तपस्वी को वास्तविक ज्ञानप्राप्ति के लिये तुलाधार नाम के एक सात्त्विक वैश्य के पास जाना पड़ा (शांतिपर्व, अध्याय २६१ से २६४)। तुलाधार के उपदेश में गीता के कई विचार आये हैं।

वर्णभेद और नैतिक गुण

सर्पदेहधारी राजा नहुष के 'ब्राह्मण कौन होता है ?' इस प्रश्न के उत्तर में युधिष्ठिर ने कहा–

सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा
दृश्यते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥
(वनपर्व, अध्याय १८०)।

'जिस व्यक्ति में सत्यप्रियता, दानवृत्ति, क्षमाशीलता, सुशीलता, सौम्यत्व, तप एवं दयाभाव दीखते हों वह ब्राह्मण है, ऐसा कहा गया है।'' नहुष ने कहा कि, ये सद्गुण तो शूद्र कहे गये व्यक्ति में भी कई बार पाये जाते हैं। इसपर युधिष्ठिर ने स्पष्ट कहा–

शूद्रे तु यद्भवेल्लक्ष्यं द्विजे तच्च न विद्यते
न वै शूद्रो भवेत् शूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥
यत्रैतद् लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः
यचैतन्नभवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ॥

''यदि शूद्र (कहे गये व्यक्ति) में ये लक्षण हों तथा ब्राह्मण (कहे गये व्यक्ति) में न हों, तो वह शूद्र शूद्र नहीं तथा वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं। हे सर्प (नहुष), जिस किसी में यह स्वभाव हो उसे ब्राह्मण कहा गया है, एवं किसी में न हो उसे शूद्र कहा जावे।'' नहुष ने भी इसे मान्यता दी (अध्याय १८१)।

महाभारत में दी एक अन्य कथा में कौशिक नाम के विद्वान् किंतु अहंकारी ब्राह्मण को एक सात्त्विक महिला द्वारा सदाचार एवं समभाव का उपदेश श्रवण करना पड़ा; इतनाही नहीं, अपितु उसे प्रत्यक्ष एक मांस विक्रेता व्याध के पास भी भेजा गया। कौशिक ने उस मातृपितृभक्त धर्मव्याध से श्रेष्ठ अध्यात्म ज्ञान ग्रहण किया। व्याध ने उसे यह भी कहा–

शूद्रयोनौ हि जातस्य सद्गुणानुपतिष्ठतः
वैश्यत्वं लभते ब्रह्मन् क्षत्रियत्वं तथैव च
आर्जवे वर्तमानस्य ब्राह्मण्यमभिजायते
(वनपर्व, अध्याय २१२)

शूद्रकुल में जन्में व्यक्ति में सद्गुण होनेपर वह वैश्य, क्षत्रिय या ब्राह्मण भी हो सकता है ऐसा इसमें कहा है। कौशिक ने भी उस व्याध के सामने नतमस्तक होकर कहा–

साम्प्रतं च मतो मेऽसि ब्राह्मणो नात्र संशयः
यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततोत्थितः
तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेत् द्विजः ॥
(अध्याय २१६)

''वर्तमान जीवन में ही आप ब्राह्मण हैं यह मेरी निःशंक धारणा है; जो शूद्र (कुल में जन्मा व्यक्ति) इन्द्रियसंयम, सत्य एवं धर्माचरण का सतत पालन करता है, उसे मैं

ब्राह्मण मानता हूँ; क्योंकि, अपने आचरण से व्यक्ति द्विज (ब्राह्मण) होता है।''

जन्मसंबद्ध या अन्य (वित्त अथवा सत्ताविषयक) श्रेष्ठत्व के अहंकार को आसुरी स्वभाव कहकर श्रीकृष्ण उसका निषेध करते हैं–

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१६-१४
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६
आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७

''यह शत्रु मैनें मार डाला, दूसरे भी मारूंगा, मैं सर्वोच्च सत्ताधीश हूँ, मैं सुखोपभोगी हूँ, मैं सिद्ध (सर्वगुण संपन्न), बलवान् एवं सर्वसुखी हूँ, मैं धनाढय एवं उच्च कुल में जन्मा हूँ, मेरे समान अन्य कौन है ? मैं विशाल यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, सुख भोगूँगा'– आदि अज्ञानग्रस्त विचारों से भ्रमित होकर, जिनका चित्त अनेक दिशाओं में भटकता है, जो मोहजाल में फँसे हैं एवं कामभोग में अति आसक्त रहते हैं, वे अपवित्र नरक में जा गिरते हैं–१४, १५, १६। स्वयं को श्रेष्ठ माननेवाले, घमंडी, धन एवं प्रतिष्ठा के मद से भरे (वे) ढोंगी वृत्ति से तथा उचित विधि त्यागकर केवल नाम मात्र के यज्ञ करते हैं-१७'' झूठे वर्णाभिमान का, एवं सामाजिक प्रतिष्ठा के अहंकार का, इसमें श्रीकृष्ण धिःकार कर, ऐसे व्यक्तियों को 'नराधम' कहते हैं (१६-१९)

इस प्रकार महाभारतकार ने भारतीयों का ध्यान सामाजिक समता की ओर खींचने का स्पष्ट प्रयास किया, किन्तु दुर्भाग्य से उनकी इस प्रेरणा की उपेक्षा की गई। फलस्वरूप इस समाज के कई विभाग हो गये और राष्ट्रीय एकताभंग होकर देश की सामुदायिक प्रतिकार शक्ति नष्टप्राय हो गई। इस कारण इस विशाल, किन्तु अनेकशः विभाजित समाज को दीर्घकाल से अल्पसंख्य विदेशी आक्रमकों का भक्ष्य बनना पड़ा।

भारतीय समाज की प्रारंभिक अवस्था में सामाजिक कर्मों के कुछ स्थूल विभाग सहज ही होने लगे थे। (आगे बताये अनुसार कुछ अन्य भी देशों में ऐसे विभाग हुवे थे)। श्रीकृष्ण ने किसी पूर्व अवतार में उस समय की परिस्थिति में कर्मों के उस विभाजन की उपयुक्तता देख उसे वैयक्तिक स्वभावगुणों के आधार पर व्यवस्थित रूप प्रदान किया। यह ''चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं'' (४-१३) का आशय दीखता है। किन्तु, उसी श्लोक में श्रीकृष्ण जहाँ स्वयं को 'अव्यय' बताते हैं, तथा बुद्धियोग को (४-१) एवं 'पवित्र' अध्यात्मज्ञान को भी (९-२) 'अव्यय' कहते हैं, वहाँ उस चातुर्वर्ण्यव्यवस्था को अव्यय नहीं कहते। उन्होंने ही गीतोपदेश में चारों वर्णों की मूलभूत एकात्मता एवं समानता प्रतिपादन की

है।

तिलक ने गीता में आये शास्त्रविषयक उल्लेखों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया है, किन्तु वे भी शास्त्र का संबंध मात्र चातुर्वर्ण्यव्यवस्था से न लगाकर, उसका व्यापक अर्थ करते हैं "किसी को यह न समझ लेना चाहिये, कि गीता के नीतितत्त्व चातुर्वर्ण्यरूपी समाज व्यवस्था पर ही अवलंबित हैं. . . . सर्वसामान्य आध्यात्मिक ज्ञान के आधार पर ही उसका प्रतिपादन किया गया है।. . . .उस समय में उपयुक्त होनेवाले सहज उदाहरण के नाते से गीता में चातुर्वर्ण्य का उल्लेख किया गया है. . . .परंतु चातुर्वर्ण्य व्यवस्था ही गीता का मुख्य भाग नहीं है। सारे गीता शास्त्र का व्यापक सिद्धान्त यही है, कि यदि कहीं चातुर्वर्ण्यव्यवस्था प्रचलित न हो अथवा वह किसी गिरी दशा में हो, तो वहाँ भी तत्कालीन प्रचलित समाजव्यवस्था के अनुसार समाज के धारण-पोषण के जो काम अपने हिस्से में आपड़े, उन्हें लोकसंग्रह के लिये धैर्य और उत्साह से तथा निष्काम बुद्धि से कर्तव्य समझकर करते रहना चाहिये" (पूर्व उल्लिखित, पृ० ४९६-४९७)। इसमें तिलक ने गीतोपदेश को केवल चातुर्वर्ण्य तक ही सीमित न रखते हुए अन्य किसी भी समाज व्यवस्था में गीता का महत्त्व उत्तम प्रकार का बताया है। डॉ० राधाकृष्णन् भी लिखते हैं, "The fourfold order is designed for human evolution. There is nothing absolute about caste system which has changed its character in the process of: history. . . . the unity taught by the Gita, which stands for an organic as against an atomistic conception of society". (*The Bhagavadgita*, pp. 160-161); हिन्दी संस्करण, ";चातुर्वर्ण्यव्यवस्था मानवीय विकास के लिये बनाई गई है। जातिव्यवस्था कोई परम वस्तु नहीं है। इतिहास की प्रक्रिया में इसका स्वरूप बदलता रहता है।. . . . गीता द्वारा उपदिष्ट एकता . . . . समाज की परमाणुवादी धारणा के प्रतिकूल एक सावयव धारणा का समर्थन करती है")।

महाभारत और कुछ अन्य संस्कृतियाँ

यहाँ महाभारत की सामाजिक विचारधार की संसार की कुछ अन्य प्राचीन संस्कृतियों से तुलना उद्बोधक होगी। प्राचीन ग्रीक दार्शनिक प्लेटो के विचार इस प्रकार थे। "Plato begins by deciding that the citizens are to be divided into the three classes: the common people, the soldiers and the guardians. The last alone are to have political power. . . . they will usually succeed by heredity, but in exceptional cases a promising child many be promoted from one of the inferior classes, while among the children of guardians a child or young man who is unsatisfactory many be degraded . . . . The definition of 'justice' . . . . consists, we are told, in every body doing his own work, and not being a busybody". (*History of western Philosophy* by Bertrand Russell, pp. 129-135).

महाभारतकार भी एक वर्ण से अन्य वर्ण में उन्नति या अवनति का संभव मान्य करते हैं, यह हमने ऊपर देखा है।

प्राचीन समय में चीन देश में भी समाज के तीन स्थूल विभाग प्रचलित हुए थे। प्रथम विभाग (*'Shen-shi* = Scholar-gentry') सबसे श्रेष्ठ होकर, उसके हाथों में (सार्वभौम राजाके अधीन) सब स्थानिक एवं प्रांतीय शासन की सत्ता होती थी। द्वितीय विभाग में सामान्य जनता (commoners) आतीथी; उसमें काश्तकार वर्ग (*'Nung'*), तथा बर्तन बनानेवाले, सोनार, लोहार, सुतार, बुनकर आदि धंदेवाले (*'Kung* = artisans), तथा व्यापारी वर्ग ('Shang') आता था। इसके अलावा सैनिक भी होते थे ('Ping')। वरिष्ठ प्रथम विभाग में प्रवेश हेतु परीक्षा होती थी। उसके लिये उस वरिष्ठ विभाग की संतति के अलावा द्वितीय विभाग को भी अनुमति थी। किन्तु इन दो विभागों के अलावा, एक तीसरा भी विभाग (The mean people) होकर, उसे सबसे कनिष्ठ माना जाता था, तथा उसमें से किसी को वरिष्ठ वर्ग में प्रवेश हेतु पात्रता नहीं थी। (देखिये *The Far East in the modern World,* by Michael and Tayler, New York, pages 20-33)

इसके विपरीत, प्राचीन भारत में शूद्र द्विज हो सकता था, तथा शूद्रों को मंत्रिमंडल में स्थान था, इस आशय के महाभारत के वचन ऊपर उद्धृत किये हैं । तथा गीता में भी श्रीकृष्ण (आगामी प्रकरण में उद्धृत किये अनुसार) व्यापक मानवी समानता पर जोर देते हैं।

---

१. ग्रीक दार्शनिक प्लेटो का भी ऐसा ही प्रतिपादन आगे उद्धृत किया है।

श्रीः

प्रकरण ११

गीता का बुद्धियोग

आदर्श जीवन में कर्म का स्थान

नीतिदर्शन के जिन दो प्रमुख विषयों का पूर्व प्रकरण में उल्लेख किया है, उनमें से प्रथम की चर्चा यहाँ तक कर, अब दूसरे का विवेचन करना है। मानवी जीवन का आदर्श स्वरूप क्या है? उसमें केवल ज्ञानोपासना को ही स्थान है या कर्माचरण भी होना चाहिये?

शंकराचार्य के अनुसार अंतिम सिद्धावस्था सर्वकर्मसंन्यासात्मक है। सत्कर्मों से चित्तशुद्धि होकर ज्ञानप्राप्ति होने बाद सारा कर्म अंतर्धान हो जाता है। अर्जुन ज्ञानमार्ग के लिये अधिकारी नहीं था अतः उसे श्रीकृष्ण ने युद्ध कर्म का आदेश दिया; किन्तु ज्ञानी के लिये गीता में सर्वकर्मसंन्यास ही प्रतिपादन किया है ऐसा आचार्यश्री का कहना है। इस दृष्टि से वे श्लोक २-४७ में "कर्मण्येवाधिकारस्ते" का अर्थ "तव च कर्मण्येवाधिकारो न ज्ञाननिष्ठायां" ऐसा देते हैं। तथा मधुसूदन उसीका अधिक विवरण कर स्पष्ट कहते हैं, "ते तवाशुद्धान्तःकरणस्य तात्त्विकज्ञानोत्पत्त्ययोग्यस्य कर्मण्येवान्तःकरणशोधकेऽधिकारो मयेदं कर्तव्यमिति बोधोऽस्तु न ज्ञाननिष्ठारूपे वेदान्तवाक्यविचारादौ" ('तेरा चित्त अशुद्ध अतः तत्त्वज्ञान के उदय के लिये अपात्र होने से तेरा अधिकार मात्र चित्तशुद्धिकारक कर्म में है, यह कर्म मेरा कर्तव्य है इतनाही तुझे जानना है, ज्ञाननिष्ठारूप वेदान्तवाक्य-चिंतनादि में तेरा अधिकार नहीं')।

इसके विरुद्ध तिलक का प्रतिपादन है कि, गीता सर्वकर्मसंन्यास अनुचित मानती है; किन्तु जहाँ सामान्य मानव सकामता से कर्म करते हैं, वहाँ ज्ञानी कर्म को निष्काम होकर करता रहे। तिलक लिखते हैं, "जिनकी दृष्टि से. . . .तरुण अवस्था में यथाशास्त्र संसार के सब कार्य करनेपर बुढ़ापे में समस्त कर्म छोड़ चतुर्थाश्रम या संन्यास लेना ही अंतिम साध्य था, वेही स्मार्त कहलाते थे, और जो लोग भगवान् के उपदेशानुसार यह समझते थे, कि ज्ञान एवं उज्ज्वल भगवद्भक्ति के साथ-ही-साथ मरणपर्यंत गृहस्थाश्रम

के ही कार्य निष्काम बुद्धि से करते रहना चाहिये, उन्हें भागवत कहते थे। इन दोनों शब्दों के मूल अर्थ ये ही हैं, और इसी से वे दोनों शब्द, सांख्य और योग, अथवा संन्यास और कर्मयोग के क्रमशः समानार्थक होते हैं।" (पूर्व उल्लिखित, पृ० ३४४)

हम प्रथम कर्मसंन्यास मत कहाँ तक यथार्थ है इसकी चर्चा करें। गीता के अनुसार :-

> न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्
> कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ३-५

"क्योंकि, कोई भी विना कर्म किये क्षणभर भी नहीं रह सकता; प्रकृति के गुणों से बाध्य होकर सभी (मानव) कर्म करते रहते हैं।" इस श्लोक में (तथा ५-८, ९ में भी) स्पष्ट ऐच्छिक कर्मों के अलावा शारीरिक नैसर्गिक क्रियाओं का भी समावेश दीखता है। किन्तु ये क्रियाएँ भी अर्धचेतनरूप से ऐच्छिक होती हैं। यदि कोई एक क्षण श्वास रोक रखे तो शीघ्र ही वह स्वयं प्रयासपूर्वक श्वास लेने लगेगा।

किन्तु वह बात अलग रखकर हम स्पष्टतया ऐच्छिक कर्मों पर ही विचार करें। श्रीकृष्ण अर्जुन को आदेश देते हैं—

> नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः
> शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥३-८

"(अर्जुन), तू नियत (कार्य) कर्म कर; (वह) कर्म त्यागने की अपेक्षा (सकामता से ही क्यों न हो) (वह) कर्म करना अच्छा है; (और) कर्म करे बिना तेरी जीवनयात्रा भी ठीक से नहीं चलेगी।" किन्तु कार्य कर्म निष्काम वृत्ति से करना यह आदर्श मार्ग है। अर्जुन संन्यास के लिये पात्र न होने से श्रीकृष्ण ने उसे वह युद्ध लड़ने का आदेश दिया, इस आशय का संकेत गीता में प्रतीत नहीं होता है। जीवन्मुक्ति प्राप्त करनेवाले राजा जनक का उल्लेख कर श्रीकृष्ण कहते हैं—

> कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः
> लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥३-२०

"कर्माचरण करते हुए ही जनक आदि परम सिद्धावस्था में रहे'; (तथा इसके अलावा) लोगों को मार्गदर्शन करने की इष्टता देखते भी (समाज में उच्च स्थान पर होनेवाले) तुझे (आवश्यक) कर्म करना उचित है।"

इस श्लोक की द्वितीय पंक्ति में पूर्ण ज्ञानी व्यक्ति को भी संपूर्ण कर्मत्याग न करने के लिये एक महत्त्व का कारण दिया है। वह स्वयं के लिये कुछ न चाहता हो, फिरभी लोगों को उनके कर्तव्यपालन में उसने उचित मार्गदर्शन करना चाहिये; अन्यथा सारी समाजव्यवस्था ध्वस्त हो जायगी।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥३-२१

"श्रेष्ठ व्यक्ति जो जो आचरण करता है वैसा ही अन्य (सामान्य) जन करते हैं; वह (अपने आचरण से) जो प्रमाण (उदाहरण) रखता है तदनुसार लोग आचरण करते हैं"; और इसकी पुष्टि में श्रीकृष्ण स्वयं का ही उदाहरण देते हैं :-

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥३-२२
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४

"अर्जुन, तीनों लोकों में मेरा (स्वयं के लाभार्थ) कोई कर्तव्य नहीं; जो मुझे प्राप्त न होकर प्राप्त करना है ऐसा कुछ भी नहीं; फिर भी मैं कर्म करता रहता हूँ-२२। अर्जुन, यदि मैं आलस्य त्याग कर (आवश्यक) कर्म न करता रहूँ, तो सब मानव मेरे मार्ग का अनुसरण करेंगे (और आवश्यक कर्म त्यागेंगे)-२३। यदि मैं कर्माचरण न करूँ, तो (संसार के) इन लोगों की सारी जीवनव्यवस्था उद्ध्वस्त हो जायगी, मैं अनाचार का प्रसारकर्ता ठहरूंगा, तथा (अंततोगत्वा) मेरे कारण इन (सब) मानवों का विनाश हो जायगा-२४।"

सक्ताः कर्मण्यविद्वाँसो यथा कुर्वन्ति भारत
कुर्याद्विद्वाँस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥३-२५
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९

"अर्जुन, जिस प्रकार (अपने) कर्मों में आसक्त रहकर अज्ञानी (सामान्य) मानव (कार्य) कर्म करते हैं, लोकसंग्रह का इच्छुक विद्वान् उन कर्मों को अनासक्त वृत्ति से करे-२५।(इस प्रकार) कर्मों में आसक्त अज्ञजनों का (ज्ञानी) बुद्धिभेद न करे (उन्हें कार्य कर्मों से विचलित न करे); योगसंपन्न (अनासक्त) वृत्ति से आचरण करता हुआ विद्वान् (जनसाधारण को) सभी (कार्य) कर्मों की ओर प्रोत्साहित करे-२६।" "प्रकृति के गुणों से मोहित मानव (उन) गुणों में, तथा (उनके कारण किये जानेवाले) कर्मों में, आसक्त रहते है; पूर्ण ज्ञानी उन अल्पज्ञानी मंदबुद्धि मनुष्यों को (कार्य कर्माचरण से) विचलित न करे-२९।"

स्वयं के कर्माचरण का उल्लेख करने बाद, श्रीकृष्ण संसार में जब जब अधर्म

बहुत प्रबल होता है, तब धर्मसंस्थापना करना यह अपने अवतारों का तथा कर्मोंका हेतु बताकर (४-७, ८) आगे कहते हैं–

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥४-९

"अर्जुन, मेरा जन्म (अवतार) लेना एवं कर्म करना इनका मूल ईश्वरी स्वरूप जो इस प्रकार जानता है, वह मरणोपरान्त पुनर्जन्म न पाकर मुझे आकर प्राप्त होता है।" और इस संदर्भ में अर्जुन को आदेश देते हैं–

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥४-१४
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५

"कर्मफल में मेरी इच्छा नहीं, तथा मुझे कर्म लिप्त (आसक्त) नहीं करते; यह मेरा स्वरूप जो जानता है वह कर्मों के (आसक्ति रूप) बंधन में नहीं पड़ता, ४-१४। यह (मेरे कर्माचरण का स्वरूप) ध्यान में लेकर पुरातन मोक्षसाधकों ने भी कर्म किया; अतः उन पूर्वकालीन व्यक्तियों ने पुरातन समय में जैसा किया, वैसा तू भी कर्माचरण कर-१५"

किन्तु इसके अलावा, हम इस मुद्दे पर स्पष्ट प्रकाश डालने वाले कुछ अन्य श्लोकों पर भी विचार करें।

गीता में प्रत्यक्ष कर्म-संन्यास प्रतिपादित नहीं

'नित्यसंन्यासी' की व्याख्या, सर्वकर्मत्यागी ऐसी न करके, सब वैयक्तिक इच्छा-द्वेष त्यागनेवाला (५-३) ऐसी देकर, श्रीकृष्ण गीतोक्त योगी का यह वर्णन देते हैं–

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥५-७

"योगसंपन्न, विशुद्धचित्त, मन एवं इन्द्रियों को जीतनेवाला, तथा सब प्राणियों में स्वयं को अनुभव करनेवाला व्यक्ति (कार्य) कर्म करता हुवा भी (स्वर्गप्राप्ति, पुनर्जन्म आदि) बंधन में नहीं पड़ता।" ऐसा योगी कर्म करता है, किन्तु आसक्ति रहित वृत्ति से; तथा कर्म करने में निरहंकारिता रखता है–

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥५-८
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०

"तत्ववेत्ता योगी देखने में, श्रवण करने में, सूंघने में, खाने में, चलने में, नींद लेने में, श्वास लेने में, बोलने में, त्यागने में, ग्रहण करने में, तथा आँख खोलने-मूंदने में भी, 'मैं कुछ भी न कर रहा होकर यह इन्द्रियों का विषयों में व्यवहार हो रहा है' ऐसा मानता है-८, ९। जो अपने कर्म 'ब्रह्म' को अर्पण कर, आसक्ति त्याग कर, करता है, वह जिस प्रकार कमलपत्र को पानी नहीं चिपकता, उस प्रकार पाप से लिप्त नहीं होता-१०।" सब आसक्ति त्यागकर अपने कर्म ब्रह्मार्पण करनेवाला यह योगी कर्म प्रत्यक्ष न त्यागते हुए 'करोति' यानी करता है।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥५-११
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२

"योगी चित्तशुद्धि कायम रखने निष्कामता पूर्वक शरीर से, मन से, बुद्धि से, या केवल इन्द्रियों से भी कर्म करते रहते हैं-११। योगावस्था प्राप्त व्यक्ति कर्मफल का त्याग कर (हृदय में) परम शांति प्राप्त करता है; इसके विपरीत, योगावस्थाहीन व्यक्ति कामेच्छा प्रेरित होकर फल में आसक्त होता है और बंधन से लिप्त होता है-१२।"

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥५-१३

"देह का स्वामी (आत्मा) सब कर्मों (के प्रति आसक्ति) का मनद्वारा संन्यास कर नौ द्वारों के देहरूप नगर में (तत्वतः) कुछ न करते एवं करवाते (विशुद्ध) सुख में निवास करता है।"[3] इस श्लोक का आशय इसके पूर्व श्लोक के संदर्भ में देखना चाहिये। कर्मों का संन्यास, प्रत्यक्षतः नहीं, मनद्वारा करना है; उनका कर्तृत्व ईश्वरार्पण करना है।

गीता में सर्व कर्म परित्याग का आग्रह नहीं, यह अठारहवें अध्याय के आरंभ में आये कुछ श्लोकों से भी देखा जा सकेगा। इस संदर्भ में 'काम्य' कर्म और 'सकाम' कर्म इनमें भेद करना इष्ट है। जो कार्य कर्म निष्काम वृत्ति से हो सकते हैं किन्तु कर्ता सकामता से करता है उन्हें हम 'सकाम' कहें; इनका प्रत्यक्ष त्याग न करते उन्हें फलत्यागपूर्वक करना संभव है। किन्तु जिन कर्मों का उद्भव मात्र स्वार्थी वृत्ति में है, उन्हें 'काम्य' कर्म कहा जावे; उनका संपूर्ण परित्याग ही इष्ट होगा। उदाहरणार्थ, दान कर्म प्रथमोक्त प्रकारका होगा; किन्तु चोरी 'काम्य' कर्म होगा।

अठारहवें अध्याय के आरंभ में अर्जुन श्रीकृष्ण से कहता है–

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१८-१

"महाबाहो केशिनिषूदन श्रीकृष्ण, मैं संन्यास एवं त्याग का वास्तविक स्वरूप

अलग-अलग जानना चाहता हूँ।" उत्तर में श्रीकृष्ण कहते हैं–

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥१८-२

"काम्य कर्मों के न्यास (प्रत्यक्ष परित्याग) को विद्वान् 'संन्यास' कहते हैं, तथा समग्र कर्मों के फल के त्याग को विद्वान् 'त्याग' कहते हैं।" यहाँ द्वितीय पंक्ति में कहा 'त्याग' करनेपर, (प्रथम पंक्ति में उल्लिखित) 'काम्य' कर्म प्रत्यक्षही समाप्त होकर, उनका 'सम्यक् (संपूर्ण) न्यास' होगा; किन्तु अन्य कर्म उसके बादभी (निष्कामता से) चालू रखना संभव है।

इस श्लोकपर इसके बाद के श्लोकों के साथ विचार करनेपर, कुलमिलाकर आशय यह दीखता है कि, उस समय 'संन्यास' का प्रचलित अर्थ 'पूर्ण परित्याग' ऐसा होकर वह कर्मों से संबंद्ध था, और 'त्याग' का आशय कर्मफल से अनासक्ति ऐसा था (यद्यपि कभी-कभी उसका अर्थ कर्मत्याग भी किया जाता था)। स्वयं गीता इन शब्दों के प्रयोग एक विशेष सूक्ष्म आशय से करती है। श्रीकृष्ण आगे कहते हैं–

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥१८-३

"कुछ विद्वान् कर्म (मूल से ही) सदोष होने से (संपूर्णतया एवं प्रत्यक्ष रूप से) त्याग दिया जावे ऐसा कहते है; तो अन्य (विद्वान्) कहते हैं कि, यज्ञ-दान-तप रूप कर्म त्यागना उचित नहीं।"

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥४
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्
यज्ञो दानः तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६

"भरतकुलश्रेष्ठ वीर अर्जुन, इस संदर्भ में 'त्याग' के विषय में मेरा निश्चित मत श्रवण कर; त्याग तीन प्रकार का बताया गया है-४। यज्ञदानतपरूप कर्म प्रत्यक्ष त्यागने योग्य न होकर कार्यही है (अवश्य किया जावे); यज्ञ, दान तथा तप विद्वानों के लिये पावन (चित्तशुद्धिकारक) हैं-५। किन्तु, अर्जुन, ये कर्म भी उनके प्रति तथा उनके फलों के प्रति आसक्ति त्याग कर किये जावें ऐसा मेरा निश्चित उत्तम मत है-६"। इसमें श्रीकृष्ण ने यज्ञ, दान एवं तप का प्रत्यक्ष त्याग अनुचित बताकर, सर्वकर्मत्याग का (श्लोक ३ की प्रथम पंक्ति में निर्दिष्ट) पक्ष अमान्य किया है।

गीता यज्ञ एवं तप के व्यापक अर्थ करती है। यज्ञ के विभिन्न अर्थ चौथे अध्याय

में दिये हैं; तथा तप के विविध प्रकार ये बताये हैं–

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१७-१४
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६

"देवपूजन, द्विजत्व के गुणवाले व्यक्ति, ज्ञान देनेवाले गुरु, विद्वान्, इनका आदर; शुद्धता; सरलता; ब्रह्मचर्य; एवं अहिंसा; इसे शारीरिक तप कहा है-१४।[४] दूसरे के हृदय को न दुखानेवाला, सत्य, हितकारक प्रिय भाषण, तथा ज्ञानार्जन का नियमित अभ्यास, यह वाचिक तप कहा गया है-१५। मन की प्रसन्नता, सौम्यवृत्ति, (आवश्यक हो उतना बोलकर शेष) मौन, स्वयंपर नियंत्रण, शुद्धभावना, ऐसा यह मानस तप कहा जाता है-१६।"

यज्ञ, दान एवं तप ये सामान्य कार्य कर्म हैं। इनके अलावा व्यक्ति के विशिष्ट सामाजिक कर्तव्य भी होते हैं। अतः सब नियत कर्मों का विचार कर श्रीकृष्ण उनका 'संन्यास' अनुचित कहते हैं, तथा 'त्याग' शब्द प्रथम रूढार्थ में और अंत में स्वयं के विशिष्ट आशय से लेकर 'त्याग' के तीन प्रकार बताते हैं-

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥१८-७

"नियत (यानी कार्य) कर्म का त्याग उचित नहीं, उसका मोहवश किया त्याग तामस कहा जाता है" अर्जुन ऐसा ही तामस त्याग करना चाहता था।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥१८-८

"यदि (अकार्य, काम्य) कर्म दुःखदायक है, मात्र इस शारीरिक भय के कारण कोई त्यागे, तो उसका यह त्याग (न्यास) राजस होकर उसे (वास्तविक) त्याग का फल (श्रेय) प्राप्त नहीं होगा।"[५] कारागृह के डर से ही जो चोरी करना टालता है, वह प्रत्यक्ष चोरी करनेवाले से अच्छा है, तो भी, उसका आचरण सात्त्विक न होकर राजस होगा। चोरी मूलतः ही अनैतिक कर्म है यह सोचकर उसका 'न्यास' (त्याग) सात्त्विक होगा।[६]

इसके बाद गीतोक्त वास्तविक 'त्याग' स्पष्ट करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं–

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥१८-९

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०

"अर्जुन, जब नियत (कार्य) कर्म, वह कार्य है मात्र इसी लिये, तथा (उसके प्रति) आसक्ति एवं फल का भी त्याग कर, किया जाता है, तब वह त्याग सात्त्विक कहा जाता है–९। त्यागी (अनासक्त), सत्त्वगुणी, एवं पूर्णतः संशयरहित ज्ञानी व्यक्ति कर्म दुःखकारक होनेपर भी (मात्र उस कारण से) उसका तिरस्कार नहीं करता, और न सुखकारक कर्म में आसक्त होता है-१०।" वास्तविक 'त्याग' का आशय कार्य कर्म का प्रत्यक्ष त्याग ऐसा न होकर, वह सुखदायक होतो उसके सुख में वैयक्तिक आसक्ति, एवं दुःखद हो तो उसके प्रति उद्विग्नता, त्यागकर वह करना, यह है।

श्रीकृष्ण समुचित समारोप करते हैं–

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥१८-११
अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२

"क्योंकि देहधारी (मानव) कर्मों का संपूर्ण त्याग नहीं कर सकता, किन्तु जो कर्मफल का त्याग करता है उसे (वास्तविक) त्यागी कहते हैं-११। कर्म का अनिष्ट (दुःखकारक), इष्ट (सुखकारक) एवं मिश्र, ऐसा तीन प्रकार का फल (उसका) त्याग न करनेवाले को (इस जीवन में प्राप्त न हुआ तो) मरणोपरान्त प्राप्त होता है, किन्तु जिसने फल का संन्यास (त्याग) किया उसे वह कभी भी भोगना नहीं पड़ता-१२।" गीता 'त्याग' का (एवं १८-२ में उल्लिखित 'काम्य' कर्म छोड़कर अन्य कर्मों के 'संन्यास' का) संबंध प्रत्यक्ष कर्म से न जोड़ते कर्मफल से लगाती है।

फिर भी श्रीकृष्ण के उक्त 'निश्चित उत्तम' मतका ही विपर्यास किया गया है। श्लोक १८-३ की प्रथम पंक्ति में उल्लिखित सर्वकर्मत्याग का पक्ष वस्तुतः शंकराचार्य का है, जो श्रीकृष्ण ने अमान्य किया है। उस अमान्यता से छुटकारा पाने हेतु शंकराचार्य कहते हैं कि, वहाँ उल्लिखित "एके मनीषिणः" (कुछ विद्वान्) वे अतिवादी सांख्यमार्गी हैं, जो केवल कर्माचरण का अधिकार होनेवाले (अज्ञानी) व्यक्तियों पर भी सर्वकर्मसंन्यास थोपना चाहते हैं (और गीता द्वारा उनका पक्ष अमान्य किया होकर, ज्ञानियों के लिये सर्वकर्म संन्यास अमान्य नहीं किया है)। तथा श्लोक १८-११ की प्रथम पंक्ति सभी मानवों के लिये होने पर भी, शंकराचार्य वहाँ 'देहभृत्' का अर्थ देहात्मवादी (देह को ही आत्मा माननेवाले अज्ञानी) ऐसा कर, वह पंक्ति ज्ञानियों के लिये नहीं ऐसा कहते हैं- "देहात्माभिवान् देहभृत् उच्यते, न विवेकी।" यह स्पष्टीकरण न उचित है, न संदर्भानुकूल। 'देहभृत्' शब्द श्लोक १४-१४ में भी आया होकर, वहाँ उसका अर्थ 'देहात्मवादी अज्ञानी' ऐसा नहीं।

ज्ञानप्राप्तिपश्चात् सब कर्मों का प्रत्यक्ष संन्यास किया जावे ऐसा प्रतिपादन करनेवाले प्रायः गीता के इन श्लोकों का आधार लेते हैं–

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥४-३३
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७

इन श्लोकों में क्रमशः 'अर्जुन, सर्वकर्म ज्ञान में परिसमाप्त होता है' एवं 'ज्ञानाग्नि सब कर्म भस्म करता है', ऐसा शब्दशः अर्थ देखकर, गीता के अनुसार ज्ञानप्राप्ति बाद सब कर्मों का प्रत्यक्षतः त्याग होता है, इस आशय का आभास होता है। इसी तरह–

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४-४१

इस श्लोक में 'ज्ञानसंपन्न योगी सब कर्मों का प्रत्यक्ष संन्यास याने त्याग करता है' ऐसा आशय कुछ भाष्यकार देखते हैं। किन्तु श्लोक ९-९ में भी श्रीकृष्ण स्वयं को "कर्माणि न निबध्नन्ति" ऐसा ही कहते हैं; और फिर भी वे संसार के हित में कर्म करते रहते हैं यह कहते हैं। अर्थात् ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् भी प्रत्यक्ष सर्वकर्मत्याग उन्हें मान्य नहीं। यह श्लोक ४-४१ को लगकर आये श्लोक से भी स्पष्ट होता है–

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४-४२

"अर्जुन, अतः अपने हृदय का यह अज्ञानजन्य संदेह ज्ञानरूप खड्ग से नष्ट करके, चित्त 'योग' अवस्था में रख, और (इस न्याय्य युद्ध के लिये) खडा हो जा"[७] यहाँ शुरू का 'तस्मात्' शब्द दर्शाता है कि, अर्जुन को दिया यह "उत्तिष्ठ" आदेश इसके पूर्व दिये ज्ञान एवं योग के उपदेश के संदर्भ में है, उसके विरोध में नहीं। शंकराचार्य भी इस 'उत्तिष्ठ' का अर्थ 'उत्तिष्ठ चेदानीं युद्धाय' (इस युद्ध के लिये खड़ा हो जा) ऐसा देते हैं। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सर्वोच्च ज्ञानोपदेश के अतिरिक्त (ग्यारहवें अध्याय में) प्रत्यक्ष विश्वरूपदर्शन देनेबाद भी, उसे (कर्मत्याग नहीं अपितु) वह युद्ध लड़ने का आदेश दिया है।

सारांश, सब कर्मों का त्याग न करते, आवश्यक कार्य कर्म आसक्ति रहित वृत्ति से किये जावें, ऐसा गीता का संदेश है। इस प्रकार जीवन व्यतीत करनेवाले को श्रीकृष्ण वास्तविक संन्यासी एवं योगी कहते हैं (६-१)।

किन्तु सर्वकर्म संन्यासवादी और एक श्लोक का विशेष आधार लेना चाहते हैं–

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥३-१७

शंकराचार्य यहाँ "तस्य कार्यं न विद्यते" का आशय 'उसके लिये (ज्ञानी के लिये) कुछ भी कर्म नहीं रहता' (अर्थात् वह सर्वकर्मपरित्याग करता है) ऐसा लेते हैं। किन्तु इसपर तिलक का विवेचन उचित है। ऐसे आत्मतृप्त ज्ञानी व्यक्ति को 'स्वयं के लाभार्थ कुछ करना न हो (३-१८), तो भी वह समाजहित हेतु कर्म कर सकता है। मुण्डक उपनिषद् में "आत्मरतिः ब्रह्मविदां वरिष्ठः" को "क्रियावान्" ऐसा भी कहा है (३-१-४)। अतः गीता के इस श्लोक का अर्थ यह होता है, "किन्तु जो मानव आत्मचिंतन में ही आनंद अनुभव कर स्वयं में समाधानी एवं स्वयं में ही संतुष्ट रहता है, उसे स्वयं के लिये कुछ भी कर्म करना नहीं रहता ।"

इस श्लोक के आरंभ में आये "तु" ('किन्तु') का स्पष्टीकरण इस प्रकार दिया जा सकेगा। इसके पूर्व गीता में कहा है कि, मानव अन्नादि प्राप्त पदार्थ यज्ञ द्वारा देवों को अर्पण कर उनसे और इष्ट भोग प्राप्त करे; तथा जो देवों को इस प्रकार अर्पण न कर स्वयंही उपभोग लेता है वह पापी है (३-११, १२, १३)। ऐसे पापी व्यक्ति की तुलना में, देवों से भोग्य पदार्थ प्राप्त करते क्यों न हों, जो यज्ञ आदि करते हैं वे अच्छे होते हैं। किन्तु आखिर वे भी आदर्श योगी नहीं। उन्हें 'सात्त्विक' कहा (१७-४), तो भी वे त्रिगुणातीत ज्ञानी नहीं। अतः उनकी तुलना में श्लोक ३-१७ में 'तु' शब्द से निष्काम पूर्णज्ञानी व्यक्ति को लक्ष्य कर श्रीकृष्ण कहते हैं कि, ऐसे व्यक्ति को स्वयं के लिये कुछ चाह नहीं होती; फिरभी वह संसार के हित में आवश्यक कर्म का त्याग नहीं करता। तथा इस श्लोक के "तस्य कार्यं न विद्यते" शब्दों की श्रीकृष्ण ने श्लोक ३-२२ में स्वयं के लिये प्रयुक्त "न मे पार्थास्ति कर्तव्यं" इन शब्दों से तुलना करने पर यह आशय और भी स्पष्ट होता है।

फिर, ऊपर उद्धृत श्लोक ४-३३, ३७ एवं ४१ का सुसंगत अर्थ कैसा करना ? किन्तु वह देखने पूर्व और कुछ श्लोकों पर विचार इष्ट होगा।

गीता में आमरण कर्माचरण का भी आग्रह नहीं

किसी भी अवस्था में सब कर्मों का प्रत्यक्ष त्याग गीता में प्रतिपादित नहीं है; किन्तु अंतिम योगावस्था में आमरण (निष्काम) कर्माचरण चालू रखने का 'आग्रह' भी गीता नहीं करती। प्राप्त परिस्थिति में (संसार के हितार्थ) आवश्यक हो तो गीता का योगी कर्म करेगा, परंतु 'मैं कर्म करता ही रहूँगा' ऐसी उसकी आग्रही वृत्ति नहीं होगी। व्यक्ति साधक अवस्था में होता है तब उसने निष्कामता आत्मसात् होने हेतु निष्कामता से (कार्य) कर्माचरण करते रहना चाहिये। किन्तु अंतःकरण में साम्य दृष्टि उदित होने पर वृत्ति 'शम' स्वरूप होती है–

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥६-३

"योग की साधना करनेवाले मुनि के लिये (चित्तशुद्धिकारक) कर्माचरण कारण (आवश्यक लक्षण) कहा है; (किन्तु) उसने पूर्ण योगावस्था प्राप्त करने पर उसी के लिये

(कर्मप्रवृत्ति का) उपशम यह आवश्यक लक्षण कहा है।" यहाँ प्रथम पंक्ति में योगारूढ होने पूर्व को साधक अवस्था निर्दिष्ट है। द्वितीय पंक्ति में योगारूढ़ की 'शम' वृत्ति निर्दिष्ट होकर, उसमें परिस्थिति के अनुरूप संसार के हितार्थ आवश्यक कर्म किया जावेगा, किन्तु उसके लिये आग्रह या आसक्ति नहीं होगी। यह स्पष्ट करते श्रीकृष्ण कहते हैं–

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥६-४

"जब व्यक्ति इन्द्रियों के विषयों में तथा कर्मों में भी आसक्त नहीं रहता, एवं सब तृष्णास्वरूप इच्छाओं का संन्यास करता है तब उसे 'योगारूढ' कहते हैं।" यहाँ पूर्ण योगी "न इन्द्रियार्थेषु" तथा "न कर्मसु" (अनुषज्जते) ऐसा अलग-अलग कहा है। फलासक्ति के साथ कर्म के लिये आसक्ति भी त्यागने का आदेश श्लोक १८-९ एवं २३ में भी है। किन्तु उसका आशय सर्वकर्मपरित्याग ऐसा नहीं। स्वयंका ही उदाहरण देकर श्रीकृष्ण कहते हैं–

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९-९

"अर्जुन, मैं उन (सृष्टि निर्माण आदि) कर्मों के प्रति अनासक्त एवं (उनके फल के प्रति) उदासीन होने से वे कर्म मुझे बंधन कारक नहीं होते"।

तिलक गीता के स्थितप्रज्ञ दो प्रकार के मानते हैं, "कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ और संन्यासी स्थित प्रज्ञ . . . .दोनों पूर्ण ब्रह्मज्ञानी है, इस कारण दोनों की मानसिक स्थिति और शांति एक-सी होती है। परंतु इन दोनों में कर्म-दृष्टि से महत्त्व का भेद यह है, कि पहला निरी शांति में डूबा रहता है, और किसी की भी चिंता नहीं करता; तथा दूसरा अपनी शांति एवं आत्मौपम्य बुद्धि का व्यवहार में यथासंभव नित्य उपयोग किया करता है" (पू०उ०पृ० ३७६)। तिलक इन दोनों में संसार की दृष्टि से कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ को श्रेष्ठ मानते हैं। किन्तु, कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ और उससे भिन्न संपूर्ण कर्मत्यागी संन्यासी स्थितप्रज्ञ, ऐसी दो अलग कल्पनाओं का गीता में क्या आधार है ? गीता वास्तविक संन्यासी कार्य कर्मों का त्याग नहीं करता ऐसा कहती है (६-१); तथा सांख्य एवं योग का समन्वय करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं–

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥६-२

"अर्जुन, जिसे संन्यास कहते हैं उसे तू 'योग' (ऐसा भी) जान; क्यों कि, संकल्पों का (तृष्णाजन्य इच्छाओं का) संन्यास किये बिना कोईभी (वास्तविक) योगी नहीं होता।" "सर्वेषु कालेषु" (८-७, ८-२७) अध्यात्मज्ञान संपन्न, ईश्वरध्यानयुक्त, साम्यचित्त एवं प्रसंगानुसार संसारहितार्थ आवश्यक कार्य कर्मों का निष्काम निरहंकार निराग्रह

आचरण, यह स्थितप्रज्ञता का एकही आदर्श स्वरूप श्रीकृष्ण ने प्रतिपादन किया है।

यह सब विवेचन ध्यान में लेने पर श्लोक ४-३३, ३७ एवं ४१ में सर्वकर्मत्याग का प्रतिपादन न देखते, यह सुसंगत अर्थ उपलब्ध होता है। "अर्जुन (मात्र) द्रव्यमय (सकाम) यज्ञ की तुलना में ज्ञानयुक्त (अनासक्त, निरंहकार) यज्ञ श्रेष्ठ है; (सर्वोच्च) ज्ञान की अवस्था में सब कर्मों का आग्रह (आसक्ति) स्वरूप संपूर्ण समाप्त होता है-३३।" "अर्जुन, जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि लकड़ी को भस्म कर देता है, उस प्रकार (सर्वोच्च) ज्ञानरूप अग्नि समग्र कर्मों का आग्रह (आसक्ति) स्वरूप भस्म करता है-३७।" "अर्जुन, (साम्यबुद्धि स्वरूप) योग से कर्मों (में आसक्ति) का संन्यास करनेवाले, एवं (सर्वोच्च) ज्ञान द्वारा जिनका अज्ञान नष्ट हुवा है, ऐसे आत्मज्ञानी व्यक्ति को कर्म (आग्रह रूप) बन्धन में नहीं डालते-४१।" ऐसे व्यक्ति को स्वयं के लाभार्थ कुछ करना नहीं होता है; तथा परोपकार हेतुभी यद्यपि प्राप्त परिस्थिति में आवश्यक सब कर्म वह करता है, किन्तु मैं कर्म अखंड करता ही रहूँगा, ऐसा अहंकारी आग्रह उसमें नहीं होता है। श्रीकृष्ण कहते हैं–

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३-३०
ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१

"अध्यात्मयुक्त अंतःकरण से सब कर्मों का मुझमें संन्यास कर के, फलाशा एवं अहंकार त्यागकर सब क्षुब्धता (शोक मोह संदेह) छोड़कर, यह युद्धकर-३०। जो श्रद्धायुक्त शुद्धचित्र मानव मेरे इस उपदेश का नित्य पालन करते हैं वे (आवयक कर्म करते हुए भी) (सतत) कर्म (करते रहने के) बंधन से भी मुक्त होते हैं-३१।"

श्लोक ३-३० में अध्यात्मज्ञानयुक्त सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक तथा निष्काम निरहंकार वृत्ति से, वह युद्ध करनेका अर्जुन को आदेश दिया होकर, उस संदर्भ में यह श्लोक आया है; यह देखने इसमें "कर्मभिः अपि मुच्यन्ते" इसका आशय 'सर्वकर्मपरित्याग' न होकर, आवश्यक हो, तब कर्म करना, किन्तु अखंड कर्माचरण के आग्रह से मुक्त रहना, ऐसा है। कर्मबंधन से इस प्रकार मुक्त रहनेका उल्लेख श्लोक २-३९ एवं ४-१४ में भी है। कर्म करते हुए भी यह वास्तविक नैष्कर्म्य अवस्था है। इसीको श्लोक ६-३ में योगारूढ़ की 'शम' अवस्था कहा है।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२

"किन्तु जो मेरे इस उपदेश पर व्यर्थ आक्षेप लेकर उसका पालन नहीं करते, वे वास्तविक ज्ञान का संपूर्ण विपर्यास करनेवाले अविवेकी (श्रेयप्राप्ति की दृष्टि से) विनाश

को जाते हैं यह जान।"

कर्मयोग और कर्म संन्यास

अब इस सारे संदर्भ में श्लोक ५-२ पर विचार करें। अर्जुन ने कहा–

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥५-१

"कृष्ण, आप एक ओर कर्मों के संन्यास की तो दूसरी ओर योग की प्रशंसा करते हैं; इन दोनों में जो एक श्रेयस्कर हो वह मुझे स्पष्ट निश्चित बताइये।" श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया–

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥५-२

इस श्लोक में निर्दिष्ट 'संन्यास', एवं 'कर्मयोग' भी, स्वयं अंतिम 'निःश्रेयस' न होकर, 'निःश्रेयसकर' यानी निःश्रेयस की ओर ले जानेवाले साधन है, परम स्थितप्रज्ञता नहीं। किन्तु जब आगे जाकर श्रीकृष्ण–

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव। ६-२

ऐसा कहते हैं, तब वह अंतिम अवस्था दिग्दर्शित है। इसमें बताया 'योग' साधनस्वरूप कर्मयोग के परे, तथा 'संन्यास' भी साधन स्वरूप कर्मसंन्यास मार्ग के अतीत है। दोनों साधन मार्ग अंत में एक दूसरे में मिल जाते हैं (५-४, ५)।

किन्तु सर्वसामान्य साधक के लिए प्रारंभ में कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग अधिक अच्छा (सुलभ) है; यह श्लोक ५-२ की द्वितीय पंक्तिका आशय है। शुरूसेही कर्म संन्यास का प्रयास करनेपर वास्तविक संन्यास के बजाय 'मिथ्याचार' अधिक संभव है (३-६)।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥३-४

"कर्माचरण का आरंभ ही न करने से मानव को (परम) नैष्कर्म्य अवस्था प्राप्त होगी, ऐसा नहीं; तथा (कर्मों के) मात्र संन्यास से मानव (परम) सिद्धि प्राप्त नहीं करता।" नैष्कर्म्य सिद्धि का मार्ग कर्माचरण में से जाता है। गीता के अनुसार वास्तविक नैष्कर्म्य अवस्था याने संपूर्ण कर्मत्याग न होकर कर्मप्रवृत्ति के आग्रह का त्याग है।

उक्त दो पंथ स्वयं निःश्रेयस न होकर 'निःश्रेयसकर' हैं, इतनाही नहीं, अपितु वे भी हर एक अलग अलग पूर्णतः वैसे न होकर, 'उभौ' याने दोनों मिलकर, परस्पर सहयोग से 'निःश्रेयसकर' हैं। यहाँ 'उभौ' का आशय 'दोनोंमें से कोई भी एक' ऐसा वैकल्पिक न होकर, 'दोनों एकत्र' ऐसा समुच्चयात्मक है। सामान्य साधक की दृष्टि से कर्मसंन्यास

की अपेक्षा कर्मयोग में सुलभता है, फिरभी इनमें से कोई भी एक दूसरे के विना अंततोगत्वा पर्याप्त नहीं। कर्मयोग से आरंभ करनेवाले को बाद में कर्मप्रवृत्ति का 'आग्रह' छोड़कर, आवश्यक कार्यकर्म करते हुए भी 'सर्वसंकल्प संन्यासी' (६-४) होना चाहिये। तथा कर्मसंन्यास से आरंभ करनेवाले ने भी संपूर्ण कर्मत्याग का आग्रह छोड़कर, सब कर्मों को "मनसा संयम्य" (५-१३), साम्यवृत्तिपूर्वक संसार के हितार्थ आवश्यक कर्म करना चाहिये।

इस प्रकार श्लोक ५-२ का यह अर्थ उपलब्ध होता है। "कर्मसंन्यास एवं कर्मयोग दोनों (मिलकर) मोक्षसाधक हैं; किन्तु (सामान्य मानव के लिये) उन दोनों में कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग में विशेष इष्टता (सुलभता) है।" संन्यास एवं योग का एकत्र उल्लेख कर श्रीकृष्ण कहते हैं–

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥५-६

"अर्जुन, (वास्तविक) संन्यास (साम्यवृत्ति रूप) योग के विना साध्य होनेवाला नहीं; योगवृत्तिसंपन्न मुनि (संन्यास मार्गी) अविलंब परब्रह्म को प्राप्त होता है।"

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥९-२७
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८

"अर्जुन, (यज्ञ में) तू जो आहुति देगा, जो दान देगा, जो तप करेगा, जो अन्न खायेगा, तथा जो (अन्य नियत) कर्म करेगा, वह (सब) मुझे अर्पण कर-२७। इस प्रकार तू (कार्य कर्माचरण करने पर भी) (स्वर्गप्राप्ति, अच्छा पुनर्जन्म, आदि) शुभ फलों से, एवं (ऐसे कर्माचरण में भी जो कुछ अनिवार्य दोष घटित होंगे उनके) अशुभ फलों से, तथा कर्मप्रवृत्ति के (आग्रही) बंधन से भी मुक्त रहेगा; और (वास्तविक) संन्यास एवं योग प्राप्त कर (संसार चक्र से) पूर्ण मुक्त होता हुवा मुझे (परमेश्वर को) आकर मिलेगा-२८।"

सर्वोच्च योगावस्था

इस प्रकार गीतोक्त योग प्रत्यक्ष सर्वकर्मत्याग स्वरूप नहीं, तथा आमरण आग्रहपूर्ण कर्माचरण स्वरूप भी नहीं। योगी पुरुष का गीताकार यह मार्मिक वर्णन देते हैं :

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥३-१८

"उसका (आत्मतृप्त योगी सिद्ध का) इस संसार में कर्म करने में, और न करने में भी, स्वयं का कोई लाभ नहीं होता; तथा किसी भी प्राणी से उसे कुछ भी लाभ की

अपेक्षा नहीं होती।" यहाँ द्वितीय चरण का आशय 'कर्म न करने में, याने कर्म त्यागने में, भी उसका स्वयं का कोई लाभ नहीं होता है' ऐसा होते हुए, (अपने सर्वकर्म त्याग के सिद्धान्त की पुष्टि हेतु) शंकराचार्य 'कर्म न करने में उसे कोई हानि भी नहीं होती' ऐसा उलटा अर्थ देते हैं। वस्तुतः गीतोक्त योगी अन्य द्वन्द्वों के समान 'कर्म करना एवं न करना' इस द्वन्द्व के बारे में भी उदासीन रहता है। यह 'योगस्थ' होकर कर्म करने की अवस्था है। श्रीकृष्ण कहते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥२-४८
दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१

"अर्जुन, योगवृत्ति में चित्त स्थिर कर, आसक्ति त्यागकर, यशापयश के प्रति समान (निर्विकार) दृष्टि रखकर, (कार्य) कर्म करते जा; चित्त की साम्यावस्था को 'योग' कहते हैं-४८। अर्जुन, (कार्यकर्म का निष्काम आचरण जिसमें होता है ऐसे) (साम्यबुद्धिरूप) बुद्धियोग से (सकाम) कर्म बहुत निकृष्ट है; तू समत्व बुद्धि धारण कर; फल (वैयक्तिक सुखरूप परिणाम) के हेतु कर्म करनेवाले हीन वृत्ति के, वास्तविक श्रेय न जाननेवाले होते हैं-४९। (साम्यवृत्तिरूप) बुद्धियोग साध्य करनेवाला इहलोक में पापदायक दुष्कर्म तथा (सकाम) सत्कर्मों के पुण्यफल इन दोनों का त्याग करता है, अतः (अर्जुन) तू (इस) योग की साधना कर; (कार्य) कर्म करते हुए (ऐसी) योगवृत्ति रखने में (वास्तविक) कल्याण (हित) है-५० मन को संयमित रखनेवाले तथा (समत्वरूप) बुद्धियोग से संपन्न व्यक्ति कर्म के फल का त्याग कर जन्म (एवं मरण) रूप बंधन से पूर्ण मुक्त होकर (परम) विशुद्ध स्थान (गति, अवस्था) प्राप्त करते हैं—५१।"

तिलक श्लोक ५० के चतुर्थ चरण का अन्वय 'कर्मसु कौशलम् योगः' ऐसा कर, 'कर्म करने में समत्वभाव रखना याने योग' यह आशय लेते हैं, इसमें कर्माचरण गीतोक्त 'योग' का अनिवार्य स्वरूप होता है। इसके विपरीत आचार्य शंकर (एवं रामानुज) 'कर्मसु योगः कौशलम्' ऐसा अन्वय करते हैं, जो श्लोक २-४८ के "योगस्थः कुरु कर्माणि" इस वचन से सुसंगत है। इस स्पष्टीकरण के अनुसार प्राप्त परिस्थिति में आवश्यक कर्म योगावस्था में संभव होने पर भी, वह 'योग' का शाश्वत अनिवार्य अंग न होकर, "समत्वं योग उच्यते" (२-४८) यह मूल व्याख्या कायम रहती है।

गीता किसी कर्म के प्रति मन में हो रही इच्छा का दमन कर होनेवाली 'बाह्य

अकर्मावस्था', और कार्य कर्म अनासक्तिपूर्वक करने में होनेवाली 'मानसिक अकर्मावस्था' इनमें सूक्ष्म भेद करती है।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥४-१६
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७

"कर्म (वास्तविक) क्या है, तथा अकर्म क्या है, इस विषय में विद्वान् भी भ्रम में पड़ते हैं। मैं तुझे वह कर्म (का वास्तविक स्वरूप) बताता हूँ, जिसे जानकर तू अशुभ (अकल्याण) से मुक्त रहेगा-१६। कर्म का, एवं विकर्म (विपरीत अकार्य कर्म) का, तथा अकर्म (आंतरिक अकर्मावस्था) का भी मूल स्वरूप जानना आवश्यक है; कर्म की गति (वास्तविक स्वरूप) गहन (बहुत सूक्ष्म) है-१७।"

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥४-१८

"कर्माचरण में (मन में उसके प्रति संपूर्ण अनासक्ति हो तब) (आंतरिक) अकर्मावस्था, तथा बाह्य अकर्म अवस्था में (मन में आसक्ति होने पर) (आंतरिक) कर्माचरण की अवस्था जो देखता है, वह (वास्तविक) बुद्धिमान् मानव है, वह सब (कार्य) कर्म करता हुवा भी (समत्वरूप) योग में स्थिर होता है।" बाह्यतः कर्म त्यागने पर भी मन में उसके प्रति आसक्ति हो तो वह तत्त्वतः कर्माचरण की अवस्था माननी होगी।[१०]

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥४-१९

"जिसके सब कर्म कामप्रेरणा से रहित हैं, जिसके कर्माचरण का आसक्ति स्वरूप (सर्वोच्च) ज्ञानरूप अग्नि में जल गया है, उसे विद्वान् (वास्तविक) पंडित कहते हैं।"

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥४-२०

"सदा (स्वयं में) संतुष्ट रहनेवाला, अपने लिये अन्य किसी पर निर्भर न होनेवाला व्यक्ति कर्म एवं फल के प्रति आसक्ति त्याग कर कर्म करता रहा, तो भी (तत्त्वतः) वह कुछ भी नहीं करता।"[११] कुछ लेखक यहाँ 'कर्मफल' एक शब्द मानकर 'कर्मफलासङ्ग' याने कर्म के फल में आसक्ति ऐसा अर्थ करते हैं। शंकराचार्य यहाँ 'कर्म' और 'फल' अलग शब्द मानते हैं; इससे फलविषयक अनासक्ति के अलावा कर्मविषयक निरहंकारिता भी निर्दिष्ट होती है।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२

"किसी भी वैयक्तिक लाभ की अपेक्षा न करनेवाला, चित्त पर नियंत्रण रखनेवाला, एवं सारा ऐहिक संग्रह त्यागनेवाला, (मन में कर्माचरण के प्रति आग्रहरहित होने से) जो (कार्य) कर्म केवल शरीर द्वारा किया कहा जा सकता है वह करने से, कोई भी दोष (पाप) प्राप्त नहीं करता-२१। (स्वयं के प्रयासों के बाद) ईश्वर की इच्छा से जो प्राप्त हो उसमें संतोषी, (रागद्वेषादि) द्वंद्वों के परे, मत्सरादि से रहित, तथा न यश से हर्षित न अपयश से उद्विग्न, (ऐसा व्यक्ति) (कार्य) कर्म करता हुवा भी (पुनर्जन्मादि) बंधन में नहीं पड़ता -२२"।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥६-१

"कर्म में एवं उसके फल में आसक्ति न रखते हुए जो कार्य कर्म करता है, वह (वास्तविक) संन्यासी एवं योगी भी है; जो (मात्र) अग्नि (सहित किये जाने वाले यज्ञादि कर्म) त्यागता है वह (वास्तविक संन्यासी) नहीं, तथा जो (मात्र) (श्वासोच्छ्वास, हृदय स्पंदन आदि) सर्वात्मैक्यभाव शारीरिक क्रियाएँ रोकता है वह भी (वास्तविक योगी) नहीं"[१२]

सर्वात्मैक्यभाव

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥४-३५
विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥५-१८

"अर्जुन, वह (सर्वोच्च) ज्ञान प्राप्त होने बाद तुझे फिर ऐसा मोह नहीं होगा, तथा उस ज्ञान के प्रभाव से तू सब प्राणियों का स्वयं में एवं मुझमें (परमेश्वर में) भी अनुभव करेगा,[१३] ४-३५। (वास्तविक) ज्ञानी (सब प्राणियों में ईश्वर अनुभव कर) (उस दृष्टिकोण से) विद्यासंस्कारसंपन्न ब्राह्मण, चांडाल, गाय, हाथी, और कुत्ता इनको समान दृष्टि से देखते हैं ५-१८।"

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥६-९
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि
इक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३१
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३२

"सखा, मित्र, शत्रुत्व करनेवाला, तटस्थ, मध्यस्थ, (दुष्कर्मों के कारण) द्वेष के पात्र, बान्धव, सज्जन एवं पापी के भी प्रति इन सबके प्रति समान (हितचिंतक) भावना रखनेवाला श्रेष्ठ (योगी) होता है-९। सर्वत्र समदृष्टि रखनेवाला योगसंपन्न व्यक्ति सब प्राणियों में स्वयं को तथा स्वयं में सब प्राणियों को अनुभव करता है-''२९। जो मुझे सबमें देखता है एवं मुझ में सबको देखता है, उसे मैं अंतर नहीं देता तथा वह भी मुझसे दूर नहीं होता है-३०। अर्जुन, सुख में या दुःख में जो सर्वत्र (सभी के ओर) समान (हितचिंतक) दृष्टि रखता है वह सर्वश्रेष्ठ योगी है-३१। सब प्राणियों में स्थित मेरी (उसी) एकत्वभावना से जो भक्ति करता है, वह योगी सब प्रकार का (कार्य) कर्माचरण करता हुवा भी मुझमें निवास करता है-३२।"

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥१३-२७
समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०

"सब विनाशशील प्राणियों में समान रूप से स्थित अविनाशी परमेश्वर को जो अनुभव करता है वह सही जानता है-२७। समान रूप से (सर्वत्र) स्थित ईश्वर को जो (उसी) समदृष्टि से सर्वत्र अनुभव करता है, वह स्वयं का अधःपात न करते[१४] परम गति प्राप्त करता है-२८। जब प्राणियों में प्रतीत होने-वाले भिन्न अस्तित्व (मुलतः) 'एक' (परब्रह्म) के रूप हैं तथा उस ('एक') से ही सब विस्तार हुवा है, ऐसा साधक अनुभव करता है, तब वह ब्रह्मावस्था प्राप्त करता है-३०"

परम ईश्वर भक्ति

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥४-१०

"आसक्ति, भय एवं क्रोध त्यागकर, चित्त मुझमें लगाकर, मेरी भक्ति करनेवाले अनेक शुद्धचित्त सिद्ध ज्ञानरूप तप द्वारा मेरे स्वरूप को प्राप्त हुवे हैं।" गीता का सर्वश्रेष्ठ योगी ईश्वर का एकनिष्ठ भक्त होता है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥६-४६
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७

"(साम्यबुद्धियुक्त) योगी (केवल) तप करनेवाले से श्रेष्ठ है, (केवल) ज्ञानोपासना करनेवाले से भी श्रेष्ठ है, तथा (केवल) कर्माचरण करनेवाले से भी श्रेष्ठ है; अतः अर्जुन, योगी हो-४६ सब योगियों में भी जो श्रद्धा से मुझ में चित्त लगाकर मेरी भक्ति करता है, उसे मैं सर्वश्रेष्ठ योगी मानता हूँ-४७।"

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥७-१५

"जिनका ज्ञान माया से ढक गया है, ऐसे आसुरी स्वभाव के दुराचारी नराधम मूर्ख मेरी (परमेश्वर की) भक्ति नहीं करते, ७-१५"। इसके विपरीत चार प्रकार के सज्जन ईश्वर-भक्ति करते हैं–

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥७-१६
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९

"भरतकुलश्रेष्ठ (अर्जुन), चार प्रकार के सदाचारी[१६] व्यक्ति मेरी भक्ति करते हैं– (ऐहिक दुःख से) पीड़ित, सुखभोग चाहनेवाला, (ज्ञान का) जिज्ञासु (साधक), तथा ज्ञानी-१६। उनमें नित्य योगस्थ रहकर अनन्य भक्ति करनेवाला ज्ञानी सर्वश्रेष्ठ है; ऐसे ज्ञानी को मैं अतिप्रिय होता हूँ, तथा मुझेभी वह (वैसा ही) प्रिय होता है-१७। ये सब सत्प्रवृत्त होते हैं, किन्तु ज्ञानी तो मुझे स्वयं मैं ही प्रतीत होता है; क्यों कि वह योगयुक्त होकर मेरी सर्वोत्तम साधना में स्थित रहता है-१८। अनेक जन्मों (की साधना के) बाद ज्ञानी संपूर्ण (विश्व) वासुदेव मय (परमेश्वरद्वारा व्याप्त) है ऐसा अनुभव कर मुझे पहुँचता है, ऐसा महात्मा अति विरला होता है-१९।"

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥७-२७

येषांत्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८

"अर्जुन, इच्छाद्वेष से उत्पन्न (सुखदुःखादि) द्वन्द्वों के मोह से ग्रस्त होकर इस संसार में सब (सामान्य) प्राणी भ्रमित होते रहते हैं २७। किन्तु, पुण्यकर्म करनेवाले जिन व्यक्तियोंका पाप नष्ट हो गया है, वे (उन) द्वन्द्वों के मोह से पूर्णतया मुक्त होकर दृढ़वृत्ति से मेरी भक्ति करते हैं–२८।"

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥९-२२
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६

"अनन्यभाव से मेरा ध्यान करनेवाले जो व्यक्ति मेरी उपासना करते हैं, उन नित्य योगस्थिति में चित्त रखनेवालों के जीवननिर्वाह एवं क्षेमकुशल की व्यवस्था मैं करता हूँ, २२।" "जो मुझे भक्तिभावना से फल, फूल, पत्ती, या केवल जल अर्पण करता है, वह उस शुद्धचित्त व्यक्ति द्वारा भक्ति पूर्वक दिया मैं (प्रसन्नता से) ग्रहण करता हूँ-२६"

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥९-२९
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु
मामेवैष्यसि युक्त्वैमात्मानं मत्परायणः ॥३४

"सब प्राणियों के प्रति मेरी समान (हित चिंतक) दृष्टि होती है; मुझे कोई भी व्यक्तिशः द्वेषपात्र अथवा प्रिय नहीं; किन्तु जो मेरी भक्तिपूर्वक उपासना करते हैं वे मुझमें तथा मैं उनमें (विशेष निकट तरीके से) होता हूँ-२९ (यदि) अति दुराचारी भी (अपना दुराचरण छोड़कर) मेरी अनन्य भक्ति करे, तो उसे साधु माना जावे; क्योंकि उसकी बुद्धि (गलत दिशा त्यागकर) उचित दिशा में स्थित होती है-३० वह शीघ्रही धर्मात्मा होकर चित्त में पूर्ण शांति प्राप्त करता है; अर्जुन यह निश्चित समझ ले कि मेरा भक्त कभी भी नष्ट नहीं होता है-३१। अपना मन मुझमें लगा, मेरा भक्त हो, मेरा यजन-पूजन कर, मुझे नमस्कार कर, इस प्रकार चित्त नियंत्रित कर एवं स्वयं को मेरे प्रति समर्पण कर तू मुझे ही आकर पहुँचेगा-३४।"

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥११-५५

"अर्जुन, जो अपने कर्म मुझमें अर्पण करता है, मुझमें पूर्ण श्रद्धा रखता है, मेरी भक्ति करता है, आसक्ति त्यागता है, किसीभी प्राणी से वैर नहीं करता है, वह मुझे आकर पहुँचता है।"

श्रीकृष्ण अपने भक्तों का यह और वर्णन करते हैं–

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१२-१३
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येनकेनचित्
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०

"किसी भी प्राणी का द्वेष न करनेवाला, सब के प्रति मित्रभाव रखनेवाला, दयालु, स्वार्थहीन, निरहंकारी, (स्वयं के) सुखदुःख के प्रति समान उदासीन, एवं क्षमाशील-१३। सर्वकाल संतोषी, चित्त योगावस्था में रखनेवाला, आत्मसंयमी, दृढनिश्चयी, मुझ में मन एवं बुद्धि समर्पित करनेवाल, ऐसा जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय होता है-१४। जिसके कारण लोगों को उद्वेग नहीं होता,[१७] एवं लोगों से जिसको उद्वेग नहीं होता, तथा जो हर्ष, क्रोध, भय, (सब प्रकार का) उद्वेग आदि से रहित है, वह मुझे प्रिय होता है-१५। (स्वयं हेतु किसीभी बात की) अपेक्षा न करनेवाला, शुद्ध रहनेवाला, (आत्मोन्नति के प्रयास में) दक्ष, (स्वयं के सुखदुःख के प्रति) उदासीन, जिसकी सारी आंतरिक अस्वस्थता शांत हो गई है, किसी भी कर्म के विषय में आग्रह न धरनेवाला, ऐसा जो भक्त है, वह मुझे प्रिय होता है-१६। जो (सुख से) हर्षित नहीं होता, तथा (प्राप्त दुःख का) तिरस्कार नहीं करता, जो (ऐसे दुःख पर) शोक नहीं करता तथा (सुख की) कामना नहीं करता, जो अशुभफल

देनेवाले दुष्कर्मों का एवं सत्कर्मों से प्राप्त होनेवाले (स्वर्गादि) शुभ पुण्यफलों का संपूर्ण त्याग करता है[१९], एवं (मेरी) भक्ति करता है वह मुझे प्रिय होता है-१७। शत्रु तथा मित्र के प्रति,[२०] एवं मान-अपमान के विषय में, समदृष्टि रखनेवाल, शीत-ऊष्ण तथा सुख-दुःख समान अविचलित वृत्ति से अनुभव करनेवाला, आसक्ति रहित,-१८ स्वयं की निन्दास्तुति समान (निर्विकार मन से) ग्रहण करनेवाला, (आवश्यक उतनाही बोलते हुवे शेष समय) मौन रहनेवाला, (स्वयं के प्रयास के बाद ईश्वर की इच्छा से) जो कुछ प्राप्त हो उसमें संतोषी, (किसी खास) निवास में आसक्त न होनेवाला, स्थिर बुद्धि का, मेरी भक्ति करनेवाला व्यक्ति मुझे प्रिय होता है-१९। जो (मेरे) बताये इस श्रेयस्कर अमृत (मोक्ष) दायक मार्ग का पालन करते हैं, वे श्रद्धावान् एवं मुझमें पूर्ण निष्ठा वाले भक्त मुझे अतिशय प्रिय होते हैं-२०।"

आत्मनियंत्रण सहित स्थितप्रज्ञता

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जब बुद्धि साम्यावस्था में स्थिर करनेका उपदेश दिया (२-५३), तब अर्जुन ने प्रश्न किया–

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥२-५४

"केशव, समत्वभाव में बुद्धि स्थिर किये स्थितप्रज्ञ के क्या लक्षण होते हैं ? ऐसा स्थिरबुद्धि व्यक्ति क्या बोलता है ? कैसा रहता है ? कैसा चलता (आचरण) करता है ?"

श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया–

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥२-५५
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७

"अर्जुन, जब व्यक्ति अपने मन की सारी सकाम इच्छाएँ पूर्णतया त्याग देता है, तथा स्वयं में ही स्वयं से संतुष्ट रहता है तब उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं-[२१]५५। दुःख से जिसका मन उदास नहीं होता तथा जिसे सुख में चाह नहीं, जो आसक्ति, भय एवं क्रोध से रहित है, उसे स्थिरबुद्धि (स्थितप्रज्ञ) मुनि कहते हैं-५६। जिसे कहीं भी विशेष ममत्व नहीं तथा प्राप्त शुभ (अनुकूल) घटना से जो हर्ष नहीं करता एवं अशुभ (प्रतिकूल) घटना से घृणा नहीं करता, उसकी बुद्धि स्थिर होती है-५७।"

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥२-५८

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९
यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०

"जिस प्रकार कछुआ अपने अंग (शरीरक्षणार्थ आवश्यक न हो तब) अपने भीतर समेट लेता है, उस प्रकार जब यह (व्यक्ति) अपनी इन्द्रियाँ (कार्य कर्म हेतु आवश्यक न हो तब) उनके विषयों से पूर्णतया हटा लेता है, उसकी बुद्धि स्थिर होती है-५८। आहार (ऐन्द्रियिक भोग) त्यागनेवाले से विषय दूर रहे तो भी, (मात्र उससे) (उनके प्रति) आसक्ति नष्ट नहीं होती; (वह) आसक्ति भी परम तत्त्व के दर्शन (अनुभूति) से नष्ट होती है-५९। अर्जुन, इन्द्रियाँ अति बलवान् होकर, उन्हें नियंत्रित करनेका प्रयास करनेवाले विवेकशील व्यक्ति का भी मन जबरन खींच लेती है-६०।"

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥२-६१
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥२-६४
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८

"उन सब (इंद्रियों) को संयमित कर योग साधक अपना चित्त मुझमें लीन करे; इन्द्रियाँ जिसके अधीन होती है उसकी बुद्धि स्थिर होती है-६१" .... "किन्तु (अनुकूल अनुभव में) आसक्ति एवं (प्रतिकूल अनुभव का) द्वेष, इनसे पूर्णतया रहित, तथा अपने अधीन रखे इन्द्रियों द्वारा विषयों में विचरण करनेवाला आत्मसंयमी व्यक्ति चित्त में परम प्रसन्नता प्राप्त करता है-६४। (इस प्रकार) चित्त प्रसन्नतापूर्ण होनेपर उसके सब दुःख नष्ट हो जाते हैं, तथा (उस) प्रसन्नचित्त व्यक्ति की बुद्धि शीघ्र (साम्यावस्था) में स्थिर होती है-६५। योगयुक्त न होनेवाले की बुद्धि ऐसी स्थिर नहीं होती; तथा योगयुक्त न होनेवाले को (दृढ़) निष्ठा नहीं होती है; (ऐसे) निष्ठा हीन व्यक्ति को (मानसिक) शांति नहीं होती; और जिसे शान्ति नहीं उसे सुख (समाधान) कैसे होगा ? ६६। जो मन विषयों में विचरण

करनेवाले इन्द्रियों के पीछे जाता है, वह उस व्यक्ति की बुद्धि वैसी ही भ्रमित करता है, जैसा जलाशय में वायु नाव को (इधर उधर) भटकाता है-६७। अतः अर्जुन, जिसकी इन्द्रियाँ विषयों के प्रति सब ओर से नियंत्रित है उसकी प्रज्ञा (बुद्धि) पूर्ण स्थिर होती है-६८।"

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥२-६९

"(आत्मानुभूति की) जिस अवस्था के प्रति सब (सामान्य) मानव रात में निद्रावश होने के समान प्रेरणाशून्य रहते हैं, उसके प्रति आत्मसंयमी (स्थितप्रज्ञ) जागरूक (प्रेरित) रहता है; तथा (ऐन्द्रियिक सुख की) जिस अवस्था के प्रति (सामान्य) मानव जागरूक (प्रयत्नशील) रहता है उसे लिए आत्मज्ञानी मुनि रात में निद्रावश होने समान प्रयत्नशून्य होता है।"

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥२-७०
विहाय कामान्यः सर्वान्पुमाँश्चरति निःस्पृहः
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२

"जिस प्रकार सब ओरसे परिपूर्ण एवं अपनी मार्यादा न छोड़नेवाले समुद्र में (नदियों का) जल (उसे किंचित् भी विचलित न करते) प्रवेश करते रहता है, उसी प्रकार जिसके मन में सब कामविकार प्रवेश करते हें, वह (वास्तविक) शान्ति प्राप्त करता है; न कि कामवासना के पीछे भागनेवाला-७०। संपूर्ण कामप्रेरित इच्छा त्याग कर जो व्यक्ति निःस्पृह निरासक्त एवं निरहंकार वृत्ति से संसार में विचरण करता है वह (हृदय में पूर्ण) शांति प्राप्त करता है-७१। अर्जुन, यह 'ब्राह्मी' (ब्रह्मत्वस्वरूप) स्थिति होकर, उसे प्राप्त करने वाले को कभी मोह नहीं होता है; मरण समय भी[२२] इस स्थिति में रहने पर वह परब्रह्म को प्राप्त होता है-७२।"

गीता इस स्थितिका यह और वर्णन देती है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥५-१९
न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३

"जिनका मन साम्यावस्था में स्थिर हुवा उन्होंने इस जीवन में ही अनित्य संसार जीत लिया; क्योंकि ब्रह्म पूर्ण समत्वस्वरूप होनेसे वे ब्रह्म को पहुँचे हुए होते हैं-१९। प्रिय (सुखकारक) अनुभव प्राप्त होनेपर हर्ष से फूलना नहीं चाहिये, तथा अप्रिय अनुभव प्राप्त होने पर उद्विग्न न होना चाहिये; (ऐसा) स्थिरबुद्धि युक्त (स्थितप्रज्ञ) ज्ञानी ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म में प्रविष्ट होता है-२०। बाह्य विषयों में अनासक्त व्यक्ति स्वयं में ही होनेवाला (विशुद्ध) सुख प्राप्त करता है; ब्रह्मत्त्व से ऐक्य पानेवाला वह व्यक्ति (वह) अक्षय सुख अनुभवता है। -२१। अर्जुन, इन्द्रियों का विषयों से संपर्क होनेपर जो सुखानुभव होते हैं उन्हेंआरंभ एवं अंत होना है[२३] (वे अल्पकालिक होते हैं), तथा (अंततोगत्वा) वे दुःख उत्पन्न करते हैं; ज्ञानी उनमें रुचि नहीं लेता-२२। शरीर त्यागने पूर्व जो ऐहिक जीवन में ही कामक्रोध का आवेग सहन कर सकता है, वह मानव योगयुक्त एवं (वास्तविक) सुखी होता है-२३"।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥५-२७
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९

"इन्द्रियों को विषयों से बाहर से होनेवाले संपर्क बाहरही रखकर (उनसे अंतःकरण अलिप्त रखकर), दृष्टि भ्रुकुटियों के बीच स्थिर कर, तथा दोनों नासिकाओं में विचरण करनेवाले प्राणवायु (उच्छ्वास) एवं अपानवायु (श्वास) समान गति में रखकर-२७, जो मोक्षपरायण मुनि इन्द्रियाँ, मन, तथा बुद्धि पर नियंत्रण रखता है, और (सकाम) इच्छा, भय तथा क्रोध से सदा रहित होता है वह मुक्त होता है-२८ । सब यज्ञों एवं तपों में अर्पण स्वीकारने वाला, संपूर्ण लोगों का सर्वश्रेष्ठ स्वामी तथा सब जीवों का हितचिंतक, ऐसे मुझे पहिचान कर वह (मुक्त व्यक्ति) (परम) शांति प्राप्त करता है-२९"।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥६-७

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८

"जो स्वयं पर नियंत्रण रखता है एवं पूर्ण शान्तचित्त है, उसका शुद्धात्मा शीतोष्ण, सुखदुःख तथा मानापमान के अनुभवों में समान स्थिर (निर्विकार) रहता है, -७। जिसे (आत्मतत्त्व का) ज्ञान एवं (त्रिगुणात्मक प्रकृति के स्वरूप का) विज्ञान पूर्ण प्राप्त हुवा है, जिसे विशुद्ध आत्मस्वरूप की अनुभूति हुई है, इन्द्रियों को जिसने अपने वश में रखा है, मिट्टी, पत्थर एवं सुवर्ण को जो समान मानता है, ऐसा योगी योगारूढ़ कहा जाता है-८।"

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥६-१५

"मन पर नियंत्रण रखकर स्वयं को इस प्रकार सतत योगसाधना में लगानेवाला योगी मेरे स्वरूप को पहुँचनेसे मिलनेवाली सर्वोच्च परम शान्ति प्राप्त करता है।"

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥६-१८
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०
सुखमात्यन्तिकं यत् तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२

"जब (साधक का) नियंत्रित चित्त आत्मचिंतन में ही स्थिर होता है, तथा वह सब कामेच्छाओं से अनासक्त हो जाता है, तब उसे योगारूढ़ कहते हैं-१८। वायु रहित स्थान पर रखी दीपज्योति जिस प्रकार निश्चल रहती है, वह उपमा आत्मध्यानरूप योग में स्थिर योगी के संयत चित्त को दी गई है[२४]-१९। जब (पातंजल) योगाभ्यास से नियंत्रित चित्त[२५] (बाह्य विषयों से) निवृत्त होता है, तथा जब शुद्ध हुवे चित्तद्वारा साधक स्वयं में ही मूल आत्मस्वरूप अनुभव कर आनंद मग्न होता है-२०, (तब) इन्द्रियों से अतीत, एवं (विशुद्ध) बुद्धि[२६] द्वारा ग्रहण किया जा सकने वाला, सर्वोच्च आनंद वह (योगी) अनुभव करता है; उस स्थिति में पहुँचनेपर वह परम आत्मतत्त्व स्वरूप से विचलित नहीं होता-२१। वह स्थिति प्राप्त होने पर अन्य कोई भी लाभ उसे अधिक प्रतीत नहीं होता, तथा वहाँ (चित्त) स्थिर होनेपर योगी महान् दुःख से भी विचलित नहीं होता है-२२।"

निस्त्रैगुण्यता

गीतोक्त योग की अवस्था को श्रीकृष्ण 'निस्त्रैगुण्य' स्थिति (प्रकृति के सत्त्व-रजतम गुणों के अतीत जानेवाली अवस्था) कहते हैं (२-४५)। इस स्थिति का विवेचन चौदहवें अध्याय में आया होकर, उसके आरंभ में कहा है कि, यह ज्ञान अंतिम मुक्ति एवं जन्म-मरण चक्र से पूर्ण छुटकारा देनेवाला है।

> सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः
> निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥१४-५
> तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्
> सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥६

"अर्जुन, प्रकृतिजन्य सत्त्व, रज एवं तम ये गुण देहधारी अविनाशी आत्मा को देह में बंधन में डालते हैं-५। (निष्पाप) अर्जुन, उनमें अपने निर्मल स्वभाव के कारण प्रकाशरूप निर्दोष होनेवाला सत्त्वगुण सुख एवं ज्ञान में आसक्ति उत्पन्न कर बद्ध करता है-६।"

> यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्
> तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४-१४
> रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते
> तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५
> कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्
> रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६
> ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः
> जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८

"जब देहधारी (मानव) सत्त्वगुण प्रभावी होने की अवस्था में मरता है, तब वह श्रेष्ठ ज्ञानमार्गियों को प्राप्त होनेवाले पुण्यलोकों को जाता है-१४। रजोगुण में मरण होनेपर कर्मासक्तिप्रधान (मानव की) योनी में जन्म होता है, तथा तमोगुण में मृत्यु होनेपर बुद्धिहीन (पशु आदि अथवा विक्षिप्त मानस मानवों की) योनियों में जन्म होता है-१५। सत्कर्म का फल निर्मल (दुःखहीन) सात्त्विक (सुखकारक)[२७] होता है; किन्तु, राजस कर्म का फल (अंततोगत्वा) दुःख एवं तामस कर्म का फल अज्ञान है-१६। सत्त्वगुणी व्यक्ति (मरणोत्तर) ऊपरकी (स्वर्गादि) गति को जाते हैं, रजोगुणी 'मध्य' गति में रहते हैं, तथा हीन वृत्ति के तामसी व्यक्ति 'निम्न' अवस्था को जाते हैं-१८[२८]।"

किन्तु, यद्यपि सत्त्वगुणसंपन्न व्यक्ति वरिष्ठ गति प्राप्त करते हैं, वह अंतिम मोक्षावस्था न होकर, अंततोगत्वा उनकी वहाँ से 'पुनरावृत्ति' अनिवार्य है (८-१६)। इसके विपरीत सर्वोच्च 'त्रिगुणातीत' अवस्था जन्ममरण चक्र से पूर्ण मुक्ति देती है।

> नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति
> गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१४-१९
> गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्
> जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०

"साधक द्रष्टा जब प्रकृति के (सत्त्व रज तम) गुणों के अतिरिक्त अन्य कर्ता नहीं (शुद्ध आत्मा मूलतः अकर्तास्वरूप है) यह अनुभव करता है, तथा उन गुणों के अतीत होनेवाला (विशुद्ध आत्मतत्त्व) पहिचानता है, तब वह मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है-१९। शरीर की उत्पत्ति का कारण होनेवाले इन तीन गुणों के अतीत जानेवाला मानव जन्म, बुढापा एवं मृत्यु इनके दुःखों से मुक्त होकर अमृतत्व प्राप्त करता है-२०।" इसपर अर्जुन नें प्रश्न किया–

> कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो
> किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥१४-२१

"प्रभो, इन तीन गुणों के परे (अतीत) जानेवाले के क्या लक्षण होते हैं ? उसका आचरण कैसा होता है ? वह इन तीन गुणों के परे कैसा जाता है ?" श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया–

> प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव
> न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥१४-२२
> उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते
> गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३

"अर्जुन, सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण के अनुभव आनेपर जो उनका तिरस्कार नहीं करता, तथा उनके चले जानेपर उनकी इच्छा भी नहीं करता-२२, (सारांश) जो उनके प्रति उदासीन (अप्रभावित) रहकर इन गुणों से विचलित नहीं होता, तथा यह सारी गुणों की क्रिया-प्रतिक्रिया है ऐसा मानकर (साम्यचित्त अवस्था में) स्थिर रहता है एवं क्षुब्ध नहीं होता-२३" (उसे 'गुणातीत' कहते हैं)[२९]।

> समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः
> तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥१४-२४
> मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः
> सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५

"सुखदुःख समान (उत्तेजनारहित वृत्ति से) अनुभव करने वाला, शान्त, मिट्टी, पत्थर एवं सुवर्ण को जो समान मानता है, प्रिय एवं अप्रिय घटनाओं को जो समान (उत्तेजनारहित वृत्ति से) देखता है, ज्ञानवान्, निंदा या स्तुति होनेपर जो समान (उत्तेजना रहित) रहता है, २४; मान एवं अपमान समान स्वीकारनेवाला, मित्रपक्ष एवं शत्रुपक्ष को

(उनके वास्तविक हितचिंतन की दृष्टि से) समान समझनेवाला, तथा किसी भी कर्म का व्यक्तिशः आग्रह न धरनेवाला, ऐसे व्यक्ति को (त्रि) गुणातीत कहते हैं-२५।''

यह सर्वोच्च साम्यचितावस्था भगवान् श्रीकृष्ण की एकनिष्ठ भक्ति से प्राप्त हो सकती है–

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥१४-२६
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७

''जो अनन्य निष्ठापूर्वक भक्तियोग से मेरी उपासना करता है, वह (प्रकृति के) गुणों से पूर्ण अतीत जाकर (परम) ब्रह्मावस्था प्राप्त करने का पात्र होता है-२६। क्यों कि, मैं अमृतस्वरूप अविनाशी (परम) ब्रह्म का अधिष्ठान (निवासस्थान), (विश्वरचना को धारण करनेवाले) शाश्वत धर्म (मूलभूत नियम) का आधार[३०], एवं अखण्ड विशुद्ध परमानंद का मूल हूँ-२७''

गीता का 'योग'–बुद्धियोग

तिलक के अनुसार गीता में मुख्यतः प्रतिपादित योग 'कर्मयोग' है। किन्तु यद्यपि गीता में कुछ स्थानों पर 'कर्मयोग' का उल्लेख, एवं कुछ अंश में उसकी प्रशंसा है, तथा श्रीकृष्ण ने अर्जुन को वह युद्धकर्म करने का आदेश दिया है, फिरभी गीता की सर्वोच्च 'योग' अवस्था को 'कर्मयोग' संबोधित करना उचित नहीं होगा।

'कर्मयोग' का प्रथम उल्लेख तीसरे अध्याय में आता है। द्वितीय अध्याय में श्रीकृष्ण ने 'योगानुसार बुद्धि' कथन करता हूँ ऐसा कहकर (२-३९) कर्मफलत्याग की निष्काम वृत्ति प्रतिपादन की (२-४७, ४८), और उस संदर्भ में कहा **''दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय। बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥** २-४९''। इसमें 'कर्म' शब्द से श्रीकृष्ण का आशय 'सभी कर्म' ऐसा न होकर 'सकाम कर्म' ऐसा है यह श्लोक ४७ एवं ४८ , तथा उसी श्लोक के ''कृपणाः फलहेतवः'' शब्दों से दीखता है। किन्तु अर्जुन ने उस आशय के बारे में गलत कल्पना कर, यदि (साम्य) बुद्धि से 'कर्म' बहुत निकृष्ट है तो मुझे यह भीषण युद्ध कर्म करने क्यों प्रेरित कर रहे हो, ऐसा श्रीकृष्ण से पूछा–

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥३-१
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२

''श्रीकृष्ण, यदि आपके मत से कर्म की अपेक्षा (साम्यत्व में स्थित) बुद्धि श्रेष्ठ

है, तो केशव! आप मुझे उस घोर (युद्ध) कर्म में क्यों प्रेरित कर रहे हैं ?-१: संदिग्ध से वचनों द्वारा आप मेरी बुद्धि में मानो मोह निर्माण कर रहे हैं; अतः जिससे मैं श्रेय प्राप्त कर सकूँ वह एक निश्चित बताइये-२।'' श्रीकृष्ण बोले–

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेण योगिनाम् ॥३-३

''अर्जुन, (श्रेय प्राप्त करने) इस लोक (संसार) में प्रचलित दो प्रकार की निष्ठा मैंने पहिले बताई हैं- सांख्य उपासकों की ज्ञानयोग द्वारा, तथा 'योगियों' की कर्मयोग द्वारा।'' यहाँ निष्ठा के दो प्रचलित प्रकारों का उल्लेख होकर, इस विषय में स्वयं श्रीकृष्ण का मत व्यक्त नहीं है। इन दो प्रचलित निष्ठा प्रकारों का संबंध आठवें अध्याय में उल्लिखित 'शुक्ल' (देवयान) और 'कृष्ण (पितृयाण) इन दो मरणोपरान्त पुण्यमार्गों से हैं। देवयानमार्ग से प्राप्त होनेवाली गति को कर्मसंन्यासी (ज्ञानमार्गी) परमश्रेय मानते हैं; तो कर्मयोगी पितृयाण से प्राप्त स्वर्गादि देवलोकों को परम श्रेय मानकर, अन्य कोई श्रेय नहीं ऐसा कहते हैं (२-४२)। किन्तु, (जैसा कि अगले प्रकरण में बताया है), गीता के अनुसार देवयान मार्ग से प्राप्त होनेवाली गति वास्तविक परम श्रेय नहीं; तथा मात्र कर्मयोग में निष्ठा रखनेवाला (उक्त श्लोक ३-३ में उल्लिखित) 'योगी' गीता का आदर्श योगी नहीं।

कर्मयोग का दूसरा उल्लेख तीसरे अध्याय में ही आता है:

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥३-६
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७

''जो अशुद्ध मानस का व्यक्ति कर्मेन्द्रियाँ नियंत्रित करता है किन्तु मन में विषय चिंतन करता रहता है उसे मिथ्याचारी कहते हैं-६। किन्तु, अर्जुन, जो मन से इन्द्रियाँ नियंत्रित कर कर्मेन्द्रियों के द्वारा अनासक्त वृत्ति से कर्मयोग आचरता है वह (उस मिथ्याचारी की अपेक्षा) श्रेष्ठ है-७।'' परंतु यह एक तुलनात्मक विधान है। उस अशुद्धमानस 'विमूढ' व्यक्ति की अपेक्षा[३१] आसक्ति रहित वृत्ति से कर्मयोग का आचरण करनेवाला 'अधिक अच्छा' है, किन्तु मात्र इससे कर्मयोग सर्वश्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता।

कर्मयोग का तीसरा उल्लेख श्लोक ५-२ में होकर, उसमें कर्मसंन्यास से कर्मयोग को कुछ विशेष कहा है। किन्तु यह भी एक तुलनात्मक विधान है तथा इस श्लोक की ऊपर की चर्चा में बताये अनुसार, यह कर्मयोग मोक्षमार्ग का एक अंश होकर, गीतोक्त अंतिम योगावस्था (संपूर्ण साम्यत्व-रूप स्थितप्रज्ञता) नहीं।

कर्मयोग का आखिरी उल्लेख तेरहवें अध्याय में आता है :

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेण चापरे ॥१३-२४
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५

"कुछ बिरले सिद्ध शुद्धचित्त से ध्यान द्वारा (परम) आत्मतत्त्व (परमात्मा) का स्वयं में दर्शन (अनुभव) करते हैं। अन्य कोई सांख्ययोग (ज्ञानमार्ग) द्वारा, एवं कोई अन्य कर्मयोग द्वारा, तो और अन्य वह स्वयं न जानने वाले दूसरों से (श्रद्धापूर्वक) श्रवण कर तदनुसार उपासना करते हैं, तथा वे श्रवण मार्गी भी (सांख्ययोगी एवं कर्मयोगी साधकों समान) मृत्युलोक को अच्छी प्रकार पार (कर पुण्यलोक प्राप्त) करते हैं-२४, २५।" यहाँ भी कर्मयोग को सर्वोच्च न कहते हुए, अनेक 'अन्य' इष्ट मार्गों में से एक बताया है। और इसके अलावा, श्लोक २४ की द्वितीय पंक्तिका प्रत्यक्ष संबंध श्लोक २५ से है; आशय यह कि, (देवयान मार्गी) ज्ञानयोगी, (पितृयाण मार्गी) कर्मयोगी, एवं उनके श्रद्धावाश्रवणानुयायी ये सब मरणोत्तर स्वर्गलोकादि शुभगति प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत, योगयुक्त ध्यान से श्लोक १३-२४ की प्रथम पंक्ति में कहे अनुसार परम 'आत्मदर्शन' होता है, प्रत्यक्ष आत्मानुभव होता है।

तेंरहवे अध्याय के बाद 'कर्मयोग' शब्द गीता में नहीं आया है।

गीता में सर्वोच्च 'योग' स्थिति को 'बुद्धियोग' कहा है। श्रीकृष्ण अपने उपदेश का आरंभ सांख्य दर्शन के अनुसार 'पुरुष' के वर्णन से करते हैं। शरीर (जन्म लेता है एवं) मरता है, किन्तु 'पुरुष' (जन्म नहीं लेता तथा) मरता नहीं। इस विवेचन में ऐन्द्रियिक भोगों के बारे में अनासक्ति का उपदेश (२-१४, १५), एवं वह युद्ध करने का अर्जुन को आदेश (२-१८) समाविष्ट है। यह सांख्य मत प्रतिपादन श्लोक २-२५ तक चलकर, बाद में दो आकस्मिक वैकल्पिक उल्लेख आये हैं। एक उल्लेख हर जीवन में आत्मा (जन्म लेता है एवं) मरता है इस सामान्य मत का है। (२-२६,२७,२८)। दूसरा उल्लेख (२-३३ से ३७) अर्जुन वह युद्ध अनासक्तिपूर्वक न करना चाहता हो, तो उसके लिये सकाम हेतु का है; किन्तु यह एक गौण पक्ष होकर, श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उस युद्ध के लिये प्रवृत्त करने श्लोक २-३८ में पुनः सांख्य मत के अनुसार अनासक्ति का उपदेश दिया, और सांख्य मत के प्रतिपादन का समारोप किया ।

उसके बाद श्रीकृष्ण ने गीतोक्त 'योग' का प्रतिपादन आरंभ किया। श्रीकृष्ण को (वेदान्त दर्शन को) सांख्यदर्शन का अनासक्ति सिद्धान्त मान्य है, किन्तु उनकी अध्यात्मभूमिका में कुछ भेद है। सांख्यदर्शन 'पुरुष' मूलतः अनेक मानता है; गीता के अनुसार सब वैयक्तिक 'पुरुष' (आत्मा) मूलतः एक होकर, सर्वव्यापी एक परम 'ब्रह्म' के अशंरूप हैं। इसके अलावा, सांख्य दर्शन जड़ 'प्रकृति' को स्वतंत्र अस्तित्व मानता है, किन्तु गीता वह 'प्रकृति' भी अंततोगत्वा 'ब्रह्म' का एक अंग बताती है। अतः यद्यपि

गीतोक्त 'योग' एवं सांख्य का निष्कामतावृत्ति के विषय में मुख्यतः एकमत है (५-४, ५; ६-१, २), फिरभी अपनी अध्यात्म विषयक विशिष्ट भूमिका ध्यानमें लेकर श्रीकृष्ण गीतोक्त 'योग' की दृष्टि से 'निष्काम बुद्धि' का कुछ अलग स्पष्टीकरण देते हुए बोले—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥२-३९

"अर्जुन, यह तुझे सांख्य दर्शन के अनुसार बुद्धि कही; अब यह योगशास्त्र के अनुसार श्रवण कर, जिससे युक्त होने पर तू (आवश्यक कर्म करता हुवा भी) कर्म से होनेवाले बंधन से मुक्त रहेगा।" सांख्य के अनुसार, अनासक्त रहकर आखिर में सर्वकर्मसंन्यास करना है; गीतोक्तयोग के अनुसार सर्वकर्मसंन्यास न करते अनासक्त वृत्ति से जब संसार के हित में आवश्यक हो तब कार्य कर्म करते हुए अनेक शुभाशुभ फलों के बंधन से अलिप्त रहना है। इन दो दर्शनों में एक और भेद श्लोक श्लोक २-६१ में दीखता है। उसमें श्रीकृष्ण गीतोक्त योगी को "मत्परः" (परमेश्वर को आत्मसमर्पण करनेवाला) होने का आदेश देते हैं; वह सांख्य दर्शन में संभव नहीं। इसके अलावा, गीता स्थितप्रज्ञ स्थिति को 'ब्राह्मी' स्थिति कहती है, एवं वह अंत में 'ब्रह्म निर्वाण' (ब्रह्मात्मैक्य) प्राप्त करती है ऐसा बताती है (२-७२); यह धारणा भी सांख्य दर्शन में नहीं।

गीतोक्त निष्काम वृत्ति (बुद्धि) का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं-

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥२-४०
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१

"इस (बुद्धियोग) में आरंभ की गई साधना (अपूर्ण रहने पर भी) नष्ट (विफल) नहीं होती;[३२] तथा (शास्त्र में कहा 'नित्य' कर्म न करने से लगता है वैसा) प्रत्यवायरूप दोष (पाप) भी इसमें नहीं लगता; इस मोक्षमार्ग का थोड़ा भी पालन (अधःपातादि) महान् भय से बचाता है-४०। अर्जुन, इस (बुद्धियोग) में सारासारविवेक बुद्धि (अंतिम श्रेय के लक्ष्य पर) एकाग्र होती है; (इसके विपरीत) विवेकरहित व्यक्तियों में (उनकी बुद्धि भ्रमित होकर) (मानो) विभिन्न दिशाओं में भटकती अनगिनत बुद्धियाँ होती हैं-४१।" और यह स्पष्ट करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥२-४२
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४

"अर्जुन कर्मफलदर्शक वेदवचनों पर ध्यान केन्द्रित कर, काम के अधीन हुवे, स्वर्गप्राप्ति के पीछे लगे, उसके अलावा अन्य श्रेयस्कर नहीं ऐसा कहनेवाले,[३३] अविवेकी व्यक्ति, (सकाम यज्ञयाग आदि) अनेक विशिष्ट कर्मों का वर्णन करने वाली (सुखी पुनर्) जन्म एवं (सुखदायक) कर्मफल की आशा दिखानेवाली (अर्थात्) ऐन्द्रियिक भोग एवं ऐश्वर्य की प्राप्ति का आश्वासन देनेवाली जो आकर्षक वाणी (वचन) बोलते हैं,[३४] उससे चित्त भ्रमित कर जो ऐन्द्रियिक भोग एवं ऐश्वर्य में पूर्ण आसक्त रहते हैं, उनकी सारासार विवेक बुद्धि साम्यावस्था में स्थिर नहीं होती है-४२, ४३, ४४।" इसलिये अर्जुन को ऐसे वेदवचनों के अतीत जानेका आदेश दिया है (२- ४५, ४६)। इसके बाद श्लोक २-४७ में कर्मफल को कभी भी हेतु न करनेका उपदेश है। इस श्लोक के अंतिम चरण में सांख्य और गीता का मतांतर स्पष्ट हुवा है। इसमें श्रीकृष्ण कहते हैं कि, कर्मफलत्याग का स्थित्यंतर (सांख्यवादी मानते हैं तदनुसार) संपूर्ण कर्मत्याग में नहीं करना चाहिये। और इसी को लगकर श्लोक २-४८ में गीतोक्त योग का कर्माचरण से प्रत्यक्ष संबंध बताया है।

यहाँ तक गीतोक्त 'योग' का दिग्दर्शन करने के बाद श्रीकृष्ण श्लोक ४९ में उसे 'बुद्धियोग' ऐसा सर्वप्रथम स्पष्ट संबोधित करते हैं "दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय"। तथा इसके बाद के दो श्लोकों में भी (५०, ५१) "बुद्धियुक्तः" शब्द होकर, उसका अर्थ 'बुद्धियोग पालन करनेवाला' ऐसा है।

इसके बाद अध्याय १० में श्रीकृष्ण फिर 'बुद्धियोग' का स्पष्ट उल्लेख करते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥१०-९
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११

"चित्त मुझमें लीन करनेवाले, प्राण मुझमें समर्पण करनेवाले, एक दूसरेसे मेरा वर्णन करनेवाले, मेरा गुणगान करनेवाले, उसमें नित्य संतुष्ट एवं आनन्दमग्न रहते हैं-९। योगस्थिति प्राप्त करने की सतत साधना करते हुए अंतःकरण पूर्वक मेरी भक्ति करनेवाले उन्हें मैं वह बुद्धियोग प्रदान करता हूँ, जिसके द्वारा वे मुझे पहुँचते हैं-१०। उनके हृदय में स्थित स्वयं मैं उनपर अनुग्रह करने के लिए उनका अज्ञानजन्य अंधकार तेजस्वी ज्ञानदीप से नष्ट करता हूँ (उनके हृदय में ज्ञान का प्रकाश करता हूँ)-११।"

तथा अपने उपदेश के समापन में श्रीकृष्ण पुनः अर्जुन को 'बुद्धियोग' की साधना करने का आदेश देते हैं, "बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥१८-५७।"

श्रीकृष्ण ने इस योग का स्वरूप "समत्वं योग उच्यते" (२-४८)। इस प्रकार बताया, उस संदर्भ में अर्जुन ने कहा—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥६-३३
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४

"श्रीकृष्ण, यह जो साम्यत्व स्वरूप योग आपने बताया, वह (मन की) चंचलता के कारण (मुझमें) स्थिर रह सकेगा ऐसा मुझे प्रतीत नहीं होता है-३३, कृष्ण, मन चंचल, जोर से खींचनेवाला, बलवान् एवं हठी होकर, उसे नियंत्रण में रखना वायुपर नियंत्रण पाने के समान मैं अतिकठिन समझता हूँ-३४।" यह साम्यचित्तरूप बुद्धियोग के लिये कहा होकर, श्रीकृष्ण का उत्तरभी उसी विषय में है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६

"अर्जुन, निःसंदेह मन चंचल एवं नियंत्रण करने में बड़ा कठिन है; किन्तु 'अभ्यास' एवं वैराग्य से वह नियंत्रित किया जा सकता है[३५]-३५। स्वयं के मन पर नियंत्रण न रखनेवाले को (यह) योग प्राप्त नहीं होगा ऐसा मेरा मत है; किन्तु जिसने प्रयत्नपूर्वक मन पर नियंत्रण किया, उसे साधना के द्वारा वह प्राप्त हो सकेगा-३६।" गीता के इसी छठे अध्याय में इन अभ्यास-क्रियाओं का कुछ वर्णन आया है—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥६-१०
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४

"योगसाधक अकेला ही एकान्त में बैठकर, चित्त एवं शरीर नियंत्रित कर, लौकिक इच्छा-आकांक्षा त्यागकर, ऐहिक संपदा की आसक्ती छोड़कर, सतत (प्रतिदिन) स्वयं को (चित्तैकाग्ररूप) योग में लगावे-१०। शुद्ध भूमि पर, कुश मृगचर्म एवं वस्त्र एक के ऊपर एक बिछाकर, उसपर न बहुत ऊँचा न बहुत नीचा अपना आसन स्थिर रखकर[३६]-११, वहाँ उस आसन पर बैठकर, मन एकाग्र कर, चित्त की एवं इन्द्रियों की क्रिया नियमित कर, आत्मशुद्धिहेतु[३७] योगाभ्यास करे-२२। शरीर (मध्यभाग), गर्दन एवं मस्तक सोधी रेखा में लाकर,[३८] एवं चलनवलनरहित स्थिर होकर, किसीभी दिशा में दृष्टि न डालते, अपनी नासिका के अग्र पर दृष्टि लगाना हुवा-१३, भय (चिंता) त्यागकर एवं शान्तचित्त होकर, ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ, मन नियंत्रित कर, योगसाधक अपना चित्त मुझमें (परमेश्वर में) केन्द्रित कर मत्परायण होकर रहे-१४।"

तं विद्यादुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥६-२३
संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८

"(जन्ममरणचक्रादि समस्त) दुःखों की प्राप्ति से मुक्त करने वाली उस 'योग' संबोधित अवस्था का ज्ञान प्राप्त कर लिया जावे; प्रसन्न चित्त एवं दृढ़ निश्चय से उस योग का पालन किया जावे-२३। सब तृष्णास्वरूप सकाम इच्छाओं को संपूर्ण त्यागकर, तथा मनद्वारा ही इन्द्रियों को सब ओर से नियंत्रित कर, धीरे-धीरे दृढनिश्चयी बुद्धि से स्वयं को (ऐहिक विषयों से) निवृत्त करे, तथा मन आत्मचिंतन में स्थिर कर (अन्य) कोई विचार न करे-२४,२५। चंचल अस्थिर मन जिधर निधर भटकेगा वहाँ-वहाँ से उसे नियंत्रित कर स्वयं के अधीन किया जावे-२६, जिसका मन पूर्ण शान्त है, रजोगुण विराम हुवा है, चित्त शुद्ध है, जो परब्रह्म से एकरूप हुवा है, ऐसे इस योगी को सर्वोच्च सुख प्राप्त होता है-२७। चित्त शुद्ध कर स्वयं को इस प्रकार सतत योगसाधना में लगानेवाला योगी सुलभता से ब्रह्मप्राप्तिजन्य अत्यंत सुख प्राप्त करता है-२८।"

इस 'बुद्धियोग' के उपदेश की पूर्वपरंपरा श्रीकृष्ण संक्षेप में इस प्रकार बताते हैं—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥४-१
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३

"यह शाश्वत योग मैंने विवस्वान् (सूर्य) को बताया था; विवस्वान् ने वह (अपने पुत्र) मनु को सिखाया, एवं मनु ने वह (अपने पुत्र, राजा) इक्ष्वाकु को कथन किया -१। अर्जुन, इस प्रकार परंपरा से प्राप्त होता आया यह योग राजर्षि जानते थे; किन्तु बाद में दीर्घकाल वह योग इस संसार में (राजपरंपरा में) लुप्त हो गया[३९]-२। तू मेरा सखा एवं भक्त है, अतः रहस्य पूर्ण (मोक्षदायक) वही यह पुरातन योग आज मैंने तुझे कथन किया है-३।"

श्रीकृष्णने २-१२ में क्या कहा था इसका विस्मरण होने पर अर्जुन ने प्रश्न किया—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४-४

"विवस्वान् का जन्म पूर्वकाल में हुआ था और आपका जन्म बाद में हुवा है; फिर आपने (यह योग) पहिले विवस्वान को बताया था, यह मैं कैसा मानूं ?" इसपर श्रीकृष्ण ने पुनः अपने पूर्व-अवतारों का उल्लेख किया—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥४-५

"अर्जुन, मेरे एवं तेरे (इसके पूर्व) कई जन्म हो गये हैं; मैं वे सब जानता हूँ, किंतु हे परंतप ! तू (उन्हें) नहीं जानता ।"

महाभारत में शांतिपर्व के अध्याय ३४८ में श्रीकृष्ण द्वारा कुरुक्षेत्र में किये गीतोपदेश का उल्लेख आया है; वहाँ भी इसके कथन की उक्त पूर्वपरंपरा अधिक विस्तार से देकर वैशंपायन राजा जनमेजय से कहते हैं—

यतीनां चापि यो धर्मः स ते पूर्वं नरोत्तम
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ॥

इसमें कहे अनुसार, 'यतियों के लिये भी उचित जो (यह) धर्म' वह पूर्वमें श्रीकृष्ण प्रतिपादित गीता में संक्षेप से कथन किया गया था। सारांश, गीतोक्त 'बुद्धियोग' संन्यासी (ज्ञानमार्गी) एवं कर्ममार्गी इन दोनों को ही श्रेयस्कर है। यही बात गीता के श्लोक ५-६, ६-१ एवं ६-२ में कही है। शांतिपर्व के अध्याय ३४७ में "प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः" इस वचन का संदर्भानुकूल अर्थ 'यह नारायणीय धर्म प्रवृत्तिस्वरूप ही है' ऐसा न होकर, 'वेद, यज्ञ, तप, सत्य आदि के समान प्रवृत्तिरूप कर्ममार्ग भी

अंततोगत्वा नारायणात्मक (श्रीकृष्णभक्ति परायण) है' ऐसा है। अध्याय ३३९ में भगवान् नारायण अपना आवश्यक कर्माचरण समाप्त होनेपर पुनः निवृत्ति अवस्था में लीन हुवे ऐसा कहा है।

अपूर्ण साधना का भविष्य

छठे अध्याय के अंत में अर्जुन एक प्रश्न पूछता है। जिसकी योग साधना एक जन्म में पूर्ण न हो, उसका क्या होता है ?

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥६-३७
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९

"कृष्ण, श्रद्धायुक्त होते हुए भी पर्याप्त प्रयास के अभाव में जिसका मन (जीवन के अंततक) योगावस्था में स्थिर न हो सके, वह योग की परम सिद्धि प्राप्त करने में असफल रहकर (मरणोत्तर) कौन-सी गति को जाता है ?-३७ कृष्ण, ब्रह्म (मोक्ष) के मार्ग में भ्रमित (ठीक रास्ते पर न पहुँचा) यह अस्थिर व्यक्ति, छिन्नभिन्न बादल के समान, (मोक्ष एवं स्वर्गादि सद्गति ये) दोनों लक्ष्य गँवाकर विनाश को तो नहीं प्राप्त होता ?-३८ कृष्ण, मेरे इस संशय का पूर्ण निराकरण कीजिए; क्योंकि इस (गहन) संशय का समाधान करनेवाला आपके अलावा मुझे अन्य कोई नहीं दीखता-३९।" इसपर श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं–

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥६-४०
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतितम् ॥४५

"अर्जुन, उसका न इहलोक में, न ही परलोक में, किसी प्रकार विनाश होता है; प्रिय मित्र, सत्कर्म करनेवाला कोई भी दुर्गति प्राप्त नहीं करता-४०।(वह) योगभ्रष्ट व्यक्ति (मरणोपरान्त) पुण्यकर्मियों को प्राप्त परलोकों को जाता है, तथा अनेक वर्षोंतक (दीर्घ काल) वहाँ निवास के बाद वह (वापिस इहलोक में) पवित्र आचरण के एवं श्रेष्ठ सद्गुण संपन्न व्यक्तियों के घर जन्म प्राप्त करता है-४१। या, वह ज्ञानसंपन्न योगियों के ही परिवार में जन्म लेता है; (किन्तु) इस संसार में ऐसा यह जन्म बड़ा दुर्लभ होता है-४२। वहाँ उसे पूर्वजन्म की ज्ञानसाधना (संस्कार रूप में) प्राप्त होती है; अर्जुन, फिर तदनुसार वह परम सिद्धि की दिशा में अपना प्रयास पुनः चालू रखता है-४३। उस पूर्व (जन्म की) साधना से ही वह, उसकी (स्पष्ट) इच्छा न हुई तो भी, (योगमार्ग की ओर) आकृष्ट होता है[४०]; (ऐसा) योग मार्ग का (मात्र) मुमुक्षु साधक भी वेदों (में बताये सकाम फलों) के परे जाता है-४४ ।(इस प्रकार) प्रयत्नपूर्वक साधना करता हुवा अनेक जन्मों तक सिद्धि के मार्ग पर चलनेवाला योगी अंततोगत्वा सब दोषों से शुद्ध होकर परम गति को पहुँचता है-४५।"

---

१. किन्तु जनक आदि ने ज्ञानप्राप्ति तक ही कर्म किया, या उसके आद भी चालू रखा, ऐसे दोनों अर्थ श्लोक के प्रथम पंक्ति के किये गये हैं। शंकराचार्य दोनों अर्थ देते हैं, तथा द्वितीय अर्थ स्पष्ट अमान्य नहीं करते।

२. यहाँ भी प्रथम पंक्ति में "मुमुक्षुभिः" यह शब्द होने से, उन्होंने ज्ञानप्राप्तितक कर्म किया ऐसा अर्थ संभव हो, तो भी इस संदर्भ में श्लोक १४ में श्रीकृष्ण नें स्वयं का उदाहरण दिया होने से उन मुमुक्षुओं ने ज्ञातप्राप्ति बादभी कर्म चालू रखा, ऐसा आशय उचित है।

३. श्वेताश्वतर उपनिषद्, ३-१८, "नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः। वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥"

४. यहाँ 'द्विज' शब्द में जन्म के बजाय स्वभावगुणों को प्राधान्य है, यह महाभारत के ऊपर उद्धृत श्लोकों से सिद्ध है। तथा 'गुरु' एवं 'प्राज्ञ' ये शब्द स्पष्ट ही गुणनिदर्शक हैं।

५. कुछ लेखक इस श्लोक का संबंध कार्य कर्म के त्याग से लगाते हैं; वैसा अर्थ करने से "नैव त्यागफलं लभेत्" इन शब्दों में विशेषता नहीं रहेगी; और फिर कार्य कर्म का कोई भी कायरतापूर्ण त्याग तामस होगा, राजस नहीं।

६. आंग्ल चिंतक जे०एस० मिल (पूर्व उद्धृत) भी शारीरिक भय से किये दुष्कर्म के त्याग को केवल external sanction (बाह्य दबाव) से प्रेरित नैतिकता बताकर, वास्तविक नैतिकता का आधार internal sanction (व्यक्ति की सदसद्विवेक बुद्धि का प्रभाव) मानते हैं। (*Utilitarianism*, chapter 3.).

७. श्रीकृष्ण ने अर्जुन को 'उत्तिष्ठ' (ऊठ, खड़ा हो जा) ऐसा विशेष रूप से इसलिये कहा कि, आरंभ में वह शोकमोहग्रस्त होकर रथ में 'बैठ गया था' ("रथोपस्थ उपाविशत्" १-४७)

८. ऐसा ही श्लोक गणेशगीता में (अध्याय ४) है, "क्रियायोगोवियोगश्चाप्युभौ मोक्षस्य साधने। तयोर्मध्ये क्रियोगस्त्यागात्तस्य विशिष्यते ।।"
९. देखिये १८-४८
१०. गीता इसे मिथ्याचार कहती है, ३-६
११. श्लोक ४-१८ के संदर्भ में यह कहा है।
१२. यहाँ 'अक्रियः' का अर्थ भाष्यकार मधुसूदन के अनुसार किया है। किन्तु 'क्रिया' का आशय यज्ञदानतपादि कर्म ऐसा भी है। (देखिये १७-२४, २५)
१३. इस श्लोक में ईश उपनिषद् के आगे दिये श्लोक की ध्वनि दीखेगी, "यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को शोकः को मोहः एकत्वमनुपश्यतः (७)"।
१४. इस आशय का ईश उपनिषद् में यह श्लोक है, "यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।।६" तथा महाभारत के शांतिपर्व में भी कहा है, "सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। यदा पश्यन्ति भूतात्मा ब्रह्म संपद्यते तदा।"
१५. देखिये ६-५, ६; तथा ईश उपनिषद् "ये के चात्महनो जनाः ।"
१६. यहाँ "सुकृतिनः" शब्द श्लोक ७-१५ के "दुष्कृतिनः" के विरोध में है। दुराचारी दुःखपीडित व्यक्ति ईश्वर को दोष देकर अधिक दुराचरण की ओर जाता है; किन्तु सदाचारी व्यक्ति ईश्वर की प्रार्थना करता है। इसी प्रकार, सुखभोग चाहनेवाला दुष्प्रवृत्त व्यक्ति पापकर्म की ओर आकृष्ट होता है, तो सत्प्रवृत्त व्यक्ति उचित कर्म कर ईश्वर की आराधना करता है।
१७. इसके विपरीत मनोवृत्ति, "तस्मादुद्विजते लोकः सर्पाद् वेश्मगताविव" (महाभारत, वनपर्व, अध्याय २८), '(जो कठोर होता है) उससे, घरमें प्रविष्ट सर्पसमान, लोगों को उद्वेग होता है'।
१८. यद्यपि उसे लोगों से उद्वेग नहीं होता है, फिर भी वह लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए लालायित रहता है ऐसा भी नहीं; वह "अरतिर्जनसंसदि" होता है (१३-१०)
१९. पुण्यफल त्यागने का उल्लेख श्लोक ८-२८ में भी है।
२०. इसका अधिक स्पष्टीकरण ऊपर किया है।
२१. इसका अधिक स्पष्टीकरण ऊपर किया है।
२२. यहाँ 'अन्तकाले' शब्द के साथ 'अपि' शब्द आया है। जीवन में योगसाधना का प्रयास न करते, मात्र अंतकालसमय श्रद्धापूर्वक ईश्वर स्मरण किया, तो (अजामिल के समान) स्वर्गलोक प्राप्त हो सकेगा; किन्तु शाश्वत मोक्ष देनेवाली ब्राह्मी स्थिति अलग अवस्था है। अंतकाल में वह रहने वास्ते जीवन में उस दिशा में साधना आवश्यक है तथा जीवन में की गई ऐसी साधना अतंकाल में 'भी' न कायम रही, तो मोक्ष प्राप्ति न होते छठे अध्याय के अंत में कहे अनुसार केवल शुभगति प्राप्त हो सकेगी।
२३. गीता २-१४।

२४. यह उपमा श्वेताश्वतर उपनिषद् में आयी है, "यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं। दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् . . . ." ३-२-१५। (तथा महाभारत के शांतिपर्व में भी वह है अध्याय २४६ एवं ३१६)।
२५. पातंजल योग सूत्र "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" (१-२)।
२६. यह 'विशुद्ध' बुद्धि श्लोक ३-४२, ४३ में उल्लिखित 'तार्किक' बुद्धि नहीं।
२७. गीता १४-६, ९.
२८. यहाँ 'ऊर्ध्व' यानी स्वर्गादि परलोकों को, 'मध्ये' यानी मनुष्य योनि में, तथा 'अधः' यानी पशुआदि योनियों में, ऐसा आशय प्रायः लिया गया है, जो इसके पूर्व आये श्लोक १४ एवं १५ से सुसंगत है।
२९. यहाँ श्लोक २२ में 'प्रकाश', 'प्रवृत्ति' एवं 'मोह' शब्द सत्त्वरजतम गुणों के प्रतीक हैं। (श्लोक ६ एवं ११ में 'प्रकाश' सत्त्वगुण का, श्लोक १२ में 'प्रवृत्ति' रजोगुण का, तथा श्लोक १३ में 'मोह' तमोगुण का विशेष लक्षण कहा है)। श्लोक २३ मे "गुणा वर्तन्त इत्येव" के लिये देखिये ३-२८ ।
३०. गीता ११-१८
३१. किन्तु यह व्यक्ति 'ढोंगी' नहीं। ढोंगी वह जो कर्मेन्द्रियों का असल में संयम न करके वैसा झूठाही दर्शाता है। 'मिथ्याचारी' इन्द्रियों को असल में रोकता है, किन्तु उसे अपने मन पर पूर्ण नियंत्रण नहीं होता है।
३२. देखिये ६-४०, ४१, ४२। इसके विपरीत वैदिक विधि अपूर्ण रहनेपर कुछ भी 'पुण्य' प्राप्त नहीं होता है।
३३. मुण्डक उपनिषद्, "इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं। नान्यत् श्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः" (१-२-१०)
३४. वही, "एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः। सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वदन्ति। प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य। एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः" (१-२-६)।
३५. इसमें पातंजल योग दर्शन के उस सूत्र की प्रतिध्वनि है, "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः"
३६. पातंजलयोगसूत्र, १-४६, "स्थिरसुखमासनम्।"
३७. वही, २-२८ "योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये।"
३८. श्वेताश्वतर उपनिषद्, २-७, "त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं। हृदीन्द्रियाणि मनसा संविवेश्य . . . . ."
३९. श्रीकृष्ण अर्जुन से बोल रहे थे इसलिये उन्होंने राजपरंपरा का उल्लेख किया। ऐसा नहीं कि, इस दरम्यान यह योग किसी ऋषिमुनि को भी ज्ञात नहीं था (देखिये श्लोक ४-१०)।
४०. किन्तु उसका यह "अवशः अपि" आकर्षण श्लोक ३-३६ एवं १८-६० में उल्लिखित प्रकार का इच्छाविरोधी न होकर, मूलतः स्वेच्छानुकूल होता है, यह "यतते च ततो भूयः" (६-४३) एवं "प्रयत्नाद्यतमानस्तु" (६-४५) इन शब्दों से स्पष्ट है।

श्री :

प्रकरण १२

गीता के कुछ सूक्ष्म स्थल

क्या गीता अज्ञेयवादी है ?

अक्षर पुरुष (शुद्धात्मा) के विषय में गीता कहती है–

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२-२९

"क्वचित् कोई बिरला (पूर्ण ज्ञानी) सिद्ध इसे (विशुद्ध आत्मतत्त्व को) प्रत्यक्ष देखता (अनुभवता) है, एवं वैसा ही (प्रत्यक्ष अनुभव करने वाला) अन्य कोई बिरला सिद्ध इसके स्वरूप का (साधकों के मार्ग-दर्शनार्थ) वाणी से विवेचन करता है,[१] तथा अन्य इक्का-दुक्का बिरला (साधक) उसे (तन्मयता से) श्रवण करता है, किन्तु मात्र श्रवण से किसी को इसका प्रत्यक्ष (अनुभूतिरूप) ज्ञान नहीं होता"। कुछ भाष्यकार यहाँ 'आश्चर्यवत्' को सिद्ध (एवं साधक) का विशेषण न मानते, 'पश्यति', 'वदति', 'शृणोति' का विशेषण बताकर 'कोई बिरला इसे आश्चर्यकारक स्वरूप में देखता है, आश्चर्यकारक बताकर वर्णन करता है, आश्चर्यकारक समझकर श्रवण करता है' ऐसा आशय लेते हैं। किन्तु यह श्लोक स्पष्ट ही कठोपनिषद् के इस श्लोक पर आधारित है–

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
शृण्वन्तो ऽपि बहवो यं न विद्युः
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा–
ऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥१-२-७

इसमें 'आश्चर्य' शब्द सिद्ध व्यक्ति के लिये प्रयुक्त है। गीता का भी यही दृष्टिकोण है, यह निम्न उद्धृत श्लोक से स्पष्ट होता है–

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ७-३

"हजारों मानवों में विरला ही कोई (परम) सिद्धि हेतु प्रयास करता है, तथा (ऐसे) प्रयत्नशील सिद्ध (सिद्धि के इच्छुक) व्यक्तियों में भी क्वचित् कोई मेरे वास्तविक स्वरूप को अनुभव करता है"। श्लोक ७-१९ में भी ऐसा व्यक्ति 'सुदुर्लभ' बताया है।

कुछ भाष्यकार प्रस्तुत श्लोक के चतुर्थ चरण ("वेद न चैव कश्चित्") का संबंध 'श्रुत्वा' के अलावा प्रथम दो चरणों से भी लगाकर 'इस आत्मतत्त्व को प्रत्यक्ष देखकर (अनुभव कर) भी कोई इसे वास्तविक नहीं जानता' ऐसा अर्थ देते हैं। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य एवं तिलक ऐसा अर्थ देते है। रानडे भी यह श्लोक परमेश्वर के लिये मानकर लिखते हैं, ". . . . . and having seen Him, talked about Him, and having heard Him, no body has been able to know His ultimate nature. आश्चर्यवत् पश्यति ...II-29." "Finally, you might contemplate on God as the supreme object of wonder, almost tantamount to the Unknowable of Spencer or Huxley. The Bhagavadgita tells us आश्चर्यवत् पश्यति, II-29 . . . . Nobody has yet ever been born upon this earth who knows this God. God cannot be seen, God cannot be expressed by the word of mouth, and God cannot be heard. God is the greatest wonder of existence."[२]

किन्तु यह 'अज्ञेयवाद' (Agnosticism) की भूमिका होकर भारतीय दर्शन को मान्य नहीं। उपनिषदों के अनुसार सर्वोच्च तत्त्व "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (वाणी एवं मन से अगम्य) होने पर भी, वह तुर्यावस्था में जाना जा सकता है (कठ उपनिषद् १-२-३, २-१–१, मुण्डक १-१-६, बृहदाराण्यक २-४-५)। गीता के अनुसार भी बिरले सिद्धों को शुद्धात्मस्वरूप की अनुभूति संभव है यह "बुद्धेः परं बुद्ध्वा" (३-४३), " बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः" (४-१०), आदि वचनों से, तथा इन श्लोकों से भी स्पष्ट है–

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥५-१६
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७

"परंतु जिनका आत्मस्वरूप के विषय में वह अज्ञान नष्ट हुवा है (तथा जिन्हें शुद्धात्मा की अनुभूति हुई है) उनका ज्ञान (समग्र पृथ्वी को प्रकाशित करने वाले) सूर्य के समान सर्वत्र परम ईश्वरतत्त्व का दर्शन कराता है- १६। उसे (परमेश्वर से) अपनी बुद्धि, अंतःकरण एवं निष्ठा समर्पण कर जो उसकी उपासना करते है, उनका चित्त ज्ञान द्वारा पूर्ण शुद्ध होकर वे पुनर्जन्म से मुक्त हो जाते हैं– १७।" इतना ही नहीं, अपितु प्रस्तुत श्लोक २-२९ में प्रयुक्त धातु 'पश्य', तथा 'कश्चित्' के स्थान पर (अनेक वचनी रूप) 'केचित्' लेकर श्रीकृष्ण कहते है, "ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना

(१३-२४)"। इसी प्रकार ७-३ एव ७-२९ के अनुसार भी बिरले ही व्यक्तियों को क्यों न हो यह प्रत्यक्ष अनुभूति संभव है। इस प्रकार देखते हुए प्रस्तुत श्लोक के अंतिम चरण का अर्थ पूर्णतया अज्ञेयवादी करना उचित नहीं होगा। वस्तुतः इसका सीमित आशय अगले श्लोक से सुसंगत है–

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥४-३८

"इस विश्व में (परम) ज्ञान के समान पवित्र अन्य कुछ नहीं, योगसाधक (साधना कर) उसे यथा समय स्वयं में अनुभव करता है"। साधक द्रष्टा सिद्ध से आत्मज्ञान पर प्रवचन श्रवण करे ऐसा कहा हो (४-३४), तो भी मात्र वह पर्याप्त न होकर, साधक को वह ज्ञान "कालेन आत्मनि" (पर्याप्त समय के बाद स्वयं में) अनुभव करना है।

निस्त्रैगुण्य और फिरभी 'नित्यसत्त्वस्थ'

गीतोक्त योगी त्रिगुणातीत होता है। किन्तु श्रीकृष्ण अर्जुन को यह भी कहते हैं–

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥२-४५

इसमें 'निस्त्रैगुण्य' (त्रिगुणातीत) अवस्था को 'नित्यसत्त्वस्थ' भी कहा है। त्रिगुणों में सत्त्वगुण भी आता है; फिर, उन तीन गुणों के अतीत जानेवाले को 'नित्यसत्त्वस्थ' कैसा कहा ?

शंकराचार्य 'निस्त्रैगुण्यः' का अर्थ 'त्रिगुणातीत' के बजाय 'निष्काम' करते हैं, और फिर ऐसे व्यक्ति को 'नित्यसत्त्वस्थः' करने में अड़चन प्रतीत नहीं होती। किन्तु श्लोक १४-२० में श्रीकृष्ण "एतान् त्रीन् गुणान् अतीत्य" ऐसा कहते हैं, तथा इस पर अर्जुन भी पूछता है कि इन तीन गुणों के अतीत कैसा जाना ? अतः आखिर त्रिगुणातीत व्यक्ति 'नित्यसत्त्वस्थ' कैसा ? इसका स्पष्टीकरण आवश्यक है।

बल्लभाचार्य बिल्कुल ही अलग आशय देते हैं। वे 'निस्त्रैगुण्यः' का अर्थ त्रिगुण-रहित परमेश्वर याने स्वयं श्रीकृष्ण ऐसा कर, "निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन" का आशय 'अर्जुन, मेरे प्रति एकनिष्ठ हो' ऐसा लेते हैं, तथा 'नित्यसत्त्वस्थ' में 'सत्त्व' का अर्थ धैर्य करते हैं।

तिलक इसका यह स्पष्टीकरण देते हैं "......कुछ सूक्ष्म विचार करने से मालूम पड़ता है, कि यह त्रिगुणातीत अवस्था सात्त्विक, राजस और तामस इन तीनों अवस्थाओं से भिन्न है .... परन्तु सात्त्विक, राजस और तामस इन तीन वर्गों की अपेक्षा वर्गीकरण के तत्त्वों को व्यर्थ अधिक बढ़ाना उचित नही है । इसलिये सांख्यवादी कहते हैं, कि

सत्त्वगुण के अत्यंत उत्कर्ष से ही अंत में त्रिगुणातीत अवस्था प्राप्त हुआ करती है, और इसलिये वे इस अवस्था की गणना सात्त्विक वर्गों में ही करते हैं । गीता में भी यह मत स्वीकार किया गया है" (पू. उ. पृ- १६७) ।

तिलक ने ठीक ही कहा कि त्रिगुणातीत अवस्था सत्त्वगुण का ही परम उत्कर्ष है। वह 'नित्यसत्त्वस्थ' अवस्था है, किन्तु फिर, सत्त्वगुण में होते हुए भी उसके अतीत जाने का उल्लेख गीताकार कैसे करता है ? साधक अपने मन में उठने वाले रज-तमों को प्रयत्नपूर्वक जीतता है, तब उसकी वृत्ति सामान्य सत्त्वगुणी होती है।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१४-१०

"अर्जुन, (मानव के मन में) (कभी) रज एवं तम को दबाकर सत्त्व (प्रभावी) होता है, तो (कभी) सत्त्व एवं तम को दबाकर रज, तथा सत्त्व एवं रज को दबाकर तम (प्रभावी होता है)।" यहाँ प्रथम पंक्ति में कही स्थिति श्लोक ११ में और इस प्रकार बतायी है–

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥१४-११

"जब इस देह में सब ओर से (मन में, बुद्धि में) ज्ञानरूप प्रकाश उत्पन्न होता है, तब सत्त्वगुण प्रभावी है, ऐसा जाना जावे।" किन्तु जब तक योगावस्था प्राप्त करने का प्रयास करने वाला ("योगं आरुरुक्षुः" ६-३) साधक अपने हृदय के रज-तम प्रयत्नपूर्वक जीतता रहता है, उसके मन में अपने सत्त्वगुण का विशिष्ट भान हो सकता है । परंतु जब वह "योगारूढ" होता है, और उसके भीतर के रज-तम पूर्ण शांत होकर वह संघर्ष रहित एकमेव सत्त्वगुण में ही स्थित होता है, तब सत्त्वगुण का विशिष्ट भान भी नहीं रहता। यह 'त्रिगुणातीत' अवस्था है । जहाँ विरोध में रज-तम बचे ही नहीं, वहाँ उस एकमेव सत्त्व अवस्था को 'सत्त्व' संबोधित करने में भी क्या मतलब ?

इसी प्रकार त्रिगुणातीत अवस्था का परमानंद, विशुद्ध अक्षय सुख (५-२१, ६-२१, ६-२७, १४-२७), वस्तुतः 'सात्त्विक' सुख होता है, किन्तु उसके अतीत भी कहा जा सकता है। श्रीकृष्ण सुख के तीन प्रकार ऐसे बताते है–

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ १८-३६
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९

"अर्जुन, अब सुख के तीन प्रकार मुझ से श्रवण कर, जो शुद्धात्मा की अनुभूति से प्राप्त प्रसन्नता से उत्पन्न होता है,[3] जिसमें (शुरू में रुचि प्रतीत न हो तो भी) (योगमार्ग के) अभ्यास से[4] साधक रुचि लेने लगता है, जिसके प्रभाव से उसके दुःख का (जन्ममरण चक्र रूप दुःख बीज का) अंत होता है, जो प्रारंभ में विष समान (अस्वीकार्य) प्रतीत होता है, किन्तु जिसका परिणाम अमृत समान (हितकर) होता है, उस सुख को सात्त्विक कहते हैं –३६,३७ । जो विषयों से इन्द्रिय संपर्क द्वारा उत्पन्न होकर, आरंभ में अमृत समान (मधुर) प्रतीत होता है, किन्तु परिणाम में विष-समान (घातक, अधोगतिकारक) स्पष्ट होता है, उस सुख को राजस कहा गया है– ३८ । और जो सुख निद्रा, आलस्य या प्रमाद (दुराचरण) से उत्पन्न होकर, प्रारंभ में तथा अंत में भी मन को मोह में डालता है (जिसका घातक स्वरूप व्यक्ति को आखिर तक समझ में नहीं आता) उसे तामस कहा है– ३९"

सात्त्विक सुख में साधक को प्रारंभ में रुचि नहीं प्रतीत होती, तथा चित्त राजस एवं तामस सुख से प्रयत्नपूर्वक हटाकर सात्त्विक सुख की ओर लगाना पड़ता है । किन्तु जब चित्त उस सात्त्विक सुख में पूर्ण स्थिर हो जाता है तब त्रिगुणातीत अवस्था आती है। अब विरोध में राजस एवं तामस सुख का आकर्षण नहीं रहता; इस प्रकार यह परमानंद (राजस एवं तामस सुखों से संघर्षरत) सामान्य 'सात्त्विक' सुख से अतीत कहा जा सकता है।

निःस्त्रैगुण्य स्थिति के इस स्पष्टीकरण से निम्न श्लोक का भी सुसंगत अर्थ प्राप्त होता है :

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः
सत्त्वं प्रकृति जैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥१८-४०

"पृथ्वी पर या स्वर्ग में देवों में भी प्रकृति के इन तीन गुणों से मुक्त हो ऐसा कोई भी नहीं"। गुणातीत अवस्था में सत्त्वगुण का भी पूर्ण अभाव माना तो इस श्लोक के अनुसार वह अवस्था संभव नहीं होगी; किन्तु वह सत्त्वगुण की नित्य अवस्था होती है यह ध्यान में लेने पर वह विसंगति प्रतीत नहीं होती ।

'दैवी' शब्द के दो अर्थ

गीता के अनुसार त्रिगुणात्मक प्रकृति की आकर्षक 'माया', जो मानव को मोह में डालकर कभी-कभी तमोगुण द्वारा दुष्कर्मों की ओर आकर्षित करती है, मूलतः परमेश्वर की ही निर्मिति (योजना) है। इस दृष्टि से श्रीकृष्ण उसे 'दैवी' (यानी देवनिर्मित) कहते हैं–

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥७-१२
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४

जो भी सात्त्विक, राजस एवं तामस प्रवृत्तियाँ है, वे (मूलतः) मुझ से ही (मेरे प्रकृति रूप से ही) हुई जान, वे मुझ में समाविष्ट (मेरे अधीन) हैं, किन्तु मैं उनमें नहीं होता (मैं उनके अतीत होकर उनमें मेरा वास्तविक स्वरूप नहीं) -१२। इन तीन गुणों की प्रवृत्तियों से मोहित होकर यह सारा जगत् उनके परे होने वाले मुझ अक्षय परमात्मा को नहीं जानता -१३। क्योंकि, यह मेरी दैवी (त्रि) गुणात्मक माया को जीतना अति कठिन है, जो मेरी भक्ति करते हैं वे ही इस माया को पार करते हैं -१४"। कुछ धार्मिक पंथों के अनुसार दुष्ट प्रवृत्ति एक स्वतंत्र अस्तित्व होकर, उसका परमेश्वर से संघर्ष होता रहता है । किन्तु, इसमें आखिर ईश्वर का जय होता है ऐसा माना, तो भी यह परमेश्वर के सर्वव्यापित्व एवं संपूर्ण एकमेव अस्तित्व को बाधित करता है। गीता त्रिगुणात्मक प्रकृति या माया को परमेश्वर की ही 'दैवी' रचना मानती है; परमेश्वर से अन्य कोई स्वतंत्र शक्ति नही (७-७)।

मानव को मोह में डालने वाली यह माया परमेश्वर क्यों निर्माण करता है ? इसलिये कि, मानव के सामने सन्मार्ग और अवनति के दोनों मार्ग होकर, वह स्वेच्छापूर्वक कुमार्ग के आकर्षण से दूर रहे। दुराचरण संभव होते हुए भी जो सदाचरण के मार्ग से जायेगा, वही सच्चा सदाचारी है।

यह माया ईश्वरनिर्मित होने से 'दैवी' कही जा सकती है; किन्तु गीताकार ने 'दैवी' शब्द का एक अन्य अर्थ में भी प्रयोग किया है। 'दैवी' याने देवत्व की ओर से जाने वाली, साधु स्वभाव की (सद्गुणी), तथा इसके विपरीत 'आसुरी' याने दुष्ट (अधोगति- कारक) ऐसा भी आशय होता है। इस दृष्टि से, त्रिगुणात्मक माया के केवल सत्त्वगुणी अंश को 'दैवी', किन्तु तमोगुणी अंश को 'आसुरी' (तथा रजोगुणी अंश को 'मिश्र') कहा जा सकता है। कुछ मानव इनमें से 'दैवी' प्रकृति से, तो कुछ 'आसुरी' प्रकृति से विशेष आकर्षित होते है ।

'दैवी' शब्द का इस अंर्थ में प्रयोग श्लोक ९-१३ में आया होकर, अध्याय १६ के इन श्लोकों में विस्तार से कहा है–

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१६-१

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३

"निर्भयता, चित्तशुद्धि, ज्ञान एवं योग में स्थिरता, दानशीलता, इन्द्रिय संयम, यजन-पूजन, नियमित अध्ययन, तप, सौम्यता –१, अहिंसा, सत्य, क्रोध का अभाव, अनासक्ति, शान्तवृत्ति, निंदा न करना, प्राणियों के प्रति दयाभाव, निर्लोभता, मृदुता, (कुकर्म के प्रति) लज्जा, (सत्कर्म में) दृढ़ता-२, तेजस्विता, क्षमाशीलता, दृढ इच्छाशक्ति, स्वच्छता, निष्कपटता, अहंकारी आढ्यता का अभाव,– अर्जुन, दैवी गुणंसपत्ति सह जन्म लेने वालों में ये गुण होते हैं– ३"।

इसके विपरीत 'आसुरी' स्वभाव के अधोगतिकारक लक्षण होते हैं–

दम्भो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥१६-४
दैव संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५

"अर्जुन, आसुरी गुणसंपदा सह जन्म लेने वाले में दंभ, उद्दंडता, वृथाहंकार, क्रोध, क्रूरता, अज्ञान, ये लक्षण होते हैं'– ४. दैवी गुणसंपदा मुक्तिदायक तो आसुरी बंधनकारक मानी गई हैं। अर्जुन, तेरा जन्म दैवी गुणों सह हुआ है, (पाप के भय से) शोक (एवं कर्तव्यत्याग) मत कर-५"। श्रीकृष्ण 'आसुरी' स्वभाव का यह और वर्णन देते हैं–

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥१६-६
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९
काममाश्रित्य दुष्पूरं दंभमानमदान्विताः
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥१२
इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम्
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३

"अर्जुन, इस संसार में दैव (दैवी) एवं आसुर ऐसे दो प्रकार के मानव उत्पन्न होते हैं; इनमें से दैव-स्वभाव वालों का वर्णन मैंने विस्तार से किया, अब आसुर-स्वभाव वालों का श्रवण कर -६। आसुरी व्यक्ति न प्रवृत्ति, न निवृत्ति, ठीक जानते हैं (क्या करना चाहिये एवं क्या नहीं करना चाहिये यह नहीं जानते), तथा उनमें शुद्धता, (उचित) आचार एवं सत्य नही होता -७। वे जगत् को सत्यहीन, आधारहीन, नियंताहीन, कार्यकारण संबंधहीन मानते हैं, तथा सृष्टि का उद्देश्य काम वासना की तुष्टि के अलावा अन्य क्या हो सकता है, ऐसा कहते हैं- ८। इस प्रकार दृष्टिकोण स्वीकार कर स्वयं का नाश (अधःपात) करने वाले वे अल्पबुद्धि दुष्ट व्यक्ति संसार की प्रचंड हानि करने वाले भीषण कर्म करने प्रवृत्त होते हैं– ९। दुष्ट प्रवृत्ति के, दंभी, दुरभिमानी एवं मदोन्मत्त व्यक्ति कभी भी पूर्ण न होने वाली 'काम' वासना के अधीन होकर मोहजन्य दुष्ट हेतु से दुष्कर्म करते हैं –१०. मृत्यु तक (ऐहिक सुखों की) अंतहीन चिंता में लिप्त, कामभोगों के पीछे भागने वाले तथा यही श्रेय है ऐसा निश्चित मानने वाले– ११. सैंकड़ों आशाओं के जालों में फँसकर काम-क्रोध के अधीन हुए वे (आसुरी स्वभाव वाले) विषयभोग हेतु अन्याय से द्रव्यसंचय करने की लालसा करते हैं– १२ । तथा 'आज मैंने यह प्राप्त किया, अब मेरे मनकी यह और इच्छा मैं पूर्ण करूंगा, यह आज मेरा धनसंग्रह है, इतना धन मैं और प्राप्त करूंगा (ऐसे भ्रामक विचार से मोहित रहते हैं) –१३ ।

इस प्रकार 'दैवी' शब्द गीता में 'देवनिर्मित', एवं 'देवस्वभावी' (साधुवृत्ति के) इन दो भिन्न अर्थों में आया है ।

मरणोत्तर दो पंथ–देवयान एवं पितृयाण

आठवें अध्याय में श्रीकृष्ण परलोकगति के विषय में प्राचीन धारणा कहते है–

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥८-२३
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्त निवर्तते ॥२५
शुक्लकृष्णे गती होते जगतः शाश्वते मते
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥२६

श्लोक २४ में 'देवयान' मार्ग का एवं २५ में 'पितृयाण' मार्ग का वर्णन है। इनमें 'अहः' (दिन), 'रात्रिः', 'शुक्लः' (शुक्ल पक्ष), 'उत्तरायणम्' आदि शब्द कालदर्शक हैं। किन्तु कुछ भाष्यकार उनमें दिन, रात्रि, शुक्ल पक्ष आदि के स्वामी (देवता) जहाँ निवास करते हैं वे प्रदेश, तथा उत्तरायण के छह महीनों में सूर्य जहाँ होता वह प्रदेश, ऐसा स्थलसूचक आशय देखते हैं।

यह ठीक है कि, देवयान-पितृयाण कल्पनाएँ प्रथम प्रचलित हुईं, तब उनका आशय स्थलसूचक (या स्थलसूचक भी) था। देवयान मार्ग मृत जीव को उत्तर दिशा से ब्रह्मलोक में, तथा पितृयाण मार्ग दक्षिण दिशा से चन्द्रलोक में, ले जाता है ऐसी धारणा थी। ऋग्वेद में इस विषय में यह वचन है, "द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्। ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च" १०-८८-१५; 'मानवों के लिये पितरों की ओर एवं देवों की ओर जानेवाली दो (मरणोपरान्त) गती मैंने सुनी हैं, पिता (आकाश) एवं माता (पृथ्वी) इनके बीच से विश्व इन दो मार्गों से जाता है'। बृहदारण्यक उपनिषद् में यह वेदवचन शब्दशः उद्धृत कर उसे इस अर्थ का विवरण जोड़ा गया है, "जो इस प्रकार जानते हैं, एवं अरण्य में श्रद्धापूर्वक सत्य (ब्रह्म) की उपासना करते हैं, वे (मृत्यु के बाद) आति ज्योति को प्राप्त होते है, ज्योति से दिवस को, दिवस से शुक्लपक्ष को, शुक्ल पक्ष से जिन छह महीनों मे सूर्य उत्तर की ओर जाता है उन्हें, (उन) महीनों से देवलोक को, देवलोक से आदित्य लोक को, आदित्य लोक से (वे) विद्युत लोक को जाते है; उन विद्युत-देवताओं के पास एक मानस (अशरीरी) पुरुष आकर (उन मृतात्माओं को) ब्रह्मलोकों (ब्रह्मलोक) की ओर ले जाता है। वे इस ब्रह्मलोक में अनंत वर्षों तक रहते हैं, वे वापस नहीं आते (६-२-१५)। और जो यज्ञ, दान, तप द्वारा (इह) लोक जीतते हैं वे धूम को प्राप्त होते हैं, धूम से रात्रि को, रात्रि से कृष्णपक्ष को, कृष्णपक्ष से जिन छह महीनों में सूर्य दक्षिण को जाता है उन्हें, (उन) महीनों से पितृलोक को, पितृलोक से (वे) चन्द्रलोक जाते है, चन्द्रलोक जाकर .... वे पृथ्वी पर (वापिस) आते हैं ....तथा जन्म लेते हैं ......वे इस प्रकार बारबार (इहलोक) में वापिस आते रहते हैं (६-२-१६)"। कुछ फरक के साथ यही ब्यौरा छांदोग्य उपनिषद् में भी होकर, प्रश्न उपनिषद् एवं मुण्डक उपनिषद में भी इन दो मार्गों का उल्लेख है ।

यद्यपि उपनिषदों में 'अहः' 'रात्रिः' आदि ज्ञन शब्दों का यहाँ स्थलसूचक प्रयोग किया दीखता है, गीता में उनका आशय कालसूचक है। श्लोक २३ के आरंभ में 'यत्र काले' (जिस समय) ऐसा कहा होकर, दूसरी पंक्ति में भी मैं तुझे (मरण का) 'तं कालं' (वह समय) बताता हूँ ऐसा कहा है। इस संदर्भ में श्लोक २४ एवं २५ में 'तत्र' का आशय 'तत्र काले' ऐसा है। भीष्म कुरुक्षेत्र पर युद्ध में मरणासन्न होकर गिरे, तब उन्होंने अपने प्राण उत्तरायण आरंभ तक रोक रखे ऐसा महाभारत में कहा है; और तदनुसार उन्होंने ठीक उत्तरायण आरंभ के दिन, शुक्ल पक्ष में, 'अहन्' के समय देहत्याग किया ।

किन्तु भीष्म इच्छामरणी थे, इसलिये वे अपने प्राणत्याग का समय निश्चित कर सके। सामान्य मानव को यह संभव नहीं। फिर किसका मरण कब होगा, इस पर उसकी मरणोत्तर अवस्था क्यों निर्भर होनी चाहिये ? अतः इस विषय में स्वयं गीता का असल में क्या दृष्टिकोण है यह जानने की जिज्ञासा होती है ।

उपनिषदों का 'पितृयाण' मार्ग समाज में रह कर वैदिक यज्ञादि कर्म करने वालों के लिये, तो 'देवयान' मार्ग अरण्य में ज्ञानोपासना करने वालों के लिये है। श्रीकृष्ण ने श्लोक ३-३ में "ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेण योगिनाम्" ऐसा कहा है, उसका संबंध इन्हीं दो पंथों से दीखता है। उस समय रूढ अर्थ से इनमें से ज्ञानमार्गियों को 'सांख्य', 'संन्यासी', या ज्ञानयोगी कहते थे, तथा यज्ञादि करने वालों को 'कर्मी', 'कर्मयोगी', या केवल 'योगी' भी कहते थे ।

गीताकार ने इन दो निष्ठाओं का समन्वय कर 'बुद्धियोग' प्रतिपादन किया, और तदनुसार 'संन्यासी', 'ज्ञानी', 'योगी' इन शब्दों को नये अर्थ दिये। गीतापूर्व संन्यासी कर्म-विरोधी था (१८-३ प्रथम पंक्ति); गीता का संन्यासी निष्कामता से आवश्यक कार्य कर्म करने वाला है (६-१)। गीतापूर्व 'योगी' स्वर्गादि प्राप्ति हेतु वैदिक कर्म करने वाला था (२-४२, ४३,४४); गीता का योगी निष्काम वृति से आवश्यक कार्य कर्म करने वाला (३-१९, ६-१), किन्तु उसका आग्रह न धरने वाला (३-१८), उसके प्रति 'सम' वृत्ति रखने वाला (६-३)। है इसलिये गीतापूर्व सांख्यमार्गी एवं योगी भिन्न थे, किन्तु गीता में उनका समन्वय है (५-४,५); तथा श्लोक ६-२ में श्रीकृष्ण कहते है कि, संन्यास एवं योग वस्तुतः एकही है ।

किन्तु विशेष बात यह कि, गीताकार ने 'योगी' आदि शब्द कहीं-कहीं रूढ अर्थ में भी प्रयुक्त कर कूट निर्माण कर रखे है। मरणकाल के विवेचन में भी वही होकर, इस संदर्भ में हम अब उपर्युक्त श्लोकों पर क्रमशः विचार करें।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥८-२३

"अर्जुन, जिस समय (इहलोक से) प्रयाण करने वाले (ज्ञानोपासक) अनावृत्ति (वापिस न आने की) अवस्था प्राप्त करते हैं, तथा जिस समय प्रयाण करने वाले 'योगी' (कर्ममार्गी) वापिस आने की गति प्राप्त करते है, वह (अलग-अलग) समय (रूढधारणा के अनुसार) मैं बताता हूँ"। इसमें 'योगिनः' शब्द रूढ अर्थ से प्रयुक्त है, और इसलिये उनके संबंध में 'आवृत्ति' (इहलोग में पुनर्जन्म) का उल्लेख आया है । गीता का 'योगी' इहलोक वापिस नहीं आता। इस श्लोक में उल्लिखित 'योगिनः' वैदिक यज्ञादि करने वाले स्वर्गेच्छु होकर, उनका संबंध केवल 'आवृत्ति' शब्द से है। उपनिषदों के अनुसार 'अनावृत्ति' अवस्था अरण्यवासो ज्ञानमार्गियों को प्राप्त होती है। इसके बाद श्रीकृष्ण प्रथम ज्ञानमार्गियों का देवयान पंथ वर्णन करते हैं।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४

"(यज्ञ का) अग्नि स्वच्छ प्रज्वलित होने का समय, 'अहन्' (दिवस का समय), शुक्ल पक्ष, एवं उत्तरायण के छह माह, ऐसे समय पर (इहलोक से) प्रयाण करने वाले ज्ञानोपासक विद्वान् ब्रह्मलोक को जाते हैं।" श्रीकृष्ण यहाँ 'योगिनः' शब्द टाल कर 'ब्रह्मविदो जनाः' कहते हैं। ये परम ब्रह्म से एक रूपता प्राप्त करने वाले जीवन्मुक्त न होकर, ज्ञानमार्गी साधक है। उनके पहुँचने का जो स्थान इस श्लोक में बताया है, वह 'ब्रह्म' याने परम ब्रह्म नहीं। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार ये देवयानपंथी 'ब्रह्मलोकान्' जाते हैं, जिसका अर्थ प्रजापति ब्रह्मदेव का निवासस्थान ऐसा है। रूढ़ धारणा के अनुसार ये देवयानपंथी 'अनावृत्ति' अवस्था प्राप्त करते हैं ऐसा आगे श्लोक २६ में कहा है।

इसके बाद श्रीकृष्ण उपनिषदों का पितृयाणमार्ग बताते है :

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५

"(यज्ञ का अग्नि पूर्ण प्रज्वलित होने के पूर्व) धुँआ निकलता है वह समय, रात्रि, कृष्णपक्ष एवं दक्षिणायन के छह मास, ऐसे समय पर (इहलोक से) प्रयाण करने वाला योगी (कर्ममार्गी) चन्द्रज्योति को पहुँचकर वापिस लौटता है ।" इसमें बताया 'योगी' गीतोक्त बुद्धियोगी न होकर, रूढ अर्थ का कर्ममार्गी योगी है। ये पितृयाण पंथी साधक पुनर्जन्म प्राप्त करते हैं ऐसा श्लोक २६ में कहा है :

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥२६

"जगत् (मानव) के लिये (मृत्यूत्तर) ये शुक्ल (देवयान) एवं कृष्ण (पितृयाण) दो (शुभ) गति प्राचीन काल से मानी गई है; (इनमें से) एक (शुक्ल) गति से (जाने वाला) पुनर्जन्म रहित अवस्था प्राप्त करता है, तो दूसरी (कृष्ण) गति से (जानेवाला) पुनः इहलोक वापिस लौटता है।"

श्रीकृष्ण का उदात्त आदेश

यहाँ तक श्रीकृष्ण ने रूढ़ धारणाएँ कहीं। इसके बाद वे अपना मत कहते हैं, तथा आदेश देते है कि, इन दोनों मार्गों की, एवं उनसे प्राप्त होने वाले स्वर्गलोक आदि की, उपेक्षा कर सर्वकाल बुद्धियोग में चित्त स्थिर रखा जावे, ताकि किसी भी समय मृत्यु होने पर वह परम गति प्राप्त होगी, जहाँ से कभी भी इहलोक में वापस आना नहीं होगा।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥८-२७

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८

"ये दोनों मार्ग जानने वाला (जानता हुआ भी) कोई भी (बुद्धि-) योगी (इनके) मोह में नहीं आता (उन दोनों की उपेक्षा करता है); अतः, अर्जुन, तू सर्वकाल (बुद्धि-) योग में स्थिर रह -२७।" "यह (सर्वोच्च) ज्ञान प्राप्त कर (गीतोक्त बुद्धि-) योगी वेदाध्ययनों का, यज्ञों का, तपाचरणों का, एवं दानकर्मों का, जो (मरणोत्तर सुखी परलोक या सुखी पुनर्जन्म आदि) पुण्यफल बताया गया है, उन सबके अतीत (परे, ऊपर) जाकर परमोच्च सर्वमूलक स्थान (गति) (ब्रह्मात्मैक्य) प्राप्त करता है -२८।"

इसमें 'योगी' शब्द गीता ने दिये अर्थ में आया है। ऐसा योगी उपर्युक्त दोनों मार्ग जानता हुवा भी 'मोह में नहीं फँसता'। प्रायः इसका अर्थ किया जाता है कि वह (पुनर्जन्मदायक) पितृयाण मार्ग त्याग कर 'अनावृत्ति' का देवयान मार्ग स्वीकार करता है। उदाहरणार्थ, रामानुजाचार्य कहते है, "एतौ मार्गौ जानन् योगी प्रयाणकाले कश्चन न मुह्यति, अपितु स्वेनैव देवयानेन पथा याति"। तिलक भी ऐसा ही विचार व्यक्त करते है (पूर्व उल्लिखित, पृ० ७५२)। किन्तु श्रीकृष्ण को देवयान मार्ग की प्रशंसा करनी होती, तो वे अर्जुन को 'तू देवयान के शुभ समय पर प्राण त्याग कर' ऐसा कहते; परंतु, आखिर वे किसी भी विशेष समय को महत्त्व न देते हुए, अर्जुन को "सर्वेषु कालेषु" योगयुक्त रहने का आदेश देते हैं (८-७), तथा गीतोपदेश समाप्त करने में भी श्लोक १८-५६,५७ में अर्जुन को "सततं" बुद्धियोग में चित्त रखने कहते हैं, ताकि (कभी भी मृत्यु होने पर) वास्तविक अमृतत्त्व गति प्राप्त होगी ।

वस्तुतः श्लोक ८-२७ में श्रीकृष्ण का प्रतिपादन यह है कि, गीता का योगी देवयान एवं पितृयाण, ब्रह्मलोक एवं चन्द्रलोक, इनमें से किसी से भी आकृष्ट न होकर, सर्वकाल चित्त संपूर्ण साम्यावस्था में रखता है, और किसी भी समय मृत्यु आने पर परम पद प्राप्त करता है ।

यद्यपि देवयान मार्ग से जाने वाले 'ब्रह्मलोक' में 'अनन्त' काल रहते हैं एवं वापस नहीं आते ऐसा बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है, फिर भी गीता के अनुसार देवयान पंथी पितृयाण से जाने वालों के समान बारबार पुनर्जन्म प्राप्त न करने पर भी आखिर उन्हें भी ब्रह्मलोक से लौटना पड़ता है। वास्तविक अपुनरावृत्ति, पुनर्जन्म से संपूर्ण मुक्ति, गीतोक्त बुद्धियोग द्वारा परमेश्वर स्वरूप को प्राप्त होने से मिलती है

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥८-१५

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६

"परम सिद्धि प्राप्त करने वाले महात्मा मुझे पहुँचकर दुःखसागर स्वरूप अशाश्वत पुनर्जन्म नहीं पाते हैं– १५। अर्जुन, ब्रह्मभुवन तक के सब (देव) लोकों से (कभी न कभी) वापिस लौटना पड़ता है; किन्तु, अर्जुन मुझे पहुँचने पर पुनर्जन्म (कभी भी) नहीं होता -१६।" ऐसा ही श्लोक १५-६ में भी बताया है। कल्प के आरंभ में होने वाले पुनरागमन से भी संपूर्ण मुक्ति बुद्धियोग द्वारा त्रिगुणातीत अवस्था प्राप्त करने से प्राप्त होती है। इस संदर्भ में श्रीकृष्ण कहते हैं–

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१४-१
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२

"मैं तुझे फिर सब ज्ञानों में उत्तम ज्ञान कथन करता हूँ, इसे प्राप्त कर सब ऋषि मुनि इहलोक से (मुक्त होकर) परम गति को पहुँचे– १। इस (सर्वोत्तम अध्यात्म-) ज्ञान का अनुसरण कर जो मेरे स्वरूप को प्राप्त होते हैं, वे सृष्टि आरंभ में भी (पुनः) जन्म नहीं लेते, तथा प्रलय काल में किसी भी प्रकार व्यथा नहीं पाते -२"।

देवयान-पितृयाण पंथों के वर्णन में आये शब्दों को स्थलसूचक माना या कालसूचक, इन दोनों मार्गों के अतीत जाने के लिये गीता द्वारा दिये आदेश की उदात्तता में कोई कमी नहीं आती।

"मत्स्थानि सर्वभूतानि" फिर भी "न च मत्स्थानि भूतानि"

नौवें अध्याय का आरंभ इस आश्वासन से होता है–

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥९-१
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३

"मत्सरादि रहित (शुद्ध) चित्त के तुझे मैं अब अत्यंत गूढ़ ज्ञान विज्ञान के साथ कथन करता हूँ,[६] जिसे प्राप्त करने से तू अशुभ (अकल्याण) से मुक्त रहेगा– १। यह सर्वोच्च विद्या एवं सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक रहस्य होकर, पवित्र, उत्तम, प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकने वाला, श्रेयस्कर, (शुद्धचित्त साधक को) सुसाध्य, एवं शाश्वत (त्रिकाल सत्य) है– २। अर्जुन, (मेरे द्वारा बताये) इस (बुद्धि-) योग मार्ग में श्रद्धा न रखने

वाले व्यक्ति मुझ तक न पहुँच कर मृत्यु से ग्रस्त ऐहिक संसार के मार्ग पर वापिस लौटते हैं– ३"।

इतना कह कर श्रीकृष्ण बोले–

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥९-४

"मेरे अव्यक्त स्वरूप द्वारा मैंने यह सारा जगत् व्याप्त किया है, सब प्राणी मुझ में स्थित हैं, फिर भी मैं उनमें समाविष्ट नहीं (मेरा विस्तार उनसे भी परे है)"। इसमें अंतिम चरण का आशय यह है कि ईश्वर अपने केवल एक अंश से सारा जगत् व्याप्त करता है।[७] दसवें अध्याय में अपनी प्रमुख विभूतियाँ बताने के बाद श्रीकृष्ण कहते हैं–

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ १०-४२

"अथवा, अर्जुन, (मेरे विस्तार के बारे में) यह सारा जानने से तुझे क्या मतलब? (सारांश में इतना जान ले कि) मैंने यह संपूर्ण जगत् (मेरे) केवल एक अंश से व्याप्त किया है।"

किन्तु श्लोक ९-४ में "मत्स्थानि सर्वभूतानि" कहने बाद श्रीकृष्ण तुरन्त श्लोक ५ में उसके विरुद्ध कहते हैं–

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥९-५

"तथा (विरले महात्मा छोड़कर) प्राणी मुझ में स्थित नहीं भी हैं (मेरे वास्तविक स्वरूप को नहीं प्राप्त होते हैं)। मेरी सर्वश्रेष्ठ योगशक्ति देख, प्राणियों का निर्माता एवं पालन-पोषण कर्ता होने पर भी मैं प्राणियों में समाविष्ट नहीं (मेरा विस्तार उनसे भी परे है)"।

फिर किस आशय से श्रीकृष्ण ने पहले "मत्स्थानि सर्वभूतानि" कहा ? गीता एक उपमा से यह स्पष्ट करती है :

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥९-६

"जिस प्रकार महा बलवान् वायु सर्वत्र संचार करता हुआ भी सदा आकाश की सीमा में ही रहता है, उसी प्रकार (अनेक योनियों में भ्रमण करने वाले) सब प्राणी मुझ में स्थित होते हैं यह जान ले"। सब प्राणी (अपने कर्मों के अनुसार) संसार चक्र में सब दिशाओं में भ्रमण करते हुए भी, ईश्वर के नियंत्रण की सीमा में ही रहते हैं (१८-६१)। इस अर्थ से वे ईश्वर में स्थित होते हैं, किन्तु 'परम ज्ञानी भक्त' योगी होकर परमेश्वर के मूल स्वरूप में 'आस्थित' होना (६-३१, ७-१८,९-२९) अलग बात है।

श्रीकृष्ण सत् और असत् भी

एक श्लोक में श्रीकृष्ण कहते हैं–

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥९-१९

"अर्जुन, मैं (सूर्यरूप से) उष्णता देता हूँ, पर्जन्य का जल (भाप रूप में) खींच लेता हूँ और उसे वापिस फिर छोड़ता हूँ, मैं अमृतत्व प्रदान करनेवाला एवं मृत्यु देने वाला हूँ, मैं सत् एवं असत् (भी) हूँ"। अर्जुन भी विश्वरूप श्रीकृष्ण का 'सत् एवं असत्' इन दोनों प्रकार से वर्णन करता है–

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥११-३७

"हे महात्मन्, ब्रह्मदेव के भी आदि निर्माता एवं परमश्रेष्ठ ऐसे आपको वे (सिद्ध समुदाय) क्यों नमस्कार न करेंगे ? हे अनंत, जगत् के आधार, देवाधिदेव, आप सत् एवं असत् हैं, तथा आप जो परम अक्षर (ब्रह्म) है, वह हैं"

किन्तु श्रीकृष्ण ऐसा भी कहते हैं–

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१३-१२

"जो (अंतिम) श्रेय (जानने का) है, जिसे जानने से (अनुभव करने से) अमृतत्व (मोक्ष) प्राप्त होता है, वह मैं तुझे बताता हूँ, उस अनादि परम ब्रह्म को न सत् कहते हैं और न असत् भी"।

इस दूसरे वर्णन का स्पष्ट ही ऋग्वेद के निम्न वचन से साम्य है, "न असत् आसीत् नो सत् आसीत् तदानीम्" (१०-१२०)। किन्तु इसके भी विपरीत छांदोग्य उपनिषद् में कहा है, "सत् एव सौम्य इदम् अग्रे आसीत् एकमेवाद्वितीयम्" (६-१) इस संदर्भ में ध्यान देने की बात यह है कि गीताकार ने ऋग्वेदीय वचन के 'आसीत्' के स्थान पर 'उच्यते' शब्द प्रयुक्त कर, वह प्रतीत होने वाला विरोध हटा दिया है । परब्रह्म सर्वकाल 'सत्' होता है, किन्तु 'असत्' स्वरूप सृष्टि की निर्मिति के पूर्व वह एकमेव अद्वितीय होने से, उस स्थिति में इसे 'सत्' ऐसा विशेष रूप से 'कहने में' (संबोधित करने में) भी क्या मतलब? जब 'असत्' (विनाशवान् सृष्टि) अस्तित्व में हो, तब उससे भिन्न परम चेतन तत्त्व 'सत्' कहा जाकर उस 'असत्' में भी होता है। प्रकृति से निर्मित व्यक्त सृष्टि परिवर्तनशील एवं आदि अंत सहित होने से स्वरूपतः 'असत्' है, किन्तु मूल अव्यक्त अचेतन प्रकृति भी परमेश्वर का ही रूप होने से, श्रीकृष्ण उस 'असत्' में भी

मैं हूँ ऐसा श्लोक ९-१९ में कहते हैं। परन्तु जब 'असत्' निर्माण ही न हुआ हो, तब 'सत्' को ('असत्' से भिन्न दर्शाने) 'सत्' भी किस लिये संबोधित करना ? उस समय उसे "न सत् न असत् उच्यते"।

इस प्रकार श्लोक १३-१२ में आया ब्रह्म का वर्णन 'असत्' रूप सृष्टि के निर्माण पूर्व का (एवं प्रलय के बाद का) है; या, जब योगारूढ सिद्ध के विशुद्ध हृदय में समग्र भौतिक सृष्टि 'दृष्टि से ओझल' होकर, एकमेव परमेश्वर में ध्यान केन्द्रित होता है, उस अवस्था का है। इसके विपरीत, श्लोक ९-१९ में श्रीकृष्ण के, एवं ११-३७ में अर्जुन के, वचन जब अर्जुन को श्रीकृष्ण के अलावा असत् रूप सृष्टि भी दीख रही थी उस स्थिति के संबंध में हैं।

गीताकार 'दैवी' शब्द के समान 'सत्' (एवं असत्) का एक अलग अर्थ से भी प्रयोग करते हैं; उस अर्थ से श्रीकृष्ण सदा 'सत्' होकर कभी भी 'असत्' नहीं होते।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥१७-२६
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७

"अर्जुन, जहाँ सात्त्विकता एवं साधुवृत्ति हो, वहां 'सत्' यह शब्द प्रयुक्त किया जाता है; इसी प्रकार, प्रशस्त (अच्छे) कर्म को 'सत्' शब्द प्रयुक्त किया जाता है -२६। और यज्ञ, तप एवं दान में स्थिर निष्ठा को 'सत्' ऐसा कहते है, एवं उनके संबंध में किये कर्म को भी 'सत्' ऐसा ही कहा जाता है -२७"। इसके विपरीत–

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८

"अर्जुन, बिना श्रद्धा से जो (यज्ञ में) हवन किया जाता है, (दान) दिया जाता है, तप किया जाता है, या अन्य कर्म किया जाता है, उसे 'असत्' ऐसा कहते हैं; वह न इस जीवन में न मरणोपरान्त भी कल्याणकारक होता है।" इसके अनुसार जो अच्छा वह 'सत्' तथा जो बुरा वह 'असत्'।

'पापयोनयः' कौन ?

श्रीकृष्ण कहते हैं–

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥९-३२
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३

"अर्जुन, (घोर) पाप करने वालों को प्राप्त शरीरों में जन्मने वाले जो कोई

(अंधे, लंगड़े, गूंगे, अपंग मानस आदि) हों, तथा स्त्रियां, वैश्य एवं शूद्र वे भी, मेरी भक्ति कर परम गति को पहुँचते हैं–३२। फिर, मेरी भक्ति करने वाले सदाचारी ब्राह्मण एवं ऋषि तुल्य राजा परम गति को पहुँचते है यह तो कहनाही क्या ? (तू) इस अनित्य सुखहीन (मर्त्य) लोक को प्राप्त हुआ है इसलिये मेरी भक्ति कर -३३"। यहाँ "पापयोनयः" का संबंध "स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः" से नही हैं; वैसा आशय होता तो "पापयोनयः" के साथ "ये ऽपि स्युः" ('जो कोई हो') इसके बजाय 'सन्ति' या उसके समान क्रियापद आता। इसके अलावा, स्वयं श्रीकृष्ण को "जगतो माता" (९-१७) ऐसे स्त्रीरूप में भी दर्शाने वाली गीता में क्या स्त्रियों को 'पापयोनयः' कहा होता ? श्रीकृष्ण अपने विभूति वर्णन में भी स्त्री वर्ग का पूर्ण सम्मान करते हैं–

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥१०-३४

"मैं सर्व संहारक मृत्यु तथा भविष्य में होने वालों का उद्‌भव हूँ, स्त्रियों में मैं कीर्ति, श्री (लक्ष्मी), वाक् (सरस्वती), स्मृति, मेधा, धृति एवं क्षमा हूँ।" ये पौराणिक श्रेष्ठ स्त्रियां होकर, इनमें से हर एक किसी विशेष गुण की अधिष्ठात्री देवता है।'श्री' यह महर्षि भृगु की, एवं 'वाक्' ब्रह्मा की कन्या होकर, शेष पाँच दक्षकन्या है ।

इसी प्रकार, महाभारतकार का व्यापक सामाजिक दृष्टिकोण देखते, वे वैश्यों को एवं शूद्रों को 'पापयोनयः' कहते ऐसा प्रतीत नहीं होता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि, अन्न से प्राणी जीवित रहते है, एवं अन्न (कृषि द्वारा) पर्जन्य से प्राप्त होता है (३-१४) कृषि को यह महत्त्वपूर्ण स्थान देकर श्रीकृष्ण उसे वैश्य का कर्म बताते हैं (१८-४४)। फिर, वे ही वैश्यों को 'पापयोनयः' कैसा कहते ? इसके अलावा, वे वैश्यकर्म में 'गौरक्ष्य' का भी समावेश करते है, और नंद के घर श्रीकृष्ण स्वयं 'गोपाल' थे; क्या श्रीकृष्ण नंद को भी 'पापयोनि' कहते ?

महाभारत के आश्वमेधिक पर्व में (अनुगीता उपपर्व में) गीता के उपर्युक्त श्लोक के समान यह श्लोक आया है–

इमं धर्मं समास्थाय येऽपि स्युः पापयोनयः
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

(अध्याय १९)। और उसी पर्व में (अध्यय ३६) पापकर्मी जिन योनियों में जन्म लेते हैं वे बताई है; उनमें 'स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः' का उल्लेख न होकर, पशु[१], कीटक, एवं उनके अलावा बहिरे, गूंगे आदि का समावेश किया है। इसी प्रकार शांतिपर्व का (अध्याय ३०२) यह श्लोक भी देखिये :

निष्कैवल्येन पापेन तिर्यग्योनिमवाप्नुयात्
पुण्यपापेन मानुष्यं पुण्येनैकेन देवताः ॥

इसमें कहा है कि, मात्र पुण्य से देवलोक, पुण्य एवं पाप दोनों करने पर मनुष्य देह, तथा केवल पाप से तिर्यक् योनि प्राप्त होती है। इस निर्यक् योनि का अर्थ पशु आदि योनि ऐसा किया जाता है। ये 'पापयोनयः' व्यक्ति निम्न उद्धृत श्लोकों में उल्लेख किये दुष्ट प्रवृत्ति के मानव भी हो सकते हैं :

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१६-१८
तानंह द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०

"अहंकार, बल, उन्मत्तता, आसक्ति तथा क्रोध के अधीन होकर, उनके तथा अन्य (सभी) प्राणियों के शरीरों में स्थित मेरी (परमात्मा की) निंदा एवं अति द्वेष करने वाले -१८, इन द्वेषी, क्रूर, पापी नराधमों को मैं संसार चक्रों में बारबार आसुरी (हीन) योनियों में डालता हूँ –१९ अर्जुन ! वे मूढ अनेक जन्मों में आसुरी योनि को प्राप्त होकर मुझ तक न पहुँचते इस प्रकार अधम गति को जाते हैं-२०" श्रीकृष्ण कहते हैं कि, ये भी यदि कुमार्ग त्याग कर ईश्वरभक्ति के साथ सन्मार्ग आचरेंगे तो परमोच्च स्थान प्राप्त कर सकते हैं; उनके उद्धार का रास्ता हमेशा के लिये बंद नहीं होता है

इन लोगों का " स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः" से कुछ भी संबंध नहीं, बल्कि यहाँ वैश्य एवं शूद्रों का उल्लेख स्त्रियों के साथ किया है इसी पर से दीखता है कि वह उल्लेख, किसी भी हीन आशय का नहीं। पूर्वजन्म के पाप के कारण स्त्री जन्म प्राप्त होता है ऐसा कहीं भी कहा नहीं है। तथा भारतीय परपंरा में प्रायः प्रत्येक देव को उतनी ही पूज्य पत्नी (देवता) है; स्वयं श्रीकृष्ण का स्त्री वर्ग के बारे में दृष्टिकोण ऊपर दिग्दर्शित किया है।

श्लोक ९-३२ में "स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः" का 'अपि' के साथ उल्लेख करने में यह आशय देखा जा सकता है। महिलाओं को विशिष्ट देह रचना, तथा वैश्य एवं शूद्रों के सामाजिक कार्यों का स्वरूप देखते, कुछ बिरले अपवाद छोड़कर उन्हें अन्य मोक्ष-साधकों के समान गहन तप क्रिया (१७-२४, २५, '१८-५) आदि प्रायः संभव नहीं होती है; अतः श्रीकृष्ण आश्वासन देते हैं कि ये भी अपने कर्तव्य करते हुए एकनिष्ठ ईश्वरभक्ति करें तो परम गति प्राप्त कर सकते हैं।

श्लोक ९-३३ में 'ब्राह्मणाः' के बाद आये 'पुण्याः' शब्द का आशय ('पापयोनयः' के विपरीत) 'पुण्ययोनयः' न होकर, 'सदाचारी' ऐसा है, तथा उसका संबंध पूर्वजन्म से नहीं। 'राजर्षयः' का भी वैसा ही आशय होकर, 'भक्ताः' यह दोनों का विशेषण है।

"द्यूतं छलयतामस्मि"

अपना विभूति विस्तार बताने में श्रीकृष्ण कहते हैं–

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् १०-३६

इसमें "द्यूतं छलयताम् अस्मि" इस प्रथम चरण का संबंध धूत क्रीडा (जूआ) से लगाकर, इसका अर्थ 'छलकपट करने वालों में मैं पासों से खेलने का द्यूत हूँ' इस आशय का किया जाता है। क्या यह संपूर्ण गीता से, महाभारत से एवं श्रीकृष्ण-चरित्र से सुसंगत है ?

इस चरण का इस तरह अर्थ करने के कुछ उदाहरण प्रस्तुत है। शंकराचार्य लिखते है, "द्यूतम् अक्षदेवनादिलक्षणं छलयतां छलस्य कर्तृणाम् अस्मि" (छलकपट करने वालों में मैं पासों से खेलना आदि स्वरूप का द्यूत हूँ)। रामानुजाचार्य यह अनुवाद देते है, "छलं कुर्वतां छलास्पदेषु अक्षादि लक्षणम् द्यूतम् अस्मि"। अपने स्वार्थहेतु किसी को ठगकर इसका वित्तहरण करने को छलकपट कहते है; किन्तु "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्म संस्थापनार्थाय" (४-८) अवतार लेने वाले श्रीकृष्ण को छल-कपट युक्त द्यूत कर्म से किसी का कुछ भी अपहरण करने का क्या कारण हो सकता था ?

जयदयाल गोयंदका (गीताप्रेस द्वारा प्रकाशित 'तत्त्वविवेचनी' टीका) इस गीतावचन का "मैं छल करने वालों में जुआ हूँ" यह अनुवाद कर, उसके स्पष्टीकरण से "द्यूत अर्थात् जूआ तो बहुत बुरी चीज है और शास्त्रों में इसका बड़ा निषेध है, इसको भगवान् ने अपना स्वरूप क्यों बतलाया ?" यह प्रश्न स्वयं ही उठाकर उसके उत्तर में लिखते हैं, "संसार में उत्तम, मध्यम और नीच- जितने भी जीव और पदार्थ हैं सभी में भगवान व्याप्त है .... ऐसे सब प्रकार के सात्त्विक, राजस और तामस जीवों एवं पदार्थों में जो विशेष गुण, विशेष प्रभाव और विशेष चमत्कार से युक्त है, उसीमें भगवान् की सत्ता और शक्ति का विशेष विकास है .....इसी से छल करने वालों में जूए को भगवान् ने अपना स्वरूप बताया है । इसे उत्तम बतलाकर इसमें प्रवृत्त करने के उद्देश्य से नहीं"। किन्तु गीता के इस दसवें अध्याय में श्रीकृष्ण संसार की सब चीजों का विवेचन न करते हुए अपनी 'दिव्य विभूति' बता रहे है (देखिये श्लोक १६,१९,४०)। क्या उनमें वे छलकपट द्वारा ठगने की द्यूतक्रीडा का समावेश करते ?

हरे कृष्ण संप्रदाय के भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद ('भगवद्गीता यथारूप') प्रस्तुत गीता वचन का "मैं छलियों में जुआ हूँ" यह अर्थ देकर, स्पष्टीकरण में लिखते है, "ब्रह्मांड में अनेक प्रकार के छलिया हैं। समस्त छल-कपट कर्मो में द्यूत-क्रीडा (जुआ) सर्वोपरि है और यह कृष्ण का प्रतीक है। परमेश्वर के रूप में कृष्ण किसी भी सामान्य पुरुष की अपेक्षा अधिक कपटी (छल करने वाले) हैं। यदि कृष्ण किसी से छल करने

की सोच लेते हैं तो कोई उनसे पार नहीं पा सकता । उनकी महानता एकांगी न होकर सर्वांगी है।" इसमें भगवान् श्रीकृष्ण को स्वयं अपने ही मुँह से सर्वाधिक कपटी एवं छलकारी बताया है।

इसी प्रकार सातवलेकर ('पुरुषार्थ बोधिनी टीका', मराठी संस्करण) लिखते हैं, 'उत्तम ज्ञान, उत्तम वादविवाद शैली, उत्तम गुप्तता, उत्तम दंडशासन, उत्तम तेजस्विता, उत्तम बल, उत्तम नीति, उत्तम जय, उत्तम निश्चय एवं उत्तम छल ये सब गुण ईश्वर की विभूति हैं। ये गुण गुणी पुरुषों में होते हैं'। इस संदर्भ में 'उत्तम छल' का क्या अर्थ करना? सातवलेकर और लिखते हैं, 'छल, कपट करनेवाले के पास छलकपट के अनेक साधन होते हैं, उनमें द्यूत ही एक ऐसा साधन है कि जिसमें विशेष छल एवं कपट होता है, अतः वह विभूति है ......यहाँ छलभाव की परमावधि होने से विभूतिमत्त्व है'।

छल-कपट की परमावधि में श्रीकृष्ण की 'दिव्य विभूति' हो, तो क्या सीताहरण कर्त्ता रावण, भगिनी देवकी के सात जन्मजात अर्भकों की हत्या करने वाला कंस, लाक्षागृह में पांडवों को कुंती सह जीवित जलाना चाहने वाले एवं द्रौपदीवस्त्र हरण के साथ पांडवों को राज्यभ्रष्ट करने वाले कपटद्यूती शकुनि, दुर्योधन एवं दुःशासन आदि में श्रीकृष्ण का दिव्य विभूतिरूप देखना होगा ?

अरविंद इस गीता वचन का यह अनुवाद देते हैं, "I am the gambling of the cunning ('The Gita' P.170)। राधाकृष्णन् द्वारा दिया अनुवाद यह है "of the deceitful I am the gambling".

इस प्रकार प्रस्तुत गीता वचन का संबंध कुटिल द्यूतकर्म से लगाकर उसमें श्रीकृष्ण का एक विभूति रूप देखा जाता है। वल्लभाचार्य इसमें ऐसा ही किन्तु कुछ फरक के साथ यह आशय देखते हैं, "छलयतां सम्बन्धि धर्मद्यूतं छलम् अहम् यथा युधिष्ठिरे भगवत्सेवोपयोगिक्रीडासाधनेषु अक्षलक्षणेषु द्यूतं वा भगवद्विभूतिः।" वल्लभाचार्य के अनुसार श्रीकृष्ण का विभूति रूप द्यूत शकुनि का कपटद्यूत न होकर नियमानुसार होने वाला धर्मद्यूत है; किन्तु फिर इसका सुसंगत संबंध 'छलयतां' से नहीं लगेगा। ऐसे द्यूत में हारजीत पूर्णतः दैवाधीन होने से उसमें जीतने वाले ने कपट द्वारा वित्तहरण किया ऐसा नहीं कहा जावेगा; और उसे कपटपूर्ण द्यूत कहा तो वह वचन श्रीकृष्ण का विभूतिरूप नहीं होगा ।

किन्तु इसके अलावा, यहाँ महत्त्व का प्रश्न यह है कि, श्रीकृष्ण की कुल द्यूतक्रीडा के बारे में क्या धारणा थी ? क्या उन्हें किसी भी स्वरूप का द्यूत मान्य था? सौभाग्य से इस विषय में महाभारत में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के निःसंदिग्ध वचन उपलब्ध हैं। शकुनि से कपटद्यूत में हारकर पांडव द्रौपदी के साथ वनवास पर जाने के बाद, श्रीकृष्ण उनको सान्त्वना देने उन्हें आकर मिले (वनपर्व अध्याय १३ से २२)। उस समय उन्होंने कहा कि, हस्तिनापुर में द्यूत हुआ तब वे द्वारका के पास शाल्व के विरुद्ध लड़ने

में व्यस्त होने से द्यूत के समय उपस्थित नहीं हो सके, अन्यथा वे वह द्यूत नहीं होने देते। श्रीकृष्ण बोले–

आगच्छेयमहं द्यूतमनाहूतोऽपि कौरवैः
आम्बिकेयेन दुर्धर्ष राज्ञा दुर्योधनेन च
वारमेयमहं द्यूतं बहून् दोषान् प्रदर्शयन् ॥१३-२
वीरसेनसुतो यैस्तु राज्यात् प्रभ्रंशितः पुरा
अतर्कित विनाशश्च देवनेन विशाम्पते ॥५
सातत्यं च प्रसङ्गस्य वर्णयेयं यथातथम् ॥६
स्त्रियोऽक्षा मृगया पानमेतत् कामसमुत्थितम्
दुःखं चतुष्टयं प्रोक्तं यैर्नरो भ्रश्यते श्रियः ॥७
तत्र सर्वत्र वक्तव्यं मन्यन्ते शास्त्रकोविदाः
विशेषतश्च वक्तव्यं द्यूते पश्यन्ति तद्विदः ॥८
एकाहाद् द्रव्यनाशोऽत्र ध्रुवं व्यसनमेव च
अभुक्तनाशश्चार्थानां वाक्पारुष्यं च केवलम् ॥९
एतच्चान्यच्च कौरव्य प्रसङ्गिकटुकोदयम्
द्यूते ब्रूयां महावाहो समासाद्याँम्बिकासुतम् ॥१०

"अजेय युधिष्ठिर! मुझे धृतराष्ट्र, राजा दुर्योधन एवं अन्य कौरवों द्वारा आमंत्रित न करने पर भी, मैं उस द्यूत के समय उपस्थित रह कर, द्यूत के अनेक दोष बताकर उन्हें द्यूत से परावृत्त करता –२. द्यूत के इन दोषों के कारण पूर्वकाल में वीरसेन पुत्र नल को राज्य भ्रष्ट होना पड़ा; युधिष्ठिर, द्यूत से कल्पनातीत महानाश होता है –५. उसमें बारबार द्यूत की इच्छा होती रहती है, यह मैं यथार्थ कह रहा हूँ – ६. स्त्रीआसक्ति, द्यूत, शिकार एवं मद्यपान ये मानव को ऐश्वर्यहीन करने वाले चार सकामनाजन्य दुःखबीज बताये गये हैं –७. शास्त्रज्ञ विद्वान् इन्हें सदा के लिये निंद्य मानते हैं, किन्तु उनमें द्यूत विशेष रूप से (सर्वाधिक) त्याज्य मानते हैं–८. (द्यूत से) एक ही दिन में संपूर्ण द्रव्यनाश हो सकता है तथा उसका नियमित रूप से व्यसन लगता है, भोग्य चीजो का भोग न करते ही नाश हो जाता है, तथा केवल कटुवचन उच्चारे जाते हैं– ९. युधिष्ठिर, द्यूत में ये तथा अन्य भी दोष होकर उससे कटु प्रसंग उत्पन्न होते है, युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र से मिलकर मैं यह सब उन्हें बताता –१०।" इसमें श्रीकृष्ण ने केवल शकुनि के कपटद्यूत का ही विरोध न कर, समग्र द्यूत क्रीडा को अतीव निंद्य कहा है।

"द्यूतं छलयतामस्ति" इस श्रीकृष्ण वचन का ऊपर उद्धृत अनुवादक जो अर्थ करते हैं वैसा वास्तव में आशय होता, तो पांडवों को श्रीकृष्ण कहते कि, मैं द्यूत समय उपस्थित होता तो शकुनि से भी अधिक कपट कर तुम्हें जिता देता; तथा वल्लभाचार्य द्वारा दिये अर्थ के अनुसार भी श्रीकृष्ण कहते कि, मैं शकुनि का कपट स्पष्ट कर उसे

धर्मद्यूत करने बाध्य करता। किन्तु ऐसा कुछ भी न कहते श्रीकृष्ण ने कहा कि मैं द्यूत होने ही नहीं देता।

यह सारा विवेचन ध्यान में लेते हुए इस गीतावचन में एक अलग ही सुसंगत अर्थ देखना आवश्यक है।

संस्कृत में 'दिव्' धातु के दो भिन्न अर्थ है, 'पासों से जूआ खेलना', और 'त्रस्त होना, त्रस्त करना, पीडा दुःख देना' (देखिये ओक कृत 'गीर्वाण लघु कोश' पृ. ५६१, आपटे कृत 'संस्कृत-हिंदी कोश' पृ. ४५७, 'Sanskrit-English Dictionary' by Vaidya p.332)। इस 'दिव्' धातु से 'द्यूत' शब्द हुआ है (आपटे पृ. ४७९, Vaidya. p.332)। अतः 'द्यूतं' के भी दो भिन्न अर्थ हो सकते हैं–(१) पासों से खेला जूआ तथा (२) पीड़ा, त्रस्तता, दुःख। ऐसा ही एक और शब्द है 'देवनं' (स्त्री०-'देवना'); तथा उसके भी वे दो अर्थ होते हैं। 'जूआ' अर्थ में वह वनपर्व १३-५ (ऊपर उद्धृत) तथा वनपर्व में अन्यत्र भी आया है; और उसके विपरीत वह ('परि' उपसर्ग के साथ) दुःख या शोक इस अर्थ में वनपर्व ७९-९ में एवं गीता के इस श्लोक में भी महाभारतकार ने प्रयुक्त किया है–

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २-२८

अब 'द्यूत' शब्द 'जूआ' अर्थ में स्पष्ट ही महाभारत में अनेक बार आया है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि, महाभारतकार ने वह शब्द 'द्यूतं छलयताम् अस्मि' इस वचन में दुःख या पीड़ा इस अर्थ मे प्रयुक्त कर एक कूट कर रखा है। 'दिव्' धातु से हुआ यह 'द्यूत' शब्द कभी-कभी 'द्यून' ऐसा भी लिखा जाता है (देखिए आपटे पृ. ४५७), तथा उसके क्रीडा एवं पीडा (दुःख) ऐसे दोनों अर्थ होते हैं ('Sanskrit English Dictionary' by Monier Willians, P 500)। महाभारतकार ने प्रस्तुत गीता वचन में वह शब्द 'द्यूत' ऐसा ही रखकर उसका अर्थ 'पीड़ा' किया दीखता है। इसके अनुसार उस वचन का स्पष्टीकरण करनेपूर्व कूटसम्राट् महाकवि ने अन्य भी कुछ शब्दों के किये ऐसे ही असाधारण प्रयोग देखिये–

विराट पर्व ४३-६ में 'षष्टि' शब्द का साठ यह सर्वसामान्य अर्थ छोड़कर, 'छह अधिक ग्यारह, कुल सत्रह' ऐसा असाधारण अर्थ कर किस प्रकार गहन कूट निर्माण किया गया है, यह मैंने 'महाभारत के गूढ रहस्य' पुस्तक में (प्रकरण १४) बताया है। शल्यपर्व १-१२ में 'अपराण्हे' शब्द 'अपराण्ह प्रहर में' इस सरल अर्थ में न लेते 'दूसरे दिन' इस भिन्न अर्थ में प्रयुक्त है (देखिये-मेरी उक्त पुस्तक पृ० १९ से २२)। तथा शांतिपर्व ५१-१४ में 'पंचाशतं' शब्द का प्रयोग पचास इस सर्वथा रूढ अर्थ में न करके, 'पंच + अशतं' ऐसा विग्रह कर किस प्रकार एक पूर्णतया भिन्न आशय व्यक्त किया गया है, यह भी मैंने उक्त पुस्तक में (पृ. ७१-७३) स्पष्ट किया है।

इस सारी पृष्ठभूमि में "द्यूतं छलयताम् अस्मि" इस वचन में 'द्यूतं' का ऊपर निर्दिष्ट विशिष्ट अर्थ ध्यान में लेने पर यह वचन पूर्ण सरल एवं युक्ति संगत प्रतीत होकर उसका अर्थ यह होता है, "छलकपट करने वालों की पीड़ा मैं हूँ, उन्हें पीड़ा देने वाला मैं हूँ"। यह अर्थ श्रीकृष्ण चरित्र से, संपूर्ण गीता एवं महाभारत से, तथा सामाजिक नीतिनियमों से पूर्ण सुसंगत है। श्रीकृष्ण किसी भी प्रकार द्यूतक्रीडा समर्थक न होकर द्यूतक्रीड़ा विरोधी है, स्वयं छलकपट करनेवाले न होकर छलकपट करने वालों को शासन करने वाले हैं। इसी तरह वे कहते है, 'दण्डो दमयताम् अस्मि' (१०-३८) 'दुराचारिथों को दंड देने वालों की दंडशक्ति मैं हूँ'। किन्तु इन दो वचनों में भी कुछ सूक्ष्म फरक है। समाज में राजदंड अपराधियों को उचित सजा देता है, फिर भी कुछ अपराधी चालबाजियाँ कर स्वयं को बचा लेते हैं। ऐसे छलकपट करनेवालों को भी उनके दुष्कर्मों के अनुसार सजा भुगतने श्रीकृष्ण बाध्य करते हैं।

अब संपूर्ण श्लोक १०-३६ का यह अर्थ उपलब्ध होता है, "छलकपट करने वालों को पीड़ा देने वाला मैं हूँ, तेजस्वी व्यक्तियों का तेज मैं हूँ, सदाचारी व्यक्तियों की सात्त्विकता, जय, एवं उनकी निश्चयकारी बुद्धि मैं हूँ।"

अर्जुन ने श्रीकृष्ण के कितने रूप देखे ?

कई लेखकों को धारणा है कि, गीतोपदेश में अर्जुन ने श्रीकृष्ण को केवल दो रूपों में देखा – मनुष्यरूप और विश्वरूप। किन्तु अर्जुन ने इस समय श्रीकृष्ण का और भी एक रूप देखा था ।

अर्जुन ने हमेशा देखा श्रीकृष्ण का रूप था द्विभुज मानवरूप। इसी रूप में वे अर्जुन का उस युद्ध में सारथ्य भी कर रहे थे। श्रीकृष्ण का विराट विश्वरूप में दर्शन करने के बाद, अर्जुन ने उस चिरपरिचित मानवदेहधारी श्रीकृष्ण का बड़ा सहृदय मार्मिक दिग्दर्शन किया है–

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥११-४१
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२

"आपका यह (अपार) महिमा न पहिचानकर, एवं आपको (मात्र एक सामान्य मानवदेहधारी) मित्र मानकर, मैं भूल से या स्नेहभाव से, अनादरपूर्वक 'हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा' ऐसा कहते आया हूँ-४१, और इसी प्रकार, धुमते फिरते समय, सोते समय,

आराम से आसन पर बैठे समय, या भोजन करते समय, जब आप अकेले या कुछ अन्यों के साथ थे, मैनें विनोदभाव से जो कुछ आपको (आप की महानता को) अपमान कारक कहा हो, उसकी हे अचिन्त्य स्वरूप परमेश्वर, मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ-४२" अर्जुन

अर्जुन जिस विश्वरूप के सामने यह प्रार्थना कर रहा था, उस अद्भुत रूप को गीता में 'ऐश्वर' (ईश्वरी) रूप कहा है। वह देखने की इच्छा व्यक्त करते हुए अर्जुन बोला था–

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥११-२
एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥३
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४

"कमलनयन श्रीकृष्ण, (सब) प्राणियों की आपसे उत्पत्ति एवं (कल्प के अंत में आप में उनका) लय, तथा आपकी परम महत्ता (योगसामर्थ्य) यह (आपने कहा वह) मैंने विस्तार से श्रवण किया– २. हे पुरुषोत्तम परमेश्वर, यह जो आपने स्वयं का वर्णन किया, तदनुसार मैं आपके 'ऐश्वर' रूप का दर्शन करना चाहता हूँ – ३. योगेश्वर प्रभो, यदि मैं वह देख सकता हूँ ऐसा आप मानते हों, तो आपका (वह) अविनाशी रूप मुझे दिखाइये–४."। इसपर अपनी सम्मति दर्शाते श्रीकृष्ण ने कहा–

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५
पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥६
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥७
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८

'अर्जुन, (मेरे इस रूप में) मेरे सैकड़ों-हजारों, नाना प्रकार के, नाना रंगों एवं आकृतियों के, दिव्य (अलौकिक) रूप देख ५। अर्जुन, (मेरे विश्वरूप में) (सब) आदित्य,[१०] वसु,[११] रूद्र[१२], दोनों अश्विनी कुमार, एवं मरुद्गण[१३] इन्हें देख; तथा पूर्व में न देखे कई आश्चर्यकारक दृश्य देख– ६। अर्जुन, यहाँ तू अब मेरे इस देह में एकत्र हुआ चराचरसहित समस्त जग, एवं अन्य भी जो तू देखना चाहेगा, वह देख-७। किन्तु, अपनी इन (सामान्य) आँखों से ही तू मुझे (इस ऐश्वर रूप में) नहीं देख सकेगा, अतः मैं तुझे

दिव्य दृष्टि देता हूँ, (ज़िसके द्वारा) मेरा यह ऐश्वर योग स्वरूप देख -८"। ऐसा कहकर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिव्य दृष्टि प्रदान की, और अपना विश्वरूप प्रकट किया। यह वर्णन करने में संजय पुनः उस रूप को 'ऐश्वर' कहता है—

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥९

"राजन् (धृतराष्ट्र)! इस प्रकार कहकर तदनंतर महायोगेश्वर कृष्ण ने अर्जुन को अपना परम ऐश्वर रूप दिखाया"।

उस अद्भुत अनंत रूप का दर्शन कर अर्जुन कहता है—

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५

"हे देवाधिदेव, मैं आपके (इस) देह में कमलासन पर अधिष्ठित प्रजापति ब्रह्मदेव, अन्य भी सब देव, सब ऋषि, एवं दिव्य सर्प, तथा विभिन्न प्रकार के प्राणिसमुदाय देख रहा हूँ"।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलर्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८

"अनेक बाहू, उदर, मुख एवं नेत्रों से युक्त तथा सभी ओर से अनन्त ऐसे स्वरूप में आपको मैं देख रहा हूँ; हे विश्वेश्वर, विश्वरूप, मुझे आपका न अन्त, न मध्य, न आदि भी दीख रहा है- १६। मैं आपको मुकुटधारी, गदाधारी, चक्रधारी, एवं सब ओर से

प्रकाशमान तेजोमय, प्रज्वलित अग्नि और सूर्य के समान सर्वत्र प्रकाशयुक्त, असीम (अनन्त) तथा जिसकी ओर दृष्टि क्षेप करना भी अति कठिन है, ऐसे स्वरूप में देख रहा हूँ -१७। आप परम अक्षर एवं (अंतिम) ज्ञेय है, आप इस विश्व का मूलाधार है, आप शाश्वत नीतिधर्म के संरक्षक,[१४] अविनाशी हैं, तथा आप सनातन (अनादि) पुरुष हैं, यह मेरी धारणा है—१८"।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९

"मैं आपको आदि-मध्य-अंत रहित, असीम शक्ति संपन्न, अनगिनत बाहुओं से युक्त, सूर्य एवं चन्द्र जिसके आँखों के स्थान पर है, प्रज्वलित अग्नि समान मुँहवाले, अपने तेज से इस विश्व को तप्त करने वाले, ऐसे रूप में देख रहा हूँ"[१५]।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०
अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२

"हे महात्मन्, आकाश एवं पृथ्वी के बीच का यह (समग्र) अंतर एवं सारी दिशाएँ अकेले आपने व्याप्त की हैं, आपका यह अद्भुत उग्र रूप देखकर तीनों लोक घबरा गये हैं—२०। देवों के ये समुदाय आपमें प्रवेश कर रहे है, कुछ भयभीत हुए हाथ जोड़कर प्रार्थना कर रहे है, महर्षियों एवं सिद्धों के समुदाय '(विश्व का) कल्याण हो' ऐसा कहकर अनेक स्तोत्रों से आपका स्तवन कर रहे हैं—२१। जो रुद्र, आदित्य, वसु, साध्यदेव,[१६] विश्वेदेव,[१७] दोनों अश्विनीकुमार, मरुतदेव, एवं (अर्पण किया) उष्ण अन्न ग्रहण करने वाले (पितर) तथा गंधर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धों के समुदाय हैं, वे सब आश्चर्य चकित होकर आप (विश्वरूपधारी) की ओर देख रहे है— २२"

इस विश्वरूप में किरीट, गदा एवं (सुदर्शन) चक्र देखकर ये विष्णु हैं, ऐसी कल्पना अर्जुन के मन में आयी। किन्तु उसने विष्णु का ऐसा विकराल भीषण रूप कभी सुना तक नहीं था; अतः उस विश्वरूप को 'विष्णु' संबोधित कर खात्री कर लेने उसने घबराते हुए कहा–

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४
लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०
आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१

"हे विष्णो, आकाश तक पहुँचे, देदीप्यमान, विविध रंगो से युक्त, मुँह फैलाये हुए, तथा विशाल नेत्रों वाले आपको देखकर मेरा अंतःकरण भयभीत हो रहा है, एवं मैं धीरज खो कर मेरे मन की शांति नष्ट हो गई है– २४। सब ओर के (इन) समग्र लोगों को आपके ज्वलंत मुखों द्वारा ग्रास करते हुए आप जिह्वाएँ चाट रहे हैं; हे विष्णो, आपकी उग्र प्रभा संपूर्ण जग को तेज से व्याप्त कर अति तप्त कर रही है–३०। हे उग्ररूपधारी, आप कौन हैं मुझे बताइये; हे देवाधिदेव, मैं आपको नमन करता हूँ, प्रसन्न होइये, हे सृष्टि के परम आदि, आपको मैं जानना चाहता हूँ, क्योंकि (यहाँ इस प्रकार प्रकट होने में) आपका प्रयोजन मेरे समझ में नहीं आ रहा है"–३१।

इस पर विश्वरूप श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया–

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥११-३२
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम्
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४

"मैं लोकक्षय करने वाला वृद्धिंगत 'काल' होकर यहाँ (दुष्ट) लोगों का संहार करने प्रवृत्त हुआ हूँ, शत्रुसेना में खडे ये सारे योद्धा तेरे बिना भी (तूने यह युद्ध न किया तो भी) जीवित रहने वाले नहीं है- ३२ अतः तू उठ, खड़ा रह, यश प्राप्त कर, दुश्मनों को जीत कर समृद्ध राज्य का उपभोग ले, स्वयं मेरे (यानी परमेश्वर के) द्वारा ये पहले ही मारे गये हैं (इनके दुष्कर्मों के कारण मृत्युदंड के पात्र ठहराये गये हैं)। (अतः) अर्जुन, (अब इस युद्ध में इनका प्रत्यक्ष वध करने में) तू मात्र एक निमित्त (साधनरूप कारण) हो -३३। द्रोण एवं भीष्म (जो 'पूजनीय गुरुजन'[४] यहाँ दुष्ट दुर्योधन की ओर से लड़ने खड़े है), तथा जयद्रथ, कर्ण और वैसे ही (दुर्योधन के पक्ष के) अन्य भी योद्धा मेरे (यानी परमेश्वर के) द्वारा (पहले ही) मारे गये हैं (मृत्यदंड के पात्र ठहराये गये है, (अब) तू इनका (इस युद्ध में प्रत्यक्ष) वध कर, (इससे पाप लगेगा ऐसी) चिंता मत कर, यह युद्ध कर, अपनी हमेशा की शूरता से रणभूमि पर शत्रुओं को जीत ले-३४।"

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥११-३५

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥३६
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व
अनंतवीर्यामित विक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०

"श्रीकृष्ण का यह वचन सुनकर, अति भयभीत एवं कंपित हुआ अर्जुन हाथ जोड़कर एवं झुककर, पुनः नमस्कार करता हुआ, गद्गद स्वर में श्रीकृष्ण से बोला–३५।

हे हृषीकेश, यह उचित ही है कि, आपके गुण कीर्तन से जग हर्षित होता है एवं उसमें तल्लीन हो जाता है, और (इसके विपरीत) राक्षस डरकर (अनेक) दिशाओं को भाग जाते है, तथा सिद्धों के सारे समुदाय आपको नमस्कार करते हैं– ३६"। "आपको मेरा आगे से और पीछे से भी नमस्कार, आपको सभी ओर से नमस्कार, आप अनन्तशक्तिसंपन्न एवं असीम पराक्रमी होकर, आपने यह सब (विश्व) व्याप्त किया है, और इस प्रकार आप यह सब हैं (यह सब आपका व्यक्त रूप है) –४०"[१९]

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४

"आप इस चराचर जगत् के पिता होकर, परम पूजनीय एवं सर्वश्रेष्ठ गुरु है; हे अद्वितीय प्रभावशाली, तीनों लोकों में भी आप के समान कोई नहीं, फिर वरिष्ठ अन्य कौन होगा ?–४३। अतः विश्वशासक एवं विश्व को प्रार्थनीय ऐसे आपको मैं शरीर झुकाकर नमस्कार करता हुआ प्रार्थना करता हूँ, 'प्रसन्न होइये (कृपा कीजिए)'; हे देव, पिता पुत्र का, मित्र मित्र का (अपराध सहन करता है), उस प्रकार मुझे (सखा समान) प्रिय होने वाले आप मुझे प्रिय (सखा) मानते हो, अतः मेरे (स्नेह के लिये) मेरा (अपराध) सहन कीजिए"–४४।

किन्तु श्रीकृष्ण का हमेशा का द्विभुज मनुष्यरूप, एवं उसके अलावा अद्भुत विश्वरूप देखने के बाद, अर्जुन ने इस समय श्रीकृष्ण को और भी एक रूप में देखा। विश्वरूप भगवान् विष्णु किरीट, गदा एवं चक्र धारण किये हुए (११-१७), किन्तु अति विराट, भीषण एवं अनन्तहस्त युक्त थे (११-१९)। भयचकित अर्जुन इसके बाद श्रीकृष्ण का वही किरीट, गदा एवं चक्र धारण करने वाला, किन्तु प्रसन्न 'चतुर्भुज' 'देवरूप' देखना चाहता था; अतः उसने कहा–

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।

तदेव मे दर्शय देवरूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६

"पहले कभी न देखा (आपका यह विश्वरूप) देख कर मुझे हर्ष होता है, किन्तु (आपका तेज सहन न होने से) मेरा मन भय से व्याकुल हो रहा है; (अतः) हे देवों के ईश्वर, जगदाधार, प्रसन्न होइये, और (यह भीषण रूप त्यागकर) आपका वह देवरूप (चतुर्भुज विष्णुरूप) ही मुझे दिखाइये- ४५। मैं आपका किरीट, गदा एवं हाथ में चक्र लिया उस (देव-) रूप में ही दर्शन करना चाहता हूँ; हे सहस्रहस्तधारी विश्वरूप परमात्मन्, उसी चारभुजायुक्त (देव-) रूप में आप कृपया प्रकट होइये-४६"।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन की प्रार्थना स्वीकार कर कहा–

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७
न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न
च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवं रूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८
मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९

"अर्जुन, तुझ पर प्रसन्न होकर मैंने अपना यह तेजस्वी, अनन्त, आद्य (मूल), सर्वश्रेष्ठ, विश्वात्मक रूप, जो तेरे अलावा अन्य किसी ने इसके पूर्व नहीं देखा, मेरे योगसामर्थ्य से तुझे दिखाया - ४७। अर्जुन, न वेदपठनों से, न यज्ञों से, न विद्याध्ययनों से, न दानों से, न (प्राणायामादि) क्रियाओं से, और न उग्र तपों से मुझे मनुष्य लोक में इस रूप में तेरे अलावा अन्य किसी ने देखना संभव है -४८। मेरा यह ऐसा घोर रूप देखकर तू भयभीत एवं भ्रमित मत हो, पुनः भयरहित एवं सानंद होकर (जो तू देखना चाहता है) वही यह मेरा (चतुर्भुज) (देव-) रूप देख-४९"।

ऐसा कहकर, श्रीकृष्ण ने 'ऐश्वर' रूप त्यागकर अपने चतुर्भुज 'देवरूप' में अर्जुन को दर्शन दिया; और उसके बाद फिर द्विभुज 'मनुष्य रूप' धारण किया।

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०

"अर्जुन से इस प्रकार कहकर श्रीकृष्ण ने उसे फिर अपने मूल (किरीट गदाचक्रधारी, किन्तु चार भुजायुक्त देव-रूप में दर्शन दिया और (उसके बाद) उस महात्मा ने पुनः सौम्य (द्विभुज मानुष) देह धारण कर भयचकित हुए उसे आश्वरत्त किया।" अर्जुन ने भी वह चिरपरिचित रूप देखकर कहा–

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१

"श्रीकृष्ण आपका यह सौम्य मनुष्य रूप देखकर मेरा मन अब स्थिर एवं सामान्य भान में आया होकर, मैं हमेशा की स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त हो गया हूँ।"

यहाँ कुछ लेखक श्रीकृष्ण विश्वरूप से एकदम मनुष्य रूप में आये ऐसा मानते हैं, और इसलिये श्लोक ४५ में 'देवरूपं' शब्द 'देव रूपं' ऐसा विभाजित कर, 'देव' यह श्रीकृष्ण के प्रति संबोधन मानते है। परन्तु अर्जुन ने किरीट-गदा-चक्रधारी, फिरभी 'सहस्त्रबाहु' के बजाय 'चतुर्भुज' रूप देखने की इच्छा व्यक्त की थी (श्लोक ४६), जो अमान्य करने का कुछ भी संकेत श्रीकृष्ण के उत्तर में नहीं है (४९)। और वह किरीट-गदा-चक्रधारी चतुर्भुज रूप श्रीकृष्ण का अर्जुन के सखा एवं सारथी का हमेशा का रूप नहीं था इसमें कोई संदेह नहीं।

क्या स्वयं संजय ने वह विश्वरूप देखा था ?

यह गीताभ्यास में एक मनोरंजक प्रश्न है। अर्जुन को विश्वरूप दिखाने के बाद श्रीकृष्ण ने कहा, "अर्जुन ! न वेद पठनों से, न यज्ञों से, न विद्याध्ययनों से, न दानों से, न (प्राणायामादि) क्रियाओं से और न उग्र तपों से मुझे मनुष्यलोक में इस रूप में तेरे अलावा अन्य किसी ने देखना संभव है (११-४८)।" किन्तु स्वयं संजय गीतोपदेश कथन की समाप्ति में धृतराष्ट्र से कहता है–

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥१८-७४
व्यास प्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः
विस्मयो मे महान्राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७

"श्रीकृष्ण एवं महात्मा अर्जुन का ऐसा यह अद्भुत रोमांचकारी संवाद मैंने श्रवण किया–७४। श्री व्यास जी की कृपा से (दिव्य दृष्टि पाकर) मैंने यह परम पवित्र योग प्रत्यक्ष स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण के मुखकमल से, वे (अर्जुन को) कथन कर रहे थे तब, श्रवण किया -७५। राजन् (धृतराष्ट्र), कृष्णार्जुन के इस कल्याण कारक अद्भुत संवाद का बारबार स्मरण होकर मुझे पुनः पुनः हर्ष होता है– ७६। महाराज धृतराष्ट्र, अर्जुन और श्रीकृष्ण के उस अद्भुत (ऐश्वर) रूप को पुनः पुनः स्मरण कर, मुझे महान् आश्चर्य के साथ बारबार हर्ष हो रहा है– ७७"। इस से दीखता है कि, संजय ने न केवल वह संवाद श्रवण किया, अपितु वह विश्वरूप भी देखा।

इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि, श्रीकृष्ण ने अपना परम ऐश्वर्य रूप अर्जुन को दर्शाया, ऐसा श्लोक ११-९ में कहने के पश्चात् संजय उस रूप का वर्णन अर्जुन के शब्दों में करने से पूर्व स्वयं के शब्दों में करता है–

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥११-१०
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११
दिवि सूर्यसहस्त्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४

"(वह रूप) अनेक मुखों से एवं नेत्रों से युक्त, अनेक अद्भुत दृश्य प्रदर्शित करने वाला, अनेक दिव्य आभूषण धारण करनेवाला एवं अनेक दिव्य शस्त्र उठा रखनेवाला -१०, (दिव्य) वस्त्र परिधान करनेवाला, दिव्य गंध के लेप से युक्त, अनंत, विश्वव्यापी, अत्यंत आश्चर्यकारक, ईश्वरीय (ऐसा था)- ११। आकाश में यदि एक हजार सूर्यों का प्रकाश एक साथ दृश्यमान् हुआ, तो वह उस महापुरुष के तेज के समान शायद ही प्रतीत होगा -१२। उस समय वहाँ अर्जुन ने अनेकशः विभाजित संपूर्ण जग उस देवाधिदेव के शरीर में एकत्र हुआ देखा-१३। इस पर विस्मयचकित एवं रोमांचित हुए उस अर्जुन ने मस्तक नमाकर एवं हाथ जोड़कर उस (विश्वरूप) परमेश्वर से कहा–१४"।

यह ठीक है कि, संजय ने यह वर्णन करने पूर्व, स्वयं श्रीकृष्ण द्वारा श्लोक ६ एवं ७ में अपने उस विश्वरूप का दिया वर्णन संजय ने श्रवण किया था; किन्तु वह बहुत संक्षेप में था, और संजय द्वारा बाद में किया विस्तृत वर्णन मात्र श्रीकृष्ण के उन शब्दों पर आधारित होने के बजाय, स्वयं उसके देखे अनुसार प्रतीत होता है ।

यदि संजय ने वह विश्वरूप प्रत्यक्ष देखा था, तो श्रीकृष्ण के श्लोक ४८ की संगति कैसे बैठेगी? यद्यपि श्रीकृष्ण ने उस श्लोक में (तथा फिर श्लोक ५३ में) अर्जुन से कहा था कि, तेरे सिवा अन्य कोई मानव यह रूप नहीं देख सकता, फिर भी उन्होंने उसमें एक अपवाद रख छोड़ा था, जो उन्होंने श्लोक ५४ में स्पष्ट किया–।

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥११-५२
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४

"तूने जो मेरा यह रूप देखा, वह देखने को मिलना अति दुर्लभ है। देव भी इस रूप के दर्शन करने को सदा इच्छुक रहते हैं– ५२। जिस प्रकार तूने मुझे देखा, वैसा मेरा दर्शन करना न वेदों के अध्ययन से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से भी संभव है–५३। किन्तु, अर्जुन, अनन्य भक्ति द्वारा मुझे इस रूप में जानना, दर्शन करना एवं (अंततोगत्वा) मेरे स्वरूप में एकात्मभाव से प्रवेश करना, संभव है– ५४"। संजय कुरुक्षेत्र में ऐहिक कर्तव्य पालन हेतु (भीष्म कर रहे थे उस प्रकार) कौरवों की ओर से लड़ रहा था, फिर भी उसकी श्रीकृष्ण में परम श्रद्धा थी, यह गीता के अंतिम श्लोक में उसने प्रत्यक्ष धृतराष्ट्र के पास स्पष्ट किया है–

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥१८-७८

"जिधर योगेश्वर कृष्ण, जिधर धनुर्धारी अर्जुन, उधर ऐश्वर्य, विजय, महानता एवं शाश्वत नीतिमत्ता है, ऐसी मेरी धारणा है।"

किन्तु ऐसा होने पर भी संजय सामान्य आँखों से वह विश्वरूप नहीं देख सकता था, परंतु महर्षि व्यास ने उसे दिव्य दृष्टि दी थी। कुरुक्षेत्र की समग्र रणभूमि पर होनेवाली हर घटना, चाहे प्रकट हो या 'अप्रकट', संजय को ज्ञात होगी, ऐसा वर व्यास ने उसे दिया था ।

श्रीकृष्ण का अद्भुत रूप प्रत्यक्ष देखने की संजय की पात्रता इसके पूर्व भी एक

प्रसंग में सिद्ध हुई थी। श्रीकृष्ण (युद्ध रोकने के) अंतिम शांति प्रयास हेतु हस्तिनापुर गये थे, तब दुर्योधन आदि ने उन्हें वहाँ बंदी करने की योजना बनाई; उस समय श्रीकृष्ण ने अपना अद्भुत विराट स्वरूप प्रकट किया (उद्योगपर्व, अध्याय १३१)। वह प्रकट होतेही, सभा में उपस्थित बहुतेरों की आँखें चकाचौंध होकर बंद हो गईं, किन्तु श्रीकृष्ण ने भीष्म, द्रोण, विदुर एवं कुछ अन्य तपस्वी ऐसे जिन चुने हुए व्यक्तियों को दिव्य दृष्टि देकर वह रूप ठीक दिखाया, उनमें संजय भी था।

यदि श्रीकृष्ण का विराट् रूप हस्तिनापुर में भी देखा गया था, तो वह विश्वरूप पहले अन्य किसी ने नहीं देखा ऐसा श्रीकृष्ण ने श्लोक ११-४७ में अर्जुन से कैसा कहा? कौरव दरबार में व्यक्त किया अद्भुत रूप एवं अर्जुन को कुरुक्षेत्र पर दर्शाया विश्वरूप इनमें साम्य था, तो भी निम्न भीषण एवं प्रत्यक्ष संहारकारक दृश्य उस पहले के रूप में नहीं था ।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥११-२३
दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५

"हे महाबाहो, आपका यह विशाल रूप, जिसमें अनेक मुख एवं अनेक नेत्र, अनेक हाथ, जंघा, पैर एवं अनेक उदर हैं, जो अनेक दाढों के कारण विकराल प्रतीत हो रहा है, देखकर सब लोक तथा मैं भी भयभीत हुआ हूँ- २३"। " अनेक दाढों के कारण विकराल दीखने वाले एवं प्रलयकाल के अग्नि समान प्रज्वलित आपके मुखों को देखकर मैं दिशाएँ भूल रहा हूँ एवं मेरा आनंद नष्ट हो गया है। हे देवेश! हे जगन्निवास! प्रसन्न होइये- २५।" इतनाही नहीं, अपितु उस विश्वरूप के विकराल मुखों में प्रत्यक्ष भीष्म, द्रोण, कर्णादि प्रवेश करते दीख रहे थे (२६, २७)। अर्जुन और कहता है–

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।

तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९

"जिस प्रकार नदियों के अनेक जलप्रवाह समुद्र के ही ओर वेग पूर्वक जाते हैं, उस प्रकार ये मनुष्य लोक के वीर आपके प्रज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं- २८। जिस प्रकार पतंग-कीटक प्रज्वलित अग्नि में बड़े वेग से प्रवेश कर नष्ट होते हैं, उसी प्रकार (कुरुक्षेत्र में उपस्थित) ये योद्धा आपके मुखों में अति वेगपूर्वक प्रवेश कर नष्ट हो रहे हैं- २९"।

क्या ध्यान से निष्काम कर्म श्रेष्ठ है ?

बारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं–

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥१२-८
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥९
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११

"मुझ में ही मन लगा, मुझ में बुद्धि स्थिर कर, इससे तू मेरे ही स्वरूप में निवास करेगा, इसमें संदेह नहीं- ८। और, अर्जुन, यदि तू अपना चित्त मुझ में पूर्णतया केन्द्रित न कर सकता हो, तो (पांतजल योग दर्शन के अनुसार) यौगिक क्रियाओं के अभ्यास द्वारा मेरी प्राप्ति का (चित्त मुझ में स्थिर करने का) प्रयास कर- ९। यदि ऐसा अभ्यास भी तुझ से न होता हो, तो मुझे अर्पण करने की भावना से कर्म करता रह, परमेश्वरार्पण वृत्ति से कर्म करने से भी तू सिद्धि प्राप्त करेगा (धीरे-धीरे तेरा चित्त मुझ में स्थिर होगा) -१०। और मुझे प्राप्त होने के प्रयास में यदि तू यह भी करने में असमर्थ हो तो स्वयं (की सकामता) पर नियंत्रण कर सब कर्म करने में फल का त्याग करता जा-११।"

इन चार श्लोकों में ईश्वर में चित्त केन्द्रित करने को- (ध्यान को-) सर्वप्रथम स्थान, तथा वह न होता हो, तो उतरते क्रम से कर्मफलत्याग (परोपकारार्थ निष्काम कर्माचरण) को सबसे आखिरी स्थान दिया है। किन्तु यह देखते, इसको लगकर आने वाले निम्न श्लोक की संगति कैसी बैठानी होगी यह एक बड़ा ही प्रश्न बन गया है।"

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२

यहाँ प्रथम पंक्ति में (पातंजल) यौगिक क्रियाओं के अभ्यास की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ, तथा ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ कहा है। किन्तु इसके बाद "ध्यानात्कर्मफलत्यागः" का अर्थ प्रायः ऐसा किया जाता है, 'ध्यान की अपेक्षा कर्मफल त्याग श्रेष्ठ है।' इससे पूर्व के चार श्लोकों में दर्शाया क्रम ठीक उल्टा हो जाता है। संन्यासवादियों के लिये यह एक भारी आपत्ति प्रतीत होकर वे विविध स्पष्टीकरणों द्वारा उससे छुटकारा पाने का प्रयास करते हैं। इसके विपरीत कर्मवादियों को इसमें उनका स्पष्ट समर्थन प्रतीत होता है। तिलक लिखते है, "कर्मयोग की दृष्टि से ये श्लोक अत्यंत महत्त्व के हैं ......१२ वें श्लोक में कर्मफल के त्याग की, अर्थात् निष्काम कर्मयोग की, श्रेष्ठता वर्णित है ......"

किन्तु इस संपूर्ण अध्याय पर दृष्टि क्षेप करने पर उसमें फल त्याग याने निष्काम कर्म को ईश्वरध्यान से भी श्रेष्ठ बनाने का उद्देश्य नहीं दीखता। अध्याय का प्रारंभ अर्जुन के इस प्रश्न से होता है–

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१२-१

"अपना चित्त सतत (साम्यत्व-) योग में स्थिर कर, जो भक्त इस प्रकार आपकी (ईश्वर के सगुण रूप की) उपासना करते हैं, तथा जो अव्यक्त अक्षर परब्रह्म की उपासना करते है, उनमें कौन सर्वश्रेष्ठ योगी है ?"। इस प्रश्न का सारा उद्देश्य सगुण एवं निर्गुण की उपासना में तुलना करना है। इस पर श्रीकृष्ण प्रथम सगुण उपासना श्रेष्ठ बताते हुए कहते हैं–

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२

"अपना चित्त (साम्यत्व-) योग में स्थिर करने वाले जो मुझ में मन केन्द्रित कर परम श्रद्धा से मेरी उपासना करते हैं वे मेरे मत में सर्वश्रेष्ठ योगी हैं।" इसके बाद निर्गुण उपासना की भी योग्यता मान्य करते हुए उन्होंने (सामान्य जनों के लिये) उसकी कठिनता बताई :

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५

"किन्तु सर्वत्र समबुद्धि रखने वाले एवं सब प्राणियों के हित की कामना करने वाले, जो सब इन्द्रियों को नियंत्रित कर, सर्वव्यापी, तर्कातीत, विशुद्ध, स्थिर, शाश्वत,

अवर्णनीय ऐसे अव्यक्त अक्षर (परब्रह्म) की उपासना करते हैं, वे (भी) मुझे ही प्राप्त होते हैं– ३४। (किन्तु) अव्यक्त में अपना चित्त केन्द्रित करने वालों की साधना अधिक कठिन होती है, क्योंकि मानव को अव्यक्त की अनुभूति बहुत मुश्किल से होती है– ५''। इसके बाद फिर सगुण उपासना का उल्लेख कर श्रीकृष्ण बोले–

> ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः
> अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥१२-६
> तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्
> भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७

''परन्तु जो सब कर्मों का मुझमें संन्यास कर (मुझे अर्पण कर), मत्परायण होकर, अनन्य वृत्ति से ध्यान कर मेरी उपासना करते हैं-६, अर्जुन, चित्त मुझमें केन्द्रित करनेवाले उनका मैं मृत्युग्रस्त संसाररूप सागर से शीघ्र उद्धार करता हूँ-७।''

फिर, इसी संदर्भ में श्लोक ८ में तेरा मन एवं बुद्धि पूर्णतया 'मुझमें' स्थिर कर, ऐसा अर्जुन को कहते हुए, यदि इस प्रकार ध्यान तुझे एकदम संभव न हो, तो (पातंजल) यौगिक क्रियाओं के 'अभ्यास' द्वारा अपना मन नियंत्रित रखनेका प्रयास कर, ऐसा श्लोक ९ में कहा है।[१]

इसके बाद श्लोक १० में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि, ऐसा 'अभ्यास' भी तुझसे न होता हो, तो परमेश्वरार्पण वृत्ति से कर्म करते जा; और अंत में श्लोक ११ में कहते हैं कि, वह भी न हो, तो परोपकार, समाजसेवा आदि निष्काम हेतु से कर्म कर।

इस सारे का निष्कर्ष यह है कि, ईश्वरध्यानयुक्त साम्यचित्त को यहाँ सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया है। इस अध्याय के शेष श्लोकों में भी फलत्याग की श्रेष्ठता नहीं बतायी होकर, ईश्वर के भक्ति युक्त ध्यान का महत्त्व वर्णन किया है। तथा गीता में अन्यभी कई स्थानों पर ईश्वर ध्यान को सर्वश्रेष्ठ महत्त्व दिया है। श्लोक ९-३४ की प्रथम पंक्ति की शब्दशः द्विरुक्ति कर श्रीकृष्ण अपने समग्र उपदेश का इन वचनों में समापन करते हैं–

> सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः
> इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥१८-६४
> मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु
> मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५

''मेरा सर्वाधिक महत्त्व का श्रेष्ठ वचन पुनः श्रवण कर; तू मेरा दृढ सखा होनेसे मैं यह तेरे हित में कह रहा हूँ,-६४। मन मुझमें लगा, मेरी भक्ति कर, मेरा यजन-पूजन कर, मुझे नमस्कार कर; इस प्रकार तू मुझकोही पहुँचेगा; तू मुझे प्रिय होने से मैं यह तुझे निश्चित सत्य कहता हूँ-६५।'' ईश्वर-ध्यान का यह उपदेश सर्वकर्मत्यागस्वरूप न होकर, प्रसंगानुसार आवश्यक निष्काम कार्यकर्माचरण से सुसंगत है, यह ऊपर बताया है।

यह सब देखते, गीतोपदेश में कर्मफलत्याग का महत्वपूर्ण स्थान मान्य करते हुए भी, श्लोक १२-१२ में ''ध्यानात् कर्मफलत्यागः'' का सुसंगत अर्थ करना इष्ट है। इसका आशय प्रायः 'ध्यान से कर्मफल त्याग श्रेष्ठ' ऐसा लिया जाता है; अरविंद भी ऐसा ही लेते हैं (*Essays on the Gita*, Second series, p. 213)। किन्तु यहाँ 'ध्यानात्' का अर्थ 'ध्यान से यानी ध्यान की अपेक्षा' ऐसा तुलनात्मक न करके, 'ध्यान से याने ध्यान के परिणामस्वरूप' ऐसा उद्भवदर्शक किया जा सकता है। श्लोक के अंतिम चरण में ''त्यागात् शांतिः'' शब्दों में पंचमी विभक्ति का ऐसा ही प्रयोग है, जिसके बारे में कोई विवाद नहीं। प्रथम पंक्ति में दोनों चरणों में 'श्रेयः', 'विशिष्यते', ऐसे तुलनादर्शक शब्द हैं, वैसा कोई शब्द तृतीय चरण में नहीं। अतः संपूर्ण श्लोक का यह सुसंगत अर्थ प्राप्त होता है। ''(मात्र) (यौगिक क्रियाओं के) अभ्यास की अपेक्षा ज्ञानोपासना श्रेष्ठ है; तथा (मात्र) ज्ञानोपासना से (ईश्वर के प्रति) ध्यान श्रेष्ठ हैं; (ईश्वर के प्रति) ध्यान लगनेपर सहजही निष्काम कर्मफलत्याग (कर्मफल ईश्वर को अर्पण करनेकी) वृत्ति आती है, और उस त्याग के परिणाम स्वरूप (कार्य कर्म करते हुए भी) चित्त में शांति प्राप्त होती है'' अंतिम चरण में व्यक्त विचार श्लोक ५-१२ में भी आया है।

यहाँ ध्यान से कर्मफलत्याग श्रेष्ठ बताया है ऐसी कल्पना कर, फिर उससे किसी प्रकार छुटकारा पाने के प्रयास भी अनावश्यक होते हैं। ऐसा ही प्रयास करते हुए रामनुजाचार्य लिखते हैं कि, उक्त तृतीय चरण में उल्लेखित ध्यान असफल ध्यान है, एवं ऐसे 'असंपन्न अधूरे ध्यान की अपेक्षा फलत्यागपूर्वक कर्म श्रेष्ठ है।' किन्तु इसी श्लोक से ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ बताया है; वह ध्यान अधूरा न होकर उसीका उल्लेख तृतीय चरण में है।

प्रस्तुत श्लोक में यहाँ प्रस्तावित अर्थ के अनुसार गीता का योगी लोकहित के आवश्यक कर्म नहीं त्यागता, किन्तु उसपर अखंड आग्रह भी न धरते ईश्वरध्यान में सदैव लीन रहता है। अंतिम अध्याय में (श्लोक ४६, ४७, ४८) आवश्यक कार्य कर्माचरण का महत्त्व एवं उसके त्याग का निषेध प्रतिपादन करने बाद, श्रीकृष्ण कहते हैं–

> असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः
> नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥१८-४९
> सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे
> समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०
> बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च
> शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१
> विविक्तसेवी लध्वाशी यतवाक्कायमानसः
> ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३

"सर्वत्र अनासक्त बुद्धि रखनेवाला, आत्मसंयमी, तृष्णारहित व्यक्ति (प्रत्यक्ष सर्वकर्मत्याग द्वारा नहीं, अपितु अनासक्त अनाग्रही) संन्यस्त वृत्ति से परम नैष्कर्म्य सिद्धि (विशुद्ध आंतरिक 'अकर्म' अवस्था) अनुभव करता है-४९। अर्जुन, नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त कर वह ज्ञानकी सर्वोच्च गति स्वरूप ब्रह्मावस्था जिस प्रकार प्राप्त करता है, मैं संक्षेप में बताता हूँ, समझ ले-५०। विशुद्ध (निष्काम एवं अहंकाररहित) बुद्धि से संपन्न वह दृढ़निश्चय से स्वयंपर नियंत्रण रखकर, शब्द (रस, गंध) आदि ऐन्द्रियिक विषयों की इच्छा छोड़, तथा (स्वसुख में) आसक्ति एवं (दुःख के प्रति) तिरस्कार त्याग कर-५१, विशिष्ट (एकान्त) स्थल में निवासी, सीमित आहार वाला, वाचा (वाणी) शरीर एवं मन नियंत्रण में रखनेवाला, तथ वैराग्यवृत्ति धारण कर नित्य ध्यानयोग (ईश्वर स्मरण) करनेवाला-५२, अहंकार, बलप्रयोग, अभिमान, काम, क्रोध, ऐहिक संग्रह, त्यागकर चित्त आसक्तिहीन एवं पूर्ण शान्त रखनेवाला, वह ब्रह्म से एकरूपता प्राप्त करने का पात्र होता है-५३"। यहाँ श्लोक ४९ में उल्लिखित संन्यास सर्व कर्मों का प्रत्यक्ष त्याग नहीं; क्यों कि, वैसे कर्मत्याग से नैष्कर्म्य सिद्धि प्राप्त नहीं होती, यह श्लोक ३-४ में कहा है। इसी दृष्टि से श्रीकृष्ण ब्रह्मत्व को प्राप्त उस योगी के विषय में आगे कहते हैं—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥१८-५४
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६

"ब्रह्मावस्था में लीन, प्रसन्नचित्त, न (अप्रिय घटना पर) शोक और न (प्रिय घटना की) इच्छा करनेवाला, एवं सब प्राणियों के प्रति समान (हितकारी) वृत्ति रखनेवाला, मेरी परम भक्ति प्राप्त करता है-५४। वह मेरी भक्ति द्वारा मैं (मूलतः) कौन हूँ, मेरा विस्तार कितना है, इस प्रकार मुझे पूर्ण जानता है; और इस तरह मेरे स्वरूप के विषय में सत्य ज्ञान प्राप्त कर तदनंतर मेरे परम स्वरूप से तादात्म्य प्राप्त करता है-५५। (प्रसंगानुसार) सब (कार्य) कर्म करता हुआ भी हर समय मेरा ध्यान करनेवाला मेरी (कृपा) से शाश्वत अव्यय स्थान को पहुँचता है-५६।" यहाँ भी आशय यह है कि, प्राप्त परिस्थिति में जो भी कार्य कर्म आवश्यक हो, वह ईश्वरध्यान के साथ किया जावे; किन्तु जीवन का हरक्षण अंततक कर्माचरण में ही व्यतीत हो ऐसा आग्रह भी नहीं।

गीता में मरण समय में भी ईश्वरध्यान का महत्त्व बताया है:

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥८-५
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥७

"अंतसमय मेरा ही स्मरण करते हुए देहत्याग कर जो (इहलोक से) प्रयाण करता है, वह मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है इसमें संदेह नहीं-५। अर्जुन, (जीवन में) मानव सदैव जिस-जिस आराध्यस्वरूप में चित्त लगाकर अंत समय उसका स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, वह उसी-उसी स्वरूप को प्राप्त होता है-६। अतः सर्वकाल मेरा स्मरण करता रह, और (इस विशिष्ट प्रसंग में) (यह) युद्ध कर; मुझमें मन एवं बुद्धि समर्पण करने से तू मुझेही आकर पहुँचेगा इसमें संदेह नहीं-७।"

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८-८
कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९
प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०

"अर्जुन, (योगिक क्रियाओं के) अभ्यास से (अंत समय) अंतःकरण अन्यत्र जाने से रोककर दिव्य परम पुरुष (परमेश्वर) का ध्यान करनेवाला उसको पहुँचता है-८ जो अंतसमय योगसामर्थ्य के द्वारा प्राण दोनों भ्रुकुटियों के मध्य पूर्ण स्थिर कर, सर्वज्ञ, सनातन, विश्वनियंता, अणुसे भी सूक्ष्म, सब का पालन कर्ता, तर्कातीत स्वरूपधारी, अंधकार से पूर्ण अतीत, सूर्यसमान तेजस्वी, ऐसे परम पुरुष का एकाग्र चित्त से भक्ति युक्त होकर ध्यान करना है, वह उस परम दिव्य पुरुष (परमेश्वर) को पहुँचता है,[२२] ९, १०।"

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥८-११

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३
अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४

"वेदज्ञ जिसे 'अक्षर' (अविनाशी) कहते हैं, जिसमें अनासक्त यति प्रवेश करते हैं, तथा जिसे प्राप्त होने के इच्छुक ब्रह्मचर्य (इन्द्रियनिग्रह) का पालन करते हैं, वह (परम) पद मैं तुझे संक्षेप में बताता हूँ[२३]-११। सब (इन्द्रियरूप) द्वारों का संयमन कर एवं मन को (बाहर से पूर्णतया हटाकर) हृदय में केन्द्रित कर, अपना प्राणवायु मस्तक में स्थिर करता हुआ, योगवृत्ति धारण कर, ब्रह्मनिर्दशक ॐ इस एकाक्षर के जप सहित मेरा ध्यान करता हुआ जो देहत्याग कर जाता है, वह परम गति प्राप्त करता है, १२-१३। अर्जुन, एकनिष्ठता से मुझ में चित्त लीन करता हुआ जो नित्य मेरा स्मरण करता है, वह सर्वकाल योगस्थ रहनेवाला योगी सुलभता से मुझे पहुँचता है-१४।"

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ

तेरहवें अध्याय में भौतिक देह, 'जीवात्मा' एवं 'शुद्धात्मा' इनका परस्पर संबंध बताने में देह को 'क्षेत्र' एवं शुद्धात्मा को 'क्षेत्रज्ञ' कहा है।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१३-१

"अर्जुन, इस शरीर को 'क्षेत्र कहते हैं तथा जो (यानी आत्मा) उसे जानता है उसे इस शास्त्र के विद्वान् 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं।" यह 'क्षेत्रज्ञ' वैयक्तिक शुद्धात्मा, मूलतः सर्वव्यापी परमेश्वर का अंश है।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२

"अर्जुन, सब शरीरों में क्षेत्रज्ञ भी मुझे जान ले। क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ (के वास्तव स्वरूप) का जो ज्ञान है, वह मेरे मत में (सच्चा) ज्ञान है।" इतना कहकर श्रीकृष्ण इस विषय का विस्तार से विवेचन करते हैं।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३
महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६

"वह क्षेत्र क्या, एवं कैसा है, तथा किन विकारों से ग्रस्त रहता है, और कहाँ से किस प्रकार निर्माण होता है ? तथा वह (क्षेत्रज्ञ) कौन है, उसका क्या प्रभाव, है ? यह मुझसे संक्षेप में श्रवण कर-३।(पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश ये पाँच) महाभूत, अहंकार, बुद्धि, तथा (इन सब के मूल में होनेवाला) (अचेतन) अव्यक्त (प्रकृति तत्त्व) भी, (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पाँच कर्मेन्द्रियाँ मिलकर) दस इन्द्रियाँ, एक मन, और ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ग्राह्य पाँच विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध)-५, (एवं) इच्छा (वैयक्तिक आसक्ति), द्वेष, सुख, दुःख, संघात (इन्द्रियाँदि का प्रभाव), चेतना (वैयक्तिक भान), धृति, ऐसा यह विकारों सहित क्षेत्र संक्षेप में बताया गया है-६"। श्लोक ५ में 'क्षेत्र' एवं श्लोक ६ में उसके 'विकार' निर्दिष्ट हैं; इन विकारों के द्वारा क्षेत्र क्षेत्रज्ञ को ऐहिक जीवन में लिप्त करता है।

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥१३-२६

"अर्जुन, जो कोई भी जीव[२४], अचल[२५] या चल, उत्पन्न होता है, वह क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ के संयोग से हुआ जान।"

क्षेत्रज्ञ 'जीवात्मा' स्वरूप में प्रकृति के माध्यम से कर्म करता है, फिरभी वह मूल स्वरूप में अकर्ता है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥१३-२९
अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते
सर्वथावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२

"सब कर्म (प्रत्यक्षतः) प्रकृति के द्वारा ही किये जाते हैं, तथा (शुद्ध) आत्मा (उस दृष्टि से) अकर्ता है, यह जिसने अनुभव किया वह सत्य जानता है-२९। अनादि एवं निर्गुण होनेसे यह अव्यय परमात्मा (अंशरूप में) शरीर में निवास करता हुआ भी न कुछ करता है, न (शरीर के व्यवहार के कारण) किसी प्रकार लिप्त होना है-३१। जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त होनेवाला आकाश अति सूक्ष्मता के कारण (उसके अंतर्गत आनेवाले किसी भी पदार्थ से) लिप्त नहीं होता (उसे किसीभी चीज का रंग, रस या शीतोष्णादि गुण नहीं चिपकता), उसी प्रकार संपूर्ण शरीर व्याप्त करनेवाला (शुद्ध) आत्मा (शरीर के किसी भी व्यवहार से) लिप्त नहीं होता-३२।"

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥१३-३३

"अर्जुन, जिस प्रकार अकेला सूर्य इस सारे जगत् को प्रकाशित करता है, उस प्रकार क्षेत्री (क्षेत्रज्ञ, शुद्धात्मा) सारे शरीर रूपी क्षेत्र को प्रकाशित (चैतन्ययुक्त) करता है।" अध्याय की समाप्ति क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ के भेद के ज्ञान का महत्त्व बताकर होती है–

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४

"ज्ञान द्वारा प्राप्त दृष्टि से जो क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ इनमें यह भेद, तथा प्रकृति से प्राणियों की मुक्ति का स्वरूप, जानते हैं वे परम गति प्राप्त करते हैं"।

ये 'ब्रह्मसूत्र' कौन से ?

तेरहवें अध्याय में क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ (शुद्धात्मा) एवं परम ब्रह्म के विषय में विवेचन आरंभ करने में श्रीकृष्ण कहते हैं–

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥१३-४

"ऋषियों ने (वेदों की ऋचाओं में) विविध छंदों द्वारा अलग अलग भिन्न भिन्न प्रकार से काव्यरूप में कथन किया, तथा (उपनिषदों में) ब्रह्मप्रतिपादक सूत्ररूप वचनों में तर्कयुक्त सुनिश्चित पद्धति से स्पष्ट किया हुआ" (वह ज्ञान मुझसे श्रवण कर)।

यहाँ 'छन्दोभिः' शब्द का वेदों से संबंध लगाया जाता है, किन्तु द्वितीय पंक्ति में निर्दिष्ट 'ब्रह्मसूत्रपदैः' के बारे में विवाद है। शंकराचार्य उसमें उपनिषदों के ब्रह्मप्रतिपादक वचनों का उल्लेख देखते हैं। इसके विपरीत रामानुजाचार्य (एवं मध्वाचार्य) उसका संबंध आचार्य बादरायण के 'ब्रह्मसूत्रों' से (जिन्हें 'वेदान्तसूत्र' या 'शारीरिक सूत्र' भी कहते हैं) लगाते हैं। इस अर्थ के अनुसार गीता की रचना बादरायण के सूत्रों के पूर्व की नहीं हो सकती। किन्तु उन सूत्रों में कहीं-कहीं 'स्मृति भी ऐसा कहती है', इस प्रकार के उल्लेख होकर वे गीता को लक्ष्य कर कहे हैं ऐसा विद्वानों का मत है। विशेष रूप से सूत्र २-३-४५, ४-१-१० एवं ४-२-२१ का गीता से स्पष्ट संबंध दीखता है। इस दृष्टि से गीता उन सूत्रों के पूर्व की होनी चाहिये।

तिलक आचार्य रामानुज के अनुसार अर्थ कर, फिरभी बादरायणजी के सूत्रों में गीता का उल्लेख कैसा आया होगा, इसका यह स्पष्टीकरण देते हैं। "यदि यह मान लिया जाय, कि जिसने ब्रह्मसूत्रों की रचना की है, उसीने मूल भारत तथा गीता को वर्तमान स्वरूप दिया है, तो कोई अड़चन या विरोध नहीं रह जाता। . . . . जहाँ-जहाँ अपूर्णता, अशुद्धियाँ और त्रुटियाँ दीख पड़ीं, वहाँ वहाँ उनका संशोधन और उनकी पूर्ति करके, तथा अनुक्रमणिका आदि जोड़कर बादरायणाचार्य ने इस ग्रंथ का पुनरुज्जीवन किया हो, अथवा उसे वर्तमान स्वरूप दिया हो। . . . जिस गीता के आधार पर वर्तमान गीता बनी है, वह बादरायणाचार्य के पहिले भी उपलब्ध थी, इसी कारण ब्रह्मसूत्रों में 'स्मृति' शब्द से उसका निर्देश किया गया, और महाभारत का संशोधन करते समय गीता में यह बतलाया गया, कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विस्तारपूर्वक विवेचन ब्रह्मसूत्रों में किया गया है।" (पू०उ०पृ० ५३७-३८)।

किन्तु आचार्य बादरायण के सूत्रों में सांख्य दर्शन का आवेश के साथ खंडन है, जब कि गीता सांख्य मत का कुलमिलाकर आदर करती है (२-३९, ३-३, ५-४, ५-५, १०-२६, १३-२४)। यह देखते, गीता के 'शुद्धि' कर्ता ने भी, वे सूत्र रचे होंगे यह मानना कठिन है। इसके विपरीत, वेदोपनिषदों में प्रतिपादित ज्ञान मैं संक्षेप से बताता हूँ ऐसा श्रीकृष्ण का कहना उचित प्रतीत होता है।

इस प्रकार उस श्लोक के "ब्रह्मसूत्र पदैः" का संबंध उपनिषदों के ब्रह्मविषयक वचनों से लगाना युक्तिसंगत है। उसकी पुष्टि भी इस अध्याय की उपनिषदों से तुलना करने से होती है। श्रीकृष्ण कहते हैं–

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१३-१२

इसमें उपनिषदों के इन वचनों का स्पष्ट प्रतिध्वनि है। "विद्ययाऽमृतमश्नुते" (ईश); "य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति" (श्वेताश्वतर, ३-१३ एवं ४-१७, कठ, २-३-९), "एवं विदुरमृतास्ते भवन्ति" (श्वेताश्वतर, ४-२०); "यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति" (कठ, २-३-८); "यदातमस्तन्न दिवा न रात्रिः। न सन्न चासन् शिव एव केवलः" (श्वेताश्वतर, ४-४-१८)।[१६] इसके बाद गीता का श्लोक १३ शब्दशः श्वेताश्वतर उपनिषद् का श्लोक ३-१६ होकर, गीता श्लोक १४ का श्वेताश्वतर ३-१६ से साम्य है। तथा गीता श्लोक १५ भी ईश उपनिषद् श्लोक ५ एवं मुण्डक उपनिषद् ३-१-७ से समान है। इसके अलावा गीता श्लोक १७ के समान उपनिषदों के ये वचन हैं। "हिरण्मये परे कोशे विरजे ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः॥" (मुण्डक, २-२-९); "तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्" (बृहदारण्यक, ४-४-१६); "ओमित्येव ध्यायथ आत्मानं। स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्॥" (मुण्डक, २-२-६); "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥" (श्वेताश्वतर, ३-८); "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः॥" (श्वे० ३-१३, कठ २-३-१७); एष देवो विश्वकर्मा महात्मा। सदाजनानां हृदये संनिविष्टः ॥" (श्वे० ४-१७)।

इसके विपरीत बादरायणाचार्य के सूत्रों का गीता से ऐसा स्पष्ट साम्य नहीं दीखता। रामानुजाचार्य वह साम्य दर्शाने कुछ सूत्रों का (२-३-१७, १८, ४१) उल्लेख करते हैं; किन्तु उनमें और गीता के तेरहवें अध्याय में ऊपर बताये समान साम्य नहीं। कुछ थोड़ा दिखा

भी, तो ये दोनों रचनाएँ उपनिषदोंपर आधारित होनेसे, वह स्वाभाविक है। बादरायण के सूत्रों की रचना गीता से पूर्वकालीन या समकालीन हो या न हो, गीता में उनका उल्लेख है ऐसा प्रतीत नहीं होता ।

उक्त श्लोक १३-४ की प्रथम पंक्ति में 'छन्दोभिः' शब्द से स्पष्ट ही वेदों का बोध होता है। वेदों की ऋचाएँ भिन्न भिन्न छंदों में हैं; अतः गीताकार ने 'विविधैः' शब्द भी प्रयुक्त किया है। वेदों के लिये 'छन्द' शब्द गीता में अन्यत्र भी आया है।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥१०-३५

"(सामवेद के गेय) सामों में मैं 'बृहत्' नाम का साम हूँ, तथा (वेदों की) छन्दोबद्ध ऋचाओं में मैं गायत्री मंत्र हूँ[२७]; महीनों में मैं मार्गशीर्ष एवं ऋतुओं में वसंत हूँ[२८]"। 'छन्दांसि' शब्द वेदों के लिये श्लोक १५-१ में भी आया है।

श्रीकृष्ण जगत् के पिता एवं माता भी

श्रीकृष्ण कहते हैं–

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥१४-३
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४

"(जिसे) महद् ब्रह्म (कहते हैं वह मूल प्रकृति) मेरा सृष्टि निर्मिति का माध्यम होकर, वहाँ मैं (संकल्प द्वारा) सृष्टि प्रारंभ को चालना देता हूँ; अर्जुन; इस प्रकार सब भूतों की उत्पत्ति होती है-३। अर्जुन, समग्र जीवजातियों में जो शरीर होते हैं, उनका (ज़िसे) 'महत् ब्रह्म' (कहते हैं वह मूल प्रकृति) उद्भवस्थान होकर, मैं उनका (संकल्प रूप से) बीज डालनेवाला पिता हूँ-४।"

मूल अचेतन प्रकृति को सृष्टि की माता कहा, तो भी गीता उस प्रकृति को परमेश्वर का ही 'अपरा प्रकृति' रूप मानती होनेसे (७-४, ५), श्रीकृष्ण स्वयं को जगत् का पिता एवं माता भी कहते हैं–

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः . . .९-१७
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८

"मैं इस जगत् का पिता, माता, धारणकर्ता एवं पितामह हूँ. . . १७। मैं (जग के लिये) अंतिम गति, पालन-पोषण कर्ता, स्वामी, (यच्चयावत् अंतर्बाह्य) देखनेवाला, मूलाधार, आश्रयस्थान, हितचिंतक, उद्गमस्थान, (कल्प के अंत में) विलय स्थान (९-७), संरक्षक, (दो कल्पों के बीच) जगत् को स्वयं में (अव्यक्त रूप से) अंर्तभूत करनेवाला,

सृष्टि का अविनाशी बीज हूँ-१८।" श्लोक १७ में श्रीकृष्ण स्वयं को जगत् के पितामह भी कहते हैं; उसका आशय यह कि, पौराणिक ब्रह्मदेव को प्रत्यक्ष सृष्टि निर्माता कहा, तो उसका भी उद्गम सर्वोच्च परमेश्वर में है (११-३७)।

'ब्रह्म' शब्द के भिन्न अर्थ

गीता 'ब्रह्म' शब्द को भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयुक्त करती है। श्लोक २-७२, ४-२४, १३-३०, १४-२६, १७-२३ एवं १८-५४ में वह शब्द सर्वोच्च एकमेव सर्वव्यापी 'परम ब्रह्म' के लिये आया है। श्लोक ११-१५ में उसका आशय हर कल्प के आरंभ में सृष्टि निर्माण करनेवाला चतुर्मुख ब्रह्मदेव ऐसा होकर, कभी-कभी (उदाहरणार्थ ४-३१ एवं ८-२४) उसका अर्थ उस ब्रह्मदेव का निवास स्थान (ब्रह्मलोक) ऐसा है। उसका एक और अर्थ 'वेद' है (३-१५)।

'ज्ञान' के विविध आशय

गीता में 'ज्ञान' शब्द भी भिन्न भिन्न अर्थ से आया है। गीता में उसका मुख्य अर्थ 'अंतिम तत्त्व का सत्य परिचय (अनुभव)' इस स्वरूप का है। यह श्लोक देखिये–

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥४-३६

"(अर्जुन,) तू सब पापियों से महापापो हो तो भी, 'ज्ञान' रूप नौका से सब पाप (का सागर) निःसंदेह तर जायगा।" 'ज्ञान' का ऐसाही आशय ७-२, १३-२, १३-३४ आदि श्लोकों में है।

किन्तु निम्न श्लोकों में 'ज्ञान' का आशय ज्ञानप्राप्ति का व्यक्ति के आचारविचार पर होनेवाला उदात्त प्रभाव, ऐसा है।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥१३-७
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९
अयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी
विविक्तदेश सेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११

"स्वयं के बारे में वृथाभिमान न होना, दंभ का अभाव, अहिंसा वृत्ति, क्षमाभाव, सरलता, गुरुसेवा, शुद्धता, स्थिर मानस, स्वयं पर नियंत्रण-७, इन्द्रियों के विषयों के प्रति

वैराग्य (निष्कामता) एवं निरहंकारिता, जन्म-रोग-बुढापा-मृत्यु से (ग्रस्त ऐहिक जीवन से) होनेवाले दुःखरूप दोष का भान-८, स्त्री-पुत्र गृहादि में आसक्ति का एवं ममत्व का अभाव, इष्ट वा अनिष्ट कुछ भी प्राप्त होनेपर सदैव समतोल (क्षुब्धता रहित) चित्त-९, मुझ (परमेश्वर) में अनन्यभाव से एकनिष्ठ भक्ति, जनसमुदाय में विशेष रूचि न रखते विशिष्ट स्थान में निवास-१०, अध्यात्मज्ञान का नित्य चिंतन, तत्त्वज्ञान के वास्तविक अर्थ का आकलन,– यह ज्ञान (ज्ञानी व्यक्ति का लक्षण) कहा होकर, जो इसके विपरीत हो वह अज्ञान (अज्ञानी व्यक्ति का लक्षण) है-११।''

गीताकार ने 'ज्ञान' शब्द के बारे में और भी एक सूक्ष्मता की है। सामान्यतः 'ज्ञान' और 'ज्ञेय' ये भिन्न अर्थ वाले शब्द होते हैं। ज्ञान से जो जानना वह 'ज्ञेय', तथा उसका होनेवाला बोध या परिचय या अनुभव याने-ज्ञान। किन्तु विश्व के मूल में होनेवाले अंतिम तत्त्व को निर्गुण शुद्ध ज्ञानरूप माना, तो जो ज्ञेय वह भी ज्ञान और उसकी अनुभूति भी ज्ञान। इस दृष्टि से श्लोक १३-१७ में सर्वोच्च 'ब्रह्म' का वर्णन ''ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं'' इस प्रकार किया होकर, वैसाही फिर १३-१८ में भी कहा है–

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१३-१८

''इस प्रकार क्षेत्र (शरीर), ज्ञान एवं ज्ञेय (परमब्रह्मतत्त्व) (इनका स्वरूप) मैंने संक्षेप में कथन किया; इसका अनुभव कर मेरा भक्त मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।''

किन्तु इसके अलावा भी 'ज्ञान' शब्द का एक अन्य अर्थ से गीता में प्रयोग आया है। ऊपर उल्लिखित आशयों में 'ज्ञान' याने यथार्थ (सत्य) ज्ञान ऐसा अर्थ है। किन्तु सामान्य भाषा में 'ज्ञान' याने व्यक्ति को हुवा ज्ञेय का परिचय, फिर वह यथार्थ हो या भ्रमात्मक, ऐसाभी आशय होता है। और इस दृष्टि से 'ज्ञान' के सात्त्विक, राजस एवं तामस ये भेद हो सकते हैं।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१८-१९

''सांख्यदर्शन में ज्ञान, कर्म एवं कर्ता गुण भेद के अनुसार तीन प्रकार के कहे हैं, वे भी वहाँ बताये अनुसार श्रवण कर।''[१९]

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२

''जिससे (सृष्टि में) विभिन्न दीखनेवाले पदार्थों के मूल में एक अविनाशी अवभिक्त तत्त्व जाना जाता है, वह ज्ञान सात्त्विक जान-२०। किन्तु, जो ज्ञान (सृष्टि के) सब पदार्थों में अनेक प्रकार के भिन्नत्व अलग-अलग रूप से देखता है, वह ज्ञान राजस जान-२१। परंतु, जो (सृष्टि में) उत्पन्न किसी एकही पदार्थ को सर्वस्व मानकर उसमें व्यर्थ आसक्त रहता है, ऐसे तत्त्वशून्य अल्पज्ञान को तामस कहते हैं-२२।'' यहाँ आखरी श्लोक के 'कार्य' शब्द में विशेष आशय है। 'मूल कारण' स्वरूप एक तत्त्व में संपूर्ण नानात्व समाविष्ट देखना तामस न होकर सात्त्विक ज्ञान होगा; किन्तु, मूल 'कारण' से परिणामस्वरूप उद्भूत अनेक 'कार्य' पदार्थों में से एक में सर्वस्व देखना तामस ज्ञान है। उसकी अपेक्षा तो ऐसे 'कार्य' पदार्थों में नानात्व देखना अच्छा, जो राजस ज्ञान है, यद्यपि वह मूलगामी सात्त्विक ज्ञान नहीं।

''हत्वापि स इमान् लोकान्'' (१८-१७)

अठारहवें अध्याय में एक विशेष श्लोक में श्रीकृष्ण कहते हैं–

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१८-१७

इसमें कहा है कि जिस व्यक्ति का मानस अहंकार रहित एवं बुद्धि आसक्तिहीन हो, उसने ''इमान् लोकान्'' (इन लोकों को) मार डाला तो भी वह वस्तुतः (मूलभूत दृष्टि से) उनकी हत्या नहीं करता है, और न ही उस कृत्य से वह किसी बंधन में पड़ता है। यहाँ ''इमान् लोकात्'' से कौन से लोक निर्दिष्ट हैं? शंकराचार्य इन शब्दों का अर्थ 'सर्वान् प्राणिनः' (सब प्राणी) ऐसा कर; ''न निबध्यते'' का अर्थ ''न तत्कार्येण अधर्मफलेन संबध्यते'' ऐसा देते हैं। कई अन्य भी ऐसा ही अर्थ करते हैं; तथा इस श्लोक में यह आशय देखना चाहते हैं कि, निष्काम एवं निरहंकार हुआ योगी यदि समग्र संसार के प्राणियों को नष्ट करने पर भी पारमार्थिक दृष्टि से कुछ भी अनुचित करनेका दोषी नहीं होता है, तो भौतिक जीवन के अन्य किसी कर्म की तो बातही क्या?

किन्तु सभी सज्जन-दुर्जन, स्त्री-पुरुष, आबाल-वृद्ध जीवों का विनाश करने की कल्पना का गीता के इस श्लोक में क्या कारण या संदर्भ था? अहंकार एवं आसक्तिरहित योगी भी किस कारण में ऐसा महाभयानक कर्म करने की सोचेगा?

वस्तुतः इस श्लोक में ''इमान् लोकान्'' शब्दों से श्रीकृष्ण का संदर्भानुकूल सयुक्तिक आशय यह है कि, अपने उपदेश के समापन में वे कुरूक्षेत्र पर युद्धार्थ सामने खड़े कौरवपक्ष की ओर अर्जुन का ध्यान फिरसे आकर्षित कर, उसे निःशंक वृत्ति से

युद्ध करने के लिए प्रेरित कर रहे हैं। जिन शत्रुपक्षीय स्वजनों के वध से पाप लगनेकी अर्जुन की चिंता से गीतोपदेश को चालना मिली थी, उन्हीं को लेकर श्रीकृष्ण यहाँ 'इमान् लोकान्' कहते हैं। ये वही 'लोक' हैं, जिनको संबोधित कर श्रीकृष्णने विश्वरूपदर्शन के समय भी कहा–

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥११-३२
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३

अर्जुन के सामने उपस्थित शत्रुपक्षीयों का मरण (उनके घोर अधर्म के आचरण एवं समर्थन के कारण कर्म सिद्धान्तानुसार) परमेश्वर द्वारा निश्चित किया होनेसे, इस ('धर्म्य') युद्ध में वह प्रत्यक्ष घटित करनेका कर्म अर्जुन द्वारा स्वयं को निमित्त मात्र' मानकर करनेसे उसे कोई दोष नहीं लगेगा, यह श्रीकृष्ण कह रहे हैं।

इस प्रकार श्लोक १८-१७ का यह अर्थ होगा, "जिसके मन में कर्तृत्व का अहंकार न हो एवं जिसकी बुद्धि वैयक्तिक आसक्ति में लिप्त नहीं है, उसने (कौरव पक्ष के) इन लोगों का (इस धर्म्य युद्ध में) वध किया तो भी, (उनके घोर दुष्कर्मों के आचरण एवं समर्थन के कारण ईश्वरीय न्यायानुसार इनका मरण होना निश्चित होने से) वह व्यक्ति मूलतः उनका वध करनेवाला नहीं होगा, तथा उसके परिणाम स्वरूप वह किसी (पापस्वरूप) बंधन में नहीं पड़ेगा।"

उल्लेखनीय है कि आचार्य रामानुज इस श्लोक में "इमान् लोकान्" का संबंध अर्जुन के सामने युद्धार्थ उपस्थित लोकों से ही लगाते हैं– "स इमान् लोकान् युद्धे हत्वाऽपि तान्न निहन्ति, न केवलं भीष्मादीनित्यर्थः। ततस्तेन युद्धाख्येन कर्मणा न निबध्यते, तत्फलं नानुभवतीत्यर्थः"।

"सर्व धर्मान् परित्यज्य" (१८-६६).

गीता में 'धर्म' शब्द भी भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। श्लोक ३-३५ में, एवं १८-४७ में वह 'कर्तव्य' के अर्थ में आया है, किन्तु "धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे" (४-८) इसमें वह 'सत्य पर अधिष्ठित नैतिकता एवं न्याय' इस आशय का है। इसके अलावा गीतोपदेश के समापन में भी वह शब्द आया है–

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥१८-६६

इसमें श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि, 'सब धर्मों का' परित्याग कर मुझे एकनिष्ठपूर्वक मेरी शरण आ। यहाँ 'धर्म' शब्द का क्या आशय है ? कुछ लेखक यहाँ उसका अर्थ 'कर्तव्य' करते हैं। उदाहरणार्थ, महादेव देसाई ('The Gita according to Gandhi' पुस्तक में) उसका यह अनुवाद देते हैं, "Abandon all duties and come to Me the only refuge"; तथा स्वामी चिद्भवानंद ('The Bhagavad Gita' पुस्तक में) वैसाही अर्थ देते हैं। किन्तु "स्वधर्मे निधनं श्रेयः" (३-३५) ऐसा कहनेवाले श्रीकृष्ण क्या 'धर्म' शब्द उसी अर्थ में प्रयुक्त कर 'सब कर्तव्य' त्यागकर ईश्वरभक्ति करते रहनेका उपदेश देंगे ? मोहग्रस्त अर्जुन को "तस्मात् युद्धयस्व भारत" (२-१८), "तस्मात् उत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः" (२-३७), "ततो युद्धाय युज्यस्व" (२-३८), तथा प्रत्यक्ष विश्वरूपदर्शन देनेके बाद भी "युद्धयस्व" (११-३४), इस प्रकार अर्जुन को आदेश देनेवाले श्रीकृष्ण, क्या अपने उपदेश की समाप्ति में 'तू अपने सब कर्तव्य त्याग कर केवल मेरा आश्रय कर' ऐसा कहते?

शंकाराचार्य "सर्वधर्मान् परित्यज्य" का अर्थ "संन्यस्य सर्वकर्माणि" यानी सब कर्मोंका संन्यास् कर "ऐसा देते हैं। किन्तु यह अर्थ भी श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को युद्ध के लिये बारबार प्रेरित करने से सर्वथा विसंगत है। और श्रीकृष्ण का अर्जुन को ऐसा 'संन्यस्य सर्वकर्माणि' स्वरूप का अंतिम आदेश होता, तो उसके तुरन्त बाद "करिष्ये वचनं तव" (१८-७३) ऐसा कहकर अर्जुन ने युद्ध के लिये धनुष्य कैसा उठाया ?

इस श्लोक में जिन धर्मों का परित्याग करने श्रीकृष्ण ने कहा है उनका स्पष्टीकरण तिलक ('भगवद्गीता रहस्य', मराठी) इस प्रकार देते हैं, 'धर्म शब्द से अहिंसा धर्म, सत्यधर्म, मातृपितृसेवाधर्म, गुरुसेवाधर्म, यज्ञयागधर्म, दानधर्म, संन्यासधर्म आदि परमेश्वर प्राप्ति के जो कुछ मार्ग शास्त्रों में बताये हैं, वेही यहाँ अभिप्रेत हैं।' इसमें सत्यधर्म, मातृपितृसेवा धर्म, दानधर्म आदि के भी त्याग का उल्लेख आश्चर्यकारक है !

हरेकृष्ण संप्रदाय के संस्थापक भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद "सर्वधर्मान् परित्यज्य" का यह अर्थ देते हैं, "समस्त प्रकार के धर्म का परित्याग करो और मेरी शरण में आओ" तथा स्पष्टीकरण में यह टिप्पणी दी है "भगवान् ने अनेक प्रकार के ज्ञान तथा धर्म की विधियाँ बताई हैं– परब्रह्म का ज्ञान, परमात्मा का ज्ञान, अनेक प्रकार के आश्रमों तथा वर्णों का ज्ञान, संन्यास का ज्ञान, अनासक्ति, इन्द्रिय तथा मन, संयम ध्यान आदि का ज्ञान। उन्होंने अनेक प्रकार से नाना प्रकार के धर्म का वर्णन किया है। अब, भगवद्गीता का सार प्रस्तुत करते हुए भगवान् कहते है कि हे अर्जुन, अभी तक बताई गई सारी विधियों का परित्याग करके अब केवल मेरी शरण में आओ।" किन्तु, श्रीकृष्ण ने इसके पूर्व कथन किया सब "उत्तम" (४-३, ९-२), "सर्वश्रेष्ठ" (७-२), "गुह्यतम"

(९-१), "पवित्र" (९-२), "परम" (१०-१, ११-१), "धर्म्यामृत" (१२-२०), "पुनर्जन्म से मुक्ति प्रदान करनेवाला" (१४-२) ज्ञान आखिर त्यागना था, तो वह बताया किस लिये ? और उसमें भी 'संयम एवं ध्यान' का भी परित्याग कर श्रीकृष्ण की शरण जाना चाहिये इस कथन में क्या अर्थ है ?

फिर, उक्त श्लोक (१८-६६) में जिनका परित्याग कहा है वे "सर्वधर्मान्" कौन से हैं ? बात यह है कि यह श्लोक विशेष रूप से अर्जुन की गीतारंभसमय की मानसिक अवस्था के संदर्भ में है। "मामेकं शरणं व्रज" का संबंध "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्" (२-७) इस अर्जुन वचन से होकर, इसका आशय 'मुझपर संपूर्ण एकनिष्ठ श्रद्धा रखकर मेरे उपदेश के अनुसार यह युद्ध कर' ऐसा है। श्लोक के द्वितीय पंक्ति में दिया पापमुक्ति का आश्वासन अर्जुन द्वारा शुरू में व्यक्त पापभय (१-३६, ३९, ४५) को लेकर है। तथा "मा शुचः" का संबंध अर्जुन की उस समय की शोकाकुल अवस्था से है (१-४७, २-१, २-८, २-१०)। तथा इस सारी पृष्ठभूमि के अनुसार श्रीकृष्ण के "सर्वधर्मान्" शब्द का संबंध अर्जुन द्वारा उल्लेख किये कुलधर्मों से एवं जातिधर्मों से (१-४०, ४३, ४४) है। अपनेही कुल के विरुद्ध इस युद्ध से इन 'धर्मों' का घोर उल्लंघन होगा ऐसी अर्जुन को भीषण चिंता हुई थी। किन्तु, सामान्यतः इन 'धर्मों' का पालन इष्ट होने पर भी, यह 'धर्म्य' युद्ध करने में तू इस बात की चिंता मत कर ऐसा अर्जुन को आदेश देकर, श्रीकृष्ण ने 'ऐसा करनेसे तुझे पाप नहीं लगेगा' यह आश्वासन दिया।[30] इस प्रकार पस्तुत श्लोक का यह सुसंगत अर्थ होता है, "पुण्य प्राप्ति एवं पापमुक्ति के हेतु (तूने श्रवण किये) पारंपरिक कुलधर्म एवं जातिधर्म आदि का सारा विचार इस समय पूर्णतया त्यागकर, मुझपर संपूर्ण विश्वास रख (और यह युद्ध कर); (उन धर्मों के इस उल्लंघन से होनेवाले) सब पापों से मैं तुझे मुक्त रखूँगा, (पाप के भय से) शोक मत कर।"

अब, गीतोपदेश का यह अंतिम सारभूत श्लोक मात्र अर्जुन के विशिष्ट प्रसंग से सीमित न रखकर, समग्र मानवों के लिये भी उपदेशरूप ग्रहण करना हो तो उसका यह आशय लिया जो सकेगा, 'मेरी एकनिष्ठ भक्ति कर एवं अपना परम आवश्यक कर्तव्य करने से यदि किसी समय (पुण्यार्जन एवं पापमुक्ति हेतु धर्मग्रंथों में बताये) पारंपरिक धार्मिक क्रिया कर्म आड़े आवें तो बिनाहिचक उनका उल्लंघन कर, उस उल्लंघन से कोई पाप नहीं लगेगा।' जहाँ व्यापक राष्ट्रहित का प्रसंग हो, वहाँ वैयक्तिक कुलधर्म एवं जातिधर्म आदि की चिंता नहीं करना चाहिये, यह महान् उपेदश गीताकार ने श्रीकृष्ण के मुँह से इस श्लोक में दिया है।

"प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति"

क्या गीता को मानव का इच्छा स्वातंत्र्य मान्य है ? यदि मानव को कर्माचरण में किसीभी प्रकार स्वतंत्रता न हो, तो वह अपने कर्मों की अच्छाई-बुराई के लिये उत्तरदायी नहीं रहेगा। गीताकार को मानवी इच्छास्वातंत्र्य मान्य न होता, तो गीता में बताये

अनुसार मानवी कर्मों के सात्त्विक, राजस एवं तामस ऐसे भेद करने की, तथा सात्त्विक कर्म करने से श्रेष्ठ गति, राजस कर्म करनेसे मध्यम एवं तामस कर्म से अतिहीन गति दिग्दर्शित करने की आवश्यकता न होती।

फिरभी गीतोपदेश के समारोप में आये कुछ श्लोकों पर यहाँ विचार इष्ट है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं–

> चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः
> बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥१८-५७
> मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि
> अथ चेत्त्वमहंकारात्र श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८

"(तू करनेवाले) सब (आवश्यक कार्य) कर्मों का मन से मुझमें संन्यास कर, मत्परायण होकर, बुद्धियोग द्वारा अपना चित्त सतत मुझ में लगा- ५७। मुझमें चित्त लीन करने से तू मेरी कृपा से (पाप, नरक, आदि सहित) सब संकट पार करेगा; किन्तु यदि अहंकार वश तू मेरी नहीं सुनेगा (एवं यह युद्ध न करेगा) तो तेरा अधःपात होगा-५८।" इतना कहकर श्रीकृष्ण आगे और कहते हैं–

> यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे
> मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥१८-५९
> स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा
> कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०

इन श्लोकों का प्रायः यह आशय लिया जाता है कि, यह युद्ध न करनेका तेरा विचार व्यर्थ होकर, तेरी इच्छा के विरूद्ध भी प्रकृति तुझ से यह युद्ध जबरन करवायेगी। इस दृष्टि से जयदयाल गोयंदका इन श्लोकों का यह अनुवाद देते हैं, "जो तू अहङ्कार का आश्रय लेकर यह मान रहा है कि 'मैं युद्ध नहीं करूंगा', तेरा यह निश्चय मिथ्या है; क्यों कि तेरा स्वभाव तुझे जबर्दस्ती युद्ध में लगा देगा ॥५९॥ हे कुन्तीपुत्र ! जिस कर्म को तू मोह के कारण करना नहीं चाहता, उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्म से बंधा हुआ परवश होकर करेगा ॥६०॥" ऐसे ही दृष्टिकोण से महादेव देसाई इन श्लोकों का यह अनुवाद देते हैं, "If obsessed by the sense of 'I', thou thinkest 'I will not 'fight', vain is thy obsession; (thy) nature will compel thee-59. What thou wilt not do, O Kaunteya, because of thy delusion, thou shalt do, even against thy will, bound as thou art by the duty to which thou art born". ("The Gita according to Gandhi").

किन्तु, श्रीकृष्ण का ऐसा आशय माना, तो निष्कर्ष होगा कि अर्जुन को कर्माचरण में स्वतंत्रता नहीं थी। और यदि अर्जुन को वह स्वतंत्रता नहीं थी, तो "योगस्थः कुरु

कर्मणि" (२-४८), "नियतं कुरु कर्म त्वं" (३-८), "तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर" (३-१९), आदि उपदेश का क्या मतलब था?

अतः यहाँ मानव के इच्छास्वातंत्र्य के विषय में गीता की कुलमिलाकर भूमिका से सुसंगत आशय देखना इष्ट है। पूर्व खण्ड में देखे अनुसार अर्जुन के मन में कौरवों के प्रति कोई ममता नहीं थी। उलटे वह उन्हें 'आततायी' (अतिदुष्ट, वधार्ह) कहता है। इसी लिये श्रीकृष्ण ने भी उनके विरुद्ध उस युद्ध को "धर्म्य" (न्याय के लिये आवश्यक) कहा। फिरभी यदि श्रीकृष्ण के आदेश के विरूद्ध अर्जुन वैयक्तिक पाप की भ्रामक 'अहंकारी' कल्पना से उस न्याय्य युद्ध का इन्कार करते रहता, तो भीतर से उसका क्षात्र स्वभाव, तथा दुष्ट कौरवों द्वारा द्रौपदीसहित सभी पांडवों को दिये घोर कष्ट के कारण आहत उसका व्यक्तित्व, उसे वह युद्ध लड़ने 'टोचते रहता'। गीता के शब्दों में यह 'मिथ्याचार' होता। श्लोक ३-६ में आया "मिथ्या" शब्द यहाँ भी आया होकर उसका आशय बाह्यतः इन्द्रियों का दमन, किन्तु मन में अंतर्विरोध, ऐसा है। इसके विपरीत, मन एवं बुद्धि के सहकार्य सहित उचित 'इन्द्रिय संयम' भिन्न है (२-६१, २-६८, ३-७)। इस प्रकार श्लोक १८-५९ में "प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति" का आशय प्रकृति तुझसे यह युद्ध जबरदस्ती से करवायगी ऐसा न होकर, तुझे यह युद्ध करने के लिए अंदर से उत्तेजित करती रहेगी ऐसा है। इस 'नियोक्ष्यति' के समान 'नियोजयसि' शब्द निम्न श्लोक में आया है- **"ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन। तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजससि केशव॥३-१।"** इसमें अर्जुन श्रीकृष्ण से पूछता है कि, आप मुझे इस भीषण युद्ध कर्म में क्यों 'नियोजयसि ?' इस क्रियापद में भी नि+युज् धातु है, जो 'नियोक्ष्यति' में है। गीतोपदेश में श्रीकृष्ण का उद्देश्य अर्जुन से वह युद्ध जबरदस्ती से करवाने का न होकर, उसे उस युद्ध के लिये प्रेरित करना था। तथा अर्जुन के 'नियोजयसि' शब्द का आशय भी आप यह युद्ध मुझ से जबरदस्ती क्यों करवा रहे हैं ऐसा न होकर, मुझे इस युद्ध के लिये क्यों 'प्रेरित कर रहे हैं' ऐसा है। इसी दृष्टि से अर्जुन तुरन्त श्लोक ३-२ में श्रीकृष्ण से कहता है कि, आप मेरी बुद्धि में मोह करने समान कह रहे हैं। अर्जुन के इस 'नियोजयसि' शब्द के समान ही श्रीकृष्ण के 'नियोक्ष्यति' का आशय लेना उचित होगा।

इसी संदर्भ में श्लोक १८-६० पर भी विचार करें। श्लोक ५९ में कहे अनुसार, यदि अर्जुन उस न्याय्य युद्ध को अहंकार-वश इन्कार करते रहता, तो भीतर उसका क्षात्रस्वभाव उसे उसी युद्ध के लिये लगातार उत्तेजित करता रहता। उस श्लोक में आये 'अहंकारात्' शब्द के समान श्लोक ६० में 'मोहात्' शब्द आया है। यदि वह युद्ध अर्जुन के लिये वस्तुतः पापकारक होता, और उस कारण अर्जुन वह 'कर्तुं' इच्छा न करता, तो उसके क्षात्रप्रकृति का उस निर्णय पर विरोधी प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु अर्जुन के लिये वह युद्ध वस्तुतः 'धर्म्य' (न्याय्य) था, और फिरभी यदि अर्जुन बुद्धि को ग्रस्त 'मोह' से उसे महत्पापरूप समझकर वह नहीं करना चाहता, तो उसकी स्वभाव प्रकृति इस

इन्कार के विरुद्ध उसे टोंचती रहती। इस अंतर्विरोधी परिस्थिति में ऐसे तीव्र मानसिक संघर्ष के परिणाम स्वरूप किसी क्षण उसके लिए उस युद्ध की ओर मुड़ना भी संभव था। और उसमें वह युद्ध उसके हाथों ठीक तरह लड़ा भी न जाता। किन्तु यह मात्र एक संभव था; वह पूर्णतया पूर्वनियोजित नहीं था। यदि अर्जुन का इस तरह युद्ध की ओर मुड़ना अवश्यंभावी होता, तो श्रीकृष्ण शुरू में अर्जुन की युद्धनिवृत्ति ग्रहीत धर उसके दुष्परिणाम उसे न बताते (२-३३, ३४, ३५, ३६)। अतः श्लोक ६० के चतुर्थ चरण का अन्वय 'अवशः अपि तत् करिष्यसि' ऐसा न होते 'अवशः तत् करिष्यसि अपि' ऐसा सुसंगत होगा।

इस प्रकार श्लोक १८-५९, ६० का अर्थ यह होता है। "यदि (मेरा कहना न मानकर) तू अहंकारवश 'न योत्स्ये'[३१] (मैं नहीं लड़ूंगा) ऐसा सोचता रहेगा, तो तेरा यह आग्रह मिथ्या (अवास्तविक) होगा; (क्योंकि) (तेरी क्षात्र) प्रकृति (स्वभाववृत्ति) तुझे (इस युद्ध के लिये) उत्तेजित करती रहेगी-५९। अर्जुन, तू जो (यह न्याय्य युद्ध) करने (वैयक्तिक भ्रामक पापकल्पना के कारण) मोहवश इन्कार करता रहेगा, वह अपने (क्षात्र) स्वभाव के अनुरूप कर्मप्रवृत्ति से बद्ध तू तेरी इच्छा न होते हुए भी (तेरे ही अंदर से टोंचे जाने के प्रभाव से) किसी तरह करने लगेगा, ऐसा भी संभव है-६०।"

"उद्धरेत् आत्मनात्मानं"

श्रीकृष्ण और कहते हैं–

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥१८-६१

"अर्जुन, ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में निवास करता है, तथा (मानो किसी घूमनेवाले) यंत्र पर रखे सब प्राणियों को अपनी माया से (हर एक के कर्मों के अनुसार) (संसार में) भ्रमण कराता है।" किन्तु इसका भी अर्थ यह नहीं कि, मानव को कुछ भी इच्छा स्वातंत्र्य न होकर, ईश्वर उससे जबरन सब कर्म करवाता है। यह ठीक है कि, अपना जन्म कहाँ एवं किस अवस्था में होगा, यह व्यक्ति के हाथ में नहीं होता। तथा बाद भी, जीवन में कैसी परिस्थिति प्राप्त होगी यह कई बार उसकी इच्छा पर निर्भर नहीं होता। परमेश्वर व्यक्ति को उसके पूर्वकर्मानुसार परिस्थिति में रखता है यह उक्त श्लोक का आशय है। किन्तु इस प्रकार प्राप्त परिस्थिति में अपना वर्तमान कर्म निर्धारित करने मानव स्वतंत्र होता है। डॉ० राधाकृष्णन् मार्मिक शब्दों में लिखते हैं– "The *Bhagavadgita* asks us to raise the self by the self. We can use the material with which we are endowed to promote our ideals. The cards in the game of life are given to us. We do not select them. They are traced to our past Karma, but we can call as we please, lead what suit we will, and as we play, we gain or lose. And there is freedom."(*The Hindu View of Life,* p.54).

इसी प्रकार का आशय इसके बाद आनेवाले श्लोक में भी है–

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥१८-६२

"अर्जुन, उसीको (परमेश्वर को) संपूर्ण निष्ठा से शरण जा; उसके कृपा-प्रसाद से तू परम शान्ति एवं (जन्ममरण से पूर्णतया मुक्त) शाश्वत स्थान (अवस्था) प्राप्त करेगा"। इसमें हर मानव ने स्वेच्छापूर्वक अपना कार्य कर्म करने की आवश्यकता नकारी नहीं होकर, वह कर्म करने में संपूर्ण ईश्वरार्पण वृत्ति तथा वैयक्तिक अनासक्ति एवं निरहंकार युक्त साम्यवृत्ति रखनी चाहिये, ऐसा आदेश है।

मानव को अपने जीवन में उसके पूर्वकालीन एवं वर्तमान कर्मों के अनुसार परिस्थिति प्राप्त होती है; किन्तु उसका सामना किस तरह करना, यह उसकी इच्छा पर निर्भर होता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥५-१४
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५

"ईश्वर न मानव से कर्म करवाता है, और न हि उसे कर्तृत्व की प्रेरणा उत्पन्न करता है; वह उन कर्मों का फल से संयोग होने में भी हस्तक्षेप नहीं करता, वह संयोग (कर्मों के सत्त्वरजतम) स्वभाव के अनुसार होता है[३२]-१४ सर्वव्यापी परमात्मा किसी भी प्राणी के पाप एवं पुण्य से संबद्ध नहीं होता है; किन्तु अज्ञान से ज्ञान ढक- जाने से मानव भ्रमित होकर उसपर अपने भलेबुरे का आरोप करते हैं[३३]-१५।"

ईश्वर मानव को कर्माचरण के लिये आवश्यक इन्द्रियाँ एवं शक्ति देता है। परंतु उसका उचित उपयोग करना स्वयं व्यक्ति पर निर्भर होता है।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥१०-४
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५

"बुद्धि, ज्ञान, मोह का अभाव (उचित विवेक), क्षमावृत्ति, सत्य में रुचि, इन्द्रियसंयम, शांतवृत्ति, सुखदुःखानुभव, अस्तित्व एवं अभाव की धारणा, तथा भय एवं अभय भी-४, अहिंसा, समदृष्टि, संतोष, तपप्रवृत्ति, दानशीलता, यशापयश (की धारणा), ये मानवों के विविध मनोव्यापार मुझसेही उत्पन्न होते हैं-५"। किन्तु इसका आशय यह नहीं कि, व्यक्ति कौन-सा ज्ञान प्राप्त करेगा, अथवा क्षमा, सत्य, अहिंसा, दान आदि काआचरण कब एवं कैसा करेगा, यह ईश्वर नियंत्रित करता है। वह हरएक ने स्वयं ठहराना है। श्रीकृष्ण यह भी कहते हैं–

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च . . . १५-१५

"मैं सभी के हृदय में निवास करता हूँ; तथा मुझसे उन्हें स्मरणशक्ति, ज्ञान प्राप्त करनेकी पात्रता एवं विस्मरणवृत्ति होती है।"[३४] किन्तु व्यक्तिद्वारा जीवन में इनका प्रत्यक्ष उपयोग ईश्वर नहीं करवाता है।

गीतोपदेश समाप्त करते हुए श्रीकृष्ण अर्जुन से स्पष्ट कहते हैं–

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥१८-६३

"यह अति पवित्र ज्ञान मैंने तुझे कथन किया है; इसपर पूर्ण विचार कर और जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर"। इसमें श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्माचरण के बारे में इच्छास्वातंत्र्य निःसंदिग्ध मान्य करते हैं; और वैसा ही इच्छास्वातंत्र्य समग्र मानवों के लिये मान्य कर श्रीकृष्ण यह उदात्त संदेश देते हैं–

उद्धरेदात्मनात्मानं . नात्मानमवसादयेत्
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥६-५
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६

"स्वयं अपना उद्धार करना चाहिये, अपना अधःपात नहीं करना चाहिये; क्योंकि व्यक्ति स्वयं ही अपना हितकर्ता एवं स्वयं ही अपना शत्रु होता है-५। जिसने स्वयं को जीता वह स्वयंही अपना हितकर्ता होता है; किन्तु जिसने स्वयं को नहीं जीता वह स्वयं से ही शत्रुसमान वैर करता है (अपना अधःपात करता है)–६"।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

श्री परमेश्वरार्पणमस्तु

— * * * —

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ गीता, ५-१९

---

१. गीता ४-३४.

२. "The Bhagavadgita – as a Philosophy of God-realisation" PP. 244-245.

३. २-६५

४. ६-२०

५. पूर्वकर्म के अनुसार व्यक्ति में ये प्रवृत्तियाँ आयी हो, तोभी इनपर विजय प्राप्त करनेका प्रयास वह कर सकता है (४-३६, ६-५, ९-३०)।

६. ऐसा दीखता है कि, 'ज्ञान' चेतन आत्मस्वरूप का, तथा 'विज्ञान' प्रकृति एवं उसके गुणों का।

७. इस प्रकार आशय लेनेसे इस चरण का श्लोक १८-६१ से विरोध नहीं आता।

८. देखिये १०-३४ एवं ११-३२

९. इस संदर्भ में पशुयोनि के उदाहरण हेतु कुछ भाष्यकार 'गजेन्द्रमोक्ष' कथा का उल्लेख करते हैं।

१०. धाता, मित्र, आदि अदिति के बारह पुत्र।

११. धर, ध्रुव आदि आठ।

१२. हर, त्र्यंबक, आदि ग्यारह।

१३. उनपचास दितिपुत्र।

१४. देखिये १४-२७

१५. महाभारत के वनपर्व में भी मार्कंडेय मुनि को स्वयं भगवान् कहते हैं, "अग्निरास्यं क्षितिः पादौ चन्द्रादित्यौ च लोचने। द्यौमूर्धा . . . ." (अध्याय १८९), 'अग्नि मेरा मुख होकर, मेरे चरणों के स्थान पर पृथ्वी है; चन्द्रसूर्य मेरे नयन, एवं स्वर्ग (आकाश की ऊपरी सीमा) मेरा मस्तक है।'

१६. मन, अनुमन्ता, आदि बारह।

१७. क्रतु, दक्ष आदि दस।

१८. श्लोक २-४, ५.

१९. देखिये, "ब्रह्मैवेदमृतं पुरस्तात् ब्रह्म पश्चात् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्च ऊर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्म एवं इदं विश्वम् ।।" (मुण्डक उपनिषद् २-२-११)। "स एव अधस्तात् स उपरिष्ठात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स एव इदं सर्वम् ।।" (छांदोग्य उपनिषद् ७-२५-१)।

२०. श्री. महादेव देसाई लिखते हैः "This *shloka* has been a perfect puzzle to all translators and commentators." (पूर्व उल्लिखित)

२१. मन नियंत्रित करने का मार्ग श्रीकृष्ण ने इसके पूर्व छठे अध्याय में भी बताया होकर, श्लोक ८-८ में उसका 'अभ्यासयोग' नाम से ही उल्लेख आया है।

२२. श्लोक १० के चतुर्थ चरण के समान मुण्डक उपनिषद् में यह वचन है, "यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।।" (३-२-८)।

२३. कठ उपनिषद, "सर्वे वेदा यत्पदमापनन्ति। तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति । तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ।।" १-२-१५।

२४. "सत्त्वे जीवरूपम्"– भाष्यकार नीलकंठ।

२५. वृक्ष, लता आदि।

२६. 'यदातमः' = यदा अतमः = जब अज्ञानरूप अंधकार नष्ट होता है; 'दिवा' = दिन; 'चासत्' = 'च असत्'।

२७. महाभारत के सभापर्व में भी भीष्म श्रीकृष्णवर्णन में कहते हैं, "गायत्री छन्दसां मुखम्", अध्याय ३८।

२८. महाभारत में मासगणना मार्गशीर्ष से आरंभ होती है (अनुशासन पर्व, अध्याय १०६, १०९); तथा ऋतुचक्र का आरंभ (मार्गशीर्ष में प्रारंभ होनेवाले) शिशिर से बताया है (आश्वमेधिक पर्व, अध्याय ४४)। किन्तु सृष्टि सौंदर्य की दृष्टि से ऋतुओं में (चैत्र मास में प्रारंभ होनेवाले) वसंत को प्राधान्य दिया गया । कालांतर से मासगणना भी चैत्र से की जाने लगी।

२९. यहाँ शंकराचार्य 'गुणसंख्याने' का अर्थ कपिल सांख्यदर्शन में ऐसा करते हैं, जो श्लोक १८-१३ से सुसंगत है। किन्तु, कुछ भाष्यकार कहते हैं कि, यद्यपि प्रकृति के गुणों का विवरण सांख्यदर्शन में है, कुछ अन्य दर्शन भी वह देते है; और इसलिये वे 'गुण संख्याने' का आशय '(प्रकृति) के गुणों के विवेचन में' इतनाही लेते हैं।

३०. डॉ० राधाकृष्णन् इस श्लोक की प्रथम पंक्ति का अनुवाद "Abandoning all duties come to me alone for shelter" ऐसा ही देते है; किन्तु अपनी स्पष्टीकरण टिप्पणी में लिखते हैं कि, अर्जुन इस युद्ध से पितर, जाति, गुरुजन संबंधी जिन पारंपरिक नीतिनियम एवं रूढियों के उल्लंघन से चिंतित हुआ था, उनको चिंता न करने का श्रीकृष्ण ने उसे उपदेश दिया है।

३१. श्रीकृष्ण यहाँ युद्ध से इन्कार विषयक अर्जुन के प्रारंभिक शब्द (२-९) शब्दशः उद्धृत करते हैं।

३२. श्लोक १४-१४ से १८

३३. किन्तु जो श्रेयप्राप्ति हेतु उन्हें संभव सब प्रयास करते हैं, उनपर ईश्वर कृपा कर बुद्धियोग देता है, तथा उनके हृदय से अज्ञान समूल नष्ट करता है (१०-१०, ११)

३४. कुछ भाष्यकार यहाँ 'अपोहनं' का अर्थ 'विस्मरण' के बजाय 'पूर्ण ज्ञानावस्था' ऐसा करते हैं। आचार्य रामानुज एवं वल्लभ दोनों अर्थ देते हैं। जाते-जाते यहाँ उल्लेखनीय है कि, सभी विस्मरण अनिष्ट नहीं होता तथा सभी स्मृति इष्ट नहीं होती है।

श्री

गीता श्लोक तालिका

मोटे छपे अंकों के पृष्ठों में मूल श्लोक का उद्धरण एवं अनुवाद होकर, शेष पृष्ठों में श्लोक का विविध संदर्भों में उल्लेख है।

अध्याय– १

१:– **2**
२:– **2-3**
३:– **3**
४:– 3, **60**
५:– 3, **60**
६:– 3, **60**
७:– 3, **60**
८:– 3, **60**
९:– **3**
१०:– **3**
११:– **3**
१२:– **3**
१३:– **3**
१४:– **4**
१५:– **4**
१६:– **4**
१७:– **4**
१८:– **4**
१९:– **4**
२०:– 4, **49**, 62
२१:– 2, 4, **49**
२२:– 4, **49**
२३:– 4, **49**, 59
२४:– **49**, 62
२५:– 2, **49**, 59, 60
२६:– 49, **60**
२७:– **5**, 49, **60**
२८:– 2, **5**, 14, 14, 14, 49, 51
२९:– **5**, 14, 57, 62
३०:– **5**, 14, 57, 62, 62
३१:– **5**, 14, 15, 16, 42, 48
३२:– **5**, 15, 47, 53
३३:– **5-6**, 34, **47-48**
३४:– **6**, 15-16, 28
३५:– **6**, 15, 15-16, 18, 28, 34
३६:– **6**, 26, 34, 40, 49, 50, 62, 214
३७:– **6**, 15, 35, 49, 50
३८:– **6**, 40, 50
३९:– **6**, 49, 214
४०:– **6-7**, 214
४१:– **6-7**
४२:– **6-7**
४३:– **7**, 214

अध्याय– २

अध्याय– ३

अध्याय– ७

अध्याय– ८

अध्याय– ९

अध्याय– १०

अध्याय- ११

अध्याय- १२

अध्याय- १३

अध्याय– १४

अध्याय– १५

अध्याय– १६

अध्याय– १७

अध्याय– १८

ग्रंथ-सूची

आनंदगिरि : 'गीताभाष्य': 12, 105-106, 113

'उपनिषद्' 'ईश,' 91, 162, 162, 162, 207। 'कठ,' 44, 44, 44, 91, 113-114। 164, 165, 207, 207, 220। 'छांदोग्य', 91, 172, 178, 220। 'तैत्तिरीय', 114।'प्रश्न' 172। 'बृहदारण्यक', 12, 51, 114, 165, 172। 'मुंडक', 25, 39, 91, 113, 113-114, 133, 163, 163, 165, 172, 207, 220, 220। 'श्वेताश्वतर,' 39, 91, 92, 92, 92, 92, 113,-114, 161, 163, 163, 207।

'कुछ भाष्यकार / लेखक : 113, 113, 114, 114, 114, 139, 161, 164, 165, 186, 194, 211, 220, 221, 221.

कालिदास : 'रघुवंश,' 74 ','शाकुंतल', 95.

'गणेशगीता', 162

गाँधी : 'अनासक्तियोग', 90,102 (तथा देखिये Desai Mahadev)

'गीताप्रशस्ती', 75

'गोयंदका श्रीजयदयाल : 'तत्त्वविवेचनी हिन्दी टीका,' 19, 27, 37, 56, 182, 215

चार्वक, 69

'तिलक (टिळक) : 'श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य', 71, 17, 19, 19, 37, 48, 52, 54, 63, 65, 66, 99-101, 109, 122, 124-125, 133, 134, 138, 152, 165, 166, 167, 175, 199, 206-207, 213

धनपति : 'गीताभाष्य', 58

नीलकंठ : 'गीताभाष्य', 55, 113, 220.

'पातंजल योगसूत्राणि', 163, 163, 163, 173.

बादरायणाचार्य : 'वेदांतसूत्राणि (ब्रह्मसूत्राणि)' 206-208

भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद : 'भगवद्गीता यथारूप', 55, 182, 213

'भागवत पुराण', 44

भर्तृहरि : 'नीतिशतक', 42-43

मधुसूदन : 'गीताभाष्य', 12, 15, 16, 18, 19, 48, 55, 124, 162.

मध्वाचार्य : 'गीताभाष्य', 55, 91.

'मनुस्मृति' 40, 114, 114.

'महाभारत': 113, 172, 180, 182, 186 । अनुशासन पर्व, 221। आदिपर्व 118, 119।

आश्वमेधिक पर्व, 180, 221। उद्योग पर्व, 48, 197 । कर्ण पर्व, 2
द्रोणपर्व, 2, 119 । भीष्मपर्व 2, 119 । वनपर्व, 44, 92, 114, 120, 120, 162, 183-184, 185, 220 । विराटपर्व, 35, 60, 197 । शल्यपर्व, 2, 197 । शांति पर्व, 44, 91, 92, 113, 115, 115, 119, 119, 159, 162, 163, 180-181, 185 । सभापर्व, 119, 221.

'महाभारत के गूढ रहस्य' : 2, 185.

रामानुजाचार्य : 'गीताभाष्य': 43, 54, 59, 91, 92, 114, 138, 165, 175, 182, 201, 206, 207, 212, 221.

वल्लभाचार्य : 'गीताभाष्य': 113, 166, 183, 184, 221.

विनोबा : 'गीताप्रवचन': 13, 19, 45-46 । 'स्थित प्रत्यदर्शन', 29-30, 46.

वेंकटनाथ : 'गीताभाष्य': 55

वेद : 28, 107-108, 206, 207 । अथर्ववेद, 39, 114 । 'ऋग्वेद,' 23, 39, 107, 114, 172, 178 । यजुर्वेद, 23, 107, 114 । सामवेद 29, 84, 107, 114, 208 ।

शंकराचार्य : 'गीताभाष्य' : 11, 12, 27, 29, 30, 48, 53, 55, 63, 91, 104, 105, 112-113, 113, 124, 131, 132, 133, 138, 138, 139, 161, 165, 166, 182, 206, 211, 213, 221.

'शारदा' : 95-96, 104-106.

'सांख्यदर्शन' : 11-16, 85, 173, 207, 222.

सातवळेकर श्री० दा० : 'पुरुषार्थबोधिनी भगवद्गीता': 27, 183.

'सुलभ विश्वकोश' : सम्पादक दाते, कर्वे: 10

'हिंदी शब्दसागर': 1.

ज्ञानेश्वर : 'ज्ञानेश्वरी', (डॉ० मोहन बांडे का हिंदी पद्यानुवाद),: 37, 55.

Aristotle : 64.

Aurobindo : "Essays on the Gita" : 12-13, 19, 51, 63, 201; "The Gita", 183.

Chidbhavanada Swami : "The Bhagavadgita", 213.

Desai, Mahadeo : "The Gita according to Gandhi": 10, 18, 19, 103, 213, 215, 220.

Epicurus : 69.

Hugo, Victor : "Les Miserables", 61-62.

Jacobi : 74.

Kagava, "Love the Law of Life",: 73, 74.

Kant, "Fundamental Principles of the Metaphysics of Ethics": 70-74, 74.

Michael and Taylor, "The Far East in the modern World": 123.

Mill, J.S., "Utilitarianism": 67, 69-70, 73, 74, 161.

Plato, 122, 123.

Radhakrishnan, s. : "The Bhagavadgita": 13, 18, 19, 51, 116, 122, 183, 221; "Indian Philosophy", 102; "Hindu View of Life" 217.

Ranade, R.D : "The Bhagavadgita as a Philosophy of God-realisation": 165, 219.

Rashdall : "The Theory of Good and Evil": 74, 74.

Russell : Bertrand, "History of Western Philosophy": 122.

Shakespeare : "Macbeth": 46-47.

Sidgwick, H : "The Methods of Ethics": 65-66, 67, 74.

Socrates : 113.

लेखक की कुछ अन्य रचना ।

THE metaphysics of berkeley

"...in many ways an achievement of unusual merit...The most valuable parts of his nicely balanced criticism are... outstanding philosophical merits of Mr. kaveeshwar's work"--LONDON TIMES (Literary Supplement).

"A acholarly study of Berkeley's metaphysics. The exposition is clear, the treatment sympathetic, the criticisms acute"--C.E.M.Joad, Btitain.

"Your notable contribution to the history of Berkeley's philosophy"-- Dr.G.A. Johnston, Geneva.

"Admirable exposition...I respect the achievement"--Reviewer in "PHILOSOPHY", London.

"It is a pity that our scholars do not bring out such books in abundance"-- **PRABUDDHA BHARATA OR AWAKENED INDIA"**

THE LAW OF KARMA

Lectures delivered at the University of Pune; published by that University.

ETHICS OF THE GITA

Foreword by Dr. S. Radhakrishnan.

नीति आणि कलोपासना (द्वितीय आवृत्ती)

साहित्य, संगीत, चित्र, शिल्प, नाटय आदि कलाओं का नैतिकता से आवश्यक संबंध अनिपादन करनेवाली यह पुस्तक मुंबई, पुणें, बडोदा, कर्नाटक, नागपुर, जबलपुर आदि विश्वविद्यालयों में उच्च अध्ययनार्थ पाठयपुस्तक रूप में नियुक्त; दो आध्यापकों ने इस पुस्तक की चर्चा करने वाली पुस्तक लिखी है ।

इन्दु से हिन्दू

'हिन्दुस्थान' का मूल शब्द 'हिन्दू' यह विदेशी ईरानीयों ने ('सिंधु' का वैसा उच्चारकर) भारतीयों को दिया नाम है। इस प्रचलित अपमानास्पद कल्पना का खंडन कर, अनेक भारतीय, चीनी ईरानी, ग्रीक, अंग्रेज विचारकों का चिकित्सक परामर्श लेते हुए, इस पुस्तक में प्रतिपादन किया है कि, भारतीयों का यह राष्ट्रीय संबोधन 'हिन्दू' भारत में ही 'इन्दु' (= चन्द्र = सर्वश्रेष्ठ) का प्राकृत उच्चारण होकर, स्वयं भारतीयों ने स्वाभिमानपूर्वक धारण किया है ।

महाभारत के गूढ रहस्य

CHRONOLOGICAL SECRETS OF THE MAHABHARATA WAR

'विश्वसंस्कृति में एक महत्त्वपूर्ण योगदान ......इतिहास की बहुत बड़ी जटिल गुत्थी सुलझाने का स्तुत्य प्रयास।' विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (विशेष प्रस्ताव)

'वस्तुतः आप जानते है महाभारत को' –**प्रधानमंत्री अखिल भारत पंडित महापरिषद, वाराणसी।**

'महाभारत की रचना के बाद ऐसा महानकार्य कोई भी व्यक्ति या संस्था से संभव नहीं हुआ। महाभारत संबंधी कूटरहस्य भेदन के लिए परमात्मा ने आपको चुना'– **पं० मुरलीधर हरिहरनो, अध्यक्ष, प्राच्यविद्या शोधमंडल, रायपुर, अध्यक्ष भारतीय ज्योतिष परिषद, राजनंदगाव।**

'आपके वैदुष्यपूर्ण व्याख्यानों से श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ (दिल्ली) गौरवान्वित हुआ है । महाभारत युद्ध संबंधी कई प्रचलित मान्यताओं के संबंध में गवेषणा निरत विद्वानों को पुनः विचार करने की प्रेरणा दी है ।.....अब तक की उलझी हुई गुत्थियाँ सुलझ जाएंगी । पाश्चात्य विद्वानों की भी आँखें खुलेंगी । महाभारत की असंलग्न श्लोकों का तात्पर्य भी स्पष्ट होगा'– **महामहोपाध्याय, पं० परमेश्वरानंद शास्त्री, विद्याभास्कर, दिल्ली।**

'Most revealing and important for future research'-**Dr. Stella Kramrish, Professor of Indian culture, New York, U.S.A.**

'Very original'-**Editorial Note in the book'Age of Bharata War'.**

'This one man probe...The discovery which is his own...Events which drove many of our learned scholars into a blind lane, and which baffled all attempts so far have been explained by him and linked into a cogent story'

-NAGPUR TIMES.

'G.W.Kaveeshwar has propounded the theory that though the Bharata war was actually fought for 18 days, its duration was of 35 days, every alternate day being the day of rest...interpreting all the difficult verses in this regard he has very convincingly explained the whole matter'–

'The Study of Indian History and Culture', Vol.I,pp. 302-08.

'व्यासो वेत्ति शुको वेत्ति चायं कवीश्वरः । रहस्यं व्यासकूरानां तुरीयो वेत्ति वा न वा'

–पंडित उपेन्द्रनाथ राय, शास्त्री, मेटेलो (जलपैगुडी) पश्चिम बंगाल

'महान शोधकार्य .....आप जैसे विद्वानों से विक्रम विश्वविद्यालय विशेषतः और भारतवर्ष सामान्यतः गौरवान्वित हो रहा है।'

–मूर्धन्य हिन्दी कवि डॉ० शिवमंगलसिंह 'सुमन' पद्मभूषण, उज्जैन।

'गीता-तत्व मीमांसा' के अंग्रेजी संस्करण 'The Ethics of the Gita' पर डॉ० राधाकृष्णन का प्राक्कथन

FOREWORD

By Dr. S. Radhakrishnan

Professor G.W. Kaveeshwar of Holkar College, Indore, has written an important book on *THE ETHICS OF THE GITA*. He has wide learning and he has used it to demonstrate his thesis that Arjuna was not inclined to take to *saṁnyāsa* but was tempted to abandon his duty. In the first chapter of the Gītā Arjuna says, 'I do not long for victory, Kṛṣṇa, nor kingdom for us, O Kṛṣṇa, or enjoyment or even life'. Madhusudana Saraswati commenting on this verse indicates Arjuna's desire to renounce the world, *saṁnyāsa-sādhona-sūcanam*. It may not mean actually a desire to become a *saṁnyāsin* but only a disregard for worldly possessions, *aihikaphala-virāga*. There is no doubt that the Gītā teaches the performance of one's duty in the world. It also enjoins that this duty should be done in a spirit of detachment and dispassion. *Karmasaṁnyāsa* is not so much the abandonment of action, but it is the performance of action in the spirit of *saṁnyāsa* or renunciation. *Saṁnyāsa* is a quality of mind. It is freedom from hatred and desire. It is the spirit of *vairāgya*.

There are occasions when Kṛṣṇa asks us to prepare for the work of the world by retiring from the world. He advises Uddhava in the 11th skandha or the *Bhāgavata* 'A spiritual aspirant should not only give up the company of women but even the company of householders but sit in solitude, free from danger and meditate on me :

strīṇām tat-saṅginām saṅgam tyaktvā dūrata āimavān
kṣemaṁ vivikia āsīnaṁ cintayen mām aiandritaḥ.

The spirit of the Gītā is the performance of one's duty of *karma* in the spirit of *saṁnyāsa* or detachment and renunciation. If we have the right frame of mind, we can live in the world and work for the welfare of the world *lokasaṅgraha. Nivṛttarāgasya gṛham tapovanam:* For the man of detachment his home is the hermitage.

Even the attainment of wisdom is not inconsistent with work in the world–

vivekī sarvadā muktaḥ kurvato nāsti kariṭā
ālepavādam āśriiya śrīkṛṣṇa-jankau yathā.

The purpose of the book is to show that we are not asked to give up work in the world. We are asked to participate in the work of the world with our minds free from egoism, desire, fear etc., and Professor Kaveeshwar has brought out this idea with learning and ability. In this connection he has also drawn a distinction between the *niṣkāma* and *kārya* aspects of the good act. I hope that this book will be read widely.

गीता : तत्त्व-मीमांसा
ग० वा० कवीश्वर